हिन्दी वालो, सावधान !

रविशंकर शुक्ल

प्रकाशक : काशी नागरी प्रचारणी सभा
मुद्रक : साहित्य मन्दिर प्रेस, लिमिटेड, लखनऊ
प्रथम बार : संवत् २००४ वि० : मूल्य ३॥)

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के शीर्षक की प्रेरणा मुझे श्री संपूर्णानन्द जी की पुस्तक 'ब्राह्मण, सावधान' से मिली। पुस्तक का विषय, जैसा कि इसके शीर्षक से प्रकट है, हिन्दी प्रेमियों को हिन्दी पर आये हुए और आने वाले ख़तरे से सावधान करना है। इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी? मेरा अपना ख़्याल है कि हिन्दी-प्रेमी हिन्दी पर आने वाले ख़तरे से या तो पूर्णतया परिचित नहीं हैं या उन्होंने उसके भयंकर परिणाम की भली भाँति कल्पना नहीं की है। हिन्दी-प्रेमी हिन्दी की संकटपूर्ण स्थिति का कुछ कुछ अनुभव तो करते हैं, परन्तु वे कुछ तन्द्रा वश, कुछ मोह वश और कुछ देश के आजकल के राजनीतिक वातावरण के कारण इस स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर गहराई के साथ विचार करने में असमर्थ हैं। हिन्दी के संकट का पूर्णतया न पहचान सकने का सबसे बड़ा कारण यह है कि यह संकट उन्हीं राजनीतिक नेताओं की ओर से आया है जिन्हें हम काफी समय से अत्यन्त श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते आये हैं। इस संकट को उत्पन्न करने वालों में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनका अब तक हिन्दी की उन्नति, प्रचार और प्रसार में बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन सब कारणों से यकायक यह विश्वास करने को हर किसी का जी नहीं चाहता कि ये व्यक्ति हिन्दी पर इतना भयंकर और घातक प्रहार कर सकते हैं। संभव है, कुछ हद तक निश्चित है, कि इन व्यक्तियों में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो स्वयम् नहीं समझ पा रहे हैं कि उनकी सरगर्मियों का फल क्या होगा। आजकल के राजनीतिक वातावरण ने हमारे चारों ओर एक ऐसा जाल सा बुन दिया है कि क्या नेता और क्या साधारण व्यक्ति, सबको प्रत्येक वस्तु धुँधली सी दीख पड़ती है। श्रीयुत मुंशी के शब्दों में, आजकल प्रत्येक वस्तु राजनीतिक

भँवरों में पड़ कर गँदली हो गई है। फलस्वरूप हिन्दी-प्रेमी हिन्दी प आने वाले संकट को भी स्पष्टतया नहीं देख पा रहे हैं। राजनीति के मैदान में जो धूल उड़ रही है उसमें इस संकट का आकार-प्रकार छिप सा गया है। पर वह संकट तो विद्यमान है ही। युद्ध की गर्मी में राजनीतिज्ञों कोर इसकी पर्वाह नहीं रह गई है कि उनकी चालों का देश के दूर भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा। हिन्दी के दुर्भाग्य से हिन्दी के अधिकांश प्रेमी और समर्थक भी राजनीतिज्ञ ही हैं, और इस कारण वे भी हिन्दी-संसार का वैसा नेतृत्व नहीं कर पा रहे हैं जैसे नेतृत्व की उसे इस समय आवश्यकता है। वे स्वयम् राजनीति के शिकञ्जे में जकड़े हुये हैं। उनके हाथ पैर राजनीति के उलझट्टे में उलझे हुये हैं और उनके मुँह पर राजनीति का ताला पड़ा हुआ है। शायद उनके दिमाग़ में भी राजनीति का घटाटोप छाया हुआ है। उनके पास हिन्दी को देने के लिये समय भी नहीं। उनसे अधिक आशा करना व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में राजनीति के कोलाहल से दूर बैठे हुये एक हिन्दी-प्रेमी का जो कर्त्तव्य हो जाता है, उसी को सामने रखकर मैंने इस पुस्तक को लिखा है। मेरा दृष्टिकोण शुद्ध हिन्दी के हित का दृष्टिकोण है। मुझे राजनीति से कुछ लेना देना नहीं, राजनीतिक नेताओं में मेरी अन्ध-भक्ति नहीं। राजनीतिक नेता व्यक्तिगत रूप से कितनी ही ऊँची श्रेणी के व्यक्ति क्यों न हों, मैं उन्हें भाषा के विषय में बोलने का अधिकारी मानने को तैयार नहीं। भाषा के विषय में मैं किसी राजनीतिक संस्था, भले ही वह वयस्क मताधिकार के आधार पर बनी हो, का फैसला मानने को भी तैयार नहीं। इतिहास साक्षी है कि किसी देश का उद्धार केवल राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं हुआ है। विशेष रूप से इस देश में देश का साहित्यिक और सांस्कृतिक नेतृत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में कभी नहीं रहा। भाषा और साहित्य की परंपरायें हमें व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी से मिली हैं, अशो,

समुद्रगुप्त, अकबर और बाजीराव से नहीं। आज गांधीजी हिन्दी के भाग्य का निर्णय नहीं कर सकते। आज कांग्रेस नहीं कह सकती कि इस लिपि में लिखो और ऐसी भाषा में बोलो। झूँठी एकता के नाम पर देश की प्राचीन भाषा और संस्कृति को, जिसे हमने हज़ारों वर्ष से सुरक्षित रक्खा है, हम छोड़ नहीं सकते। इस समय राजनीतिज्ञों की आवाज़ के सामने साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक नेताओं की आवाज़ धीमी पड़ गई है, यह बात दूसरी है। संभव है मेरी आवाज़ राजनीति के कोलाहल में हिन्दी-प्रेमियों का न सुनाई पड़े, परन्तु इस कारण मैं हिन्दी के एक सेवक के नाते अपने पवित्र कर्त्तव्य से च्युत नहीं हो सकता। मैं तो इस आशा से प्रेरणा पाता हूँ कि शीघ्र ही राजनीति का घटाटोप हटेगा और राजनीतिज्ञों का उससे अधिक महत्त्व न रह जायगा जितना समाज ने इस प्राचीन देश के हज़ारों वर्ष पुराने इतिहास में उन्हें देना उचित समझा है।

पुस्तक स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में हिन्दी और हिन्दी वालों को अपनी कमज़ोरियों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। दूसरों की कमज़ोरियाँ देखने की अपेक्षा अपनी कमज़ोरियाँ देखना सदैव एक अधिक कठिन कार्य रहा है। परन्तु सफलता प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम अपनी कमज़ोरियों को दूर करना अत्यावश्यक है। सच तो यह है कि जिस दिन से मनुष्य को अपनी कमज़ोरियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं और जिस दिन से वह अपनी कमज़ोरियों को दूर करने की चेष्टा करता है, उसी दिन से वह सफलता की ओर अग्रसर होने लगता है। हिन्दी की अपनी कमज़ोरियों को दूर किये बिना सफलता मिल नहीं सकती। इसलिये मैं पहले भाग को अधिक महत्त्व देता हूँ।

मेरा संस्कृत का ज्ञान नहीं के बराबर है, और यद्यपि मैं थोड़ी बहुत उर्दू जानता हूँ, मुझे अरबी और फारसी का बिलकुल ज्ञान नहीं है। इसलिये असम्भव है पहले भाग में मैंने जिन शब्दों को उदाहरण-स्वरूप पेश किया है,

उनमें से कुछ के मूल स्रोतों के विषय में मुझसे भूल हो गई हो। आशा है विज्ञ पाठक इन भूलों को क्षमा करेंगे। मैंने कोषों से शब्दों के उदाहरण ढूँढ़ने की बिलकुल चेष्टा नहीं की है। जो शब्द नित्य सुनने और पढ़ने में आते हैं, उन्हीं को उदाहरण-स्वरूप पेश कर दिया है। एक बात और। हिन्दी की शुद्ध और स्टैण्डर्ड शैली के विषय में मैंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनके अनुसार अपनी भाषा सुधारने का मैंने बिलकुल प्रयत्न नहीं किया है। पाठक मेरी भाषा को इन सिद्धान्तों की कसौटी पर न कसें। मैंने अपनी स्वाभाविक शैली में ही लिखा है, जिससे पाठकों को आज कल की औसत दर्जे की हिन्दी अर्थात् आजकल के द्वितीय और तृतीय श्रेणी के हिन्दी लेखकों की हिन्दी, जिसमें सुधार की आवश्यकता मैंने बताई है, का नमूना ढूँढ़ने के लिये पुस्तक के बाहर न जाना पड़े। मैंने शुद्ध हिन्दी के विषय में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उनके विपरीत बातें पाठकों को पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जायँगी। उनसे पाठकों को पता चलेगा कि हिन्दी की बीमारी की जड़ कितनी गहरी है और उसे उखाड़ कर फेंकने के लिये कितनी शक्ति और प्रयास की आवश्यकता है। प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार शुद्ध और अच्छी हिन्दी का आदर्श तो चोटी के लेखक और साहित्यिक ही उपस्थित कर सकते हैं। मैं उन पर चल कर केवल अपनी शैली को अस्वाभाविक और अपने को उपहासास्पद बनाता। इन सिद्धांतों का मेरी शैली पर अनजाने में जो प्रभाव पड़ गया हो, उसकी बात दूसरी है।

पुस्तक के दूसरे भाग में हिन्दुस्तानी की बला का निरूपण किया गया है। उसके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ मैंने 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों के तर्कों का उत्तर देने का अथवा राष्ट्र-भाषा की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न नहीं किया है। यहाँ मैंने केवल यह बतलाने की चेष्टा की है कि 'हिन्दुस्तानी' से हिन्दी को क्या ख़तरा है

और उसका निवारण किस प्रकार करना चाहिये। जो पाठक राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी- वाद पर मेरे विचार जानना चाहें, उनसे निवेदन है कि वे मेरी पुस्तकें 'राष्ट्र भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन' तथा 'मौलाना गांधी ?' * (जो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के प्रधान मंत्री श्री श्रीमन्नारायण के 'मौलाना गांधी' शीर्षक लेख के उत्तर में लिखी गई है) पढ़ लें।

परिशिष्ट में कुछ ऐसी सामग्री एकत्र की गई है जिसका पुस्तक के विषय से सम्बन्ध है, अथवा जिससे विषय के प्रतिपादन में सहायता मिलती है। परिशिष्टों का परिचय यथास्थान दे दिया गया है। परिशिष्ट १५ पं० रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तिका 'हिन्दुस्तानी का उद्‌गम' का मुख्यांश है। इसे यहाँ पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द जैसे युक्त-प्रान्त और बिहार के हिन्दुस्तानी वालों के लाभार्थ दिया गया है जो उर्दू को ही वास्तविक हिन्दुस्तानी समझते हैं, उर्दू को हिन्दी से प्राचीन, हिन्दुओं और मुसलमानों की 'मुश्तरका ज़बान' और न जाने क्या क्या समझते हैं, और जिन्होंने बचपन में मौलवी से उर्दू सीखने के बाद शायद कभी उर्दू के इतिहास पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा और जो शायद आज भी उससे अनभिज्ञ हैं। आशा है इसमें उन राजनीतिक नेताओं को भी विचार करने की सामग्री मिलेगी जिनका 'हिन्दुस्तानी'-प्रेम राजनीति पर निर्भर है और जिन्होंने अभी तक 'हिन्दुस्तानी' को किसी दूसरी दृष्टि से देखना, जाँचना-पड़तालना आवश्यक नहीं समझा है। हमें विश्वास है, इससे गांधी जी, श्री राजगोपालाचारी और श्रीयुत् बी. जी. खेर जैसे अहिन्दियों को भी लाभ होगा जिन्हें हिन्दी-उर्दू सम्बन्धी वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं और जिनकी बहक का कारण बहुत कुछ यही है। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के

*** दोनों पुस्तकें गंगा पुस्तकमाला, लाटूश रोड, लखनऊ से मिल सकती हैं।**

तिकोने झगड़े में जिन्हें सत्य की चिन्ता हो और जो वास्तविकता का अधिक विस्तार से जानना चाहते हों, उनसे निवेदन है कि वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित श्री चन्द्रबली पाँडे की खोजपूर्ण पुस्तकें 'उर्दू का उद्गम', 'उर्दू का रहस्य', 'भाषा का प्रश्न' 'कचहरी की भाषा और लिपि', 'मुग़ल बादशाहों की हिन्दी', 'बिहार में हिन्दुस्तानी', आदि और सबके अन्त में विद्यामंदिर-प्रकाशन, मुरार (ग्वालियर) द्वारा प्रकाशित उनकी नवीन कृति 'नागरी का अभिशाप' अवश्य पढ़ें। हमें विश्वास है, इन पुस्तकों से उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' के ईमानदार समर्थकों की आँखें खुल जायँगी।

यह पुस्तक गत वर्ष सितम्बर में पूर्ण हो गई थी, परन्तु काग़ज़, आदि की कठिनता के कारण अब तक न छप सकी। इस बीच में देश में ऐसी अनेक घटनायें घटी हैं जिनका भाषा के प्रश्न पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। कुछ और बातें ऐसी हुई हैं जिनसे भाषा की समस्या पर तीव्र प्रकाश पड़ता है। परन्तु इस कारण मूल पुस्तक में कोई परिवर्त्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। मूल पुस्तक में जो दो-एक बातें ऐसी आई हैं जो अब तक सुलझ चुकी हैं, पुस्तक में उनकी चर्चा इतिहास का काम देगी, और भविष्य के लिये पथ-प्रदर्शन करेगी। गत वर्ष सितम्बर से अब तक जो नई बातें हुई हैं उनका समावेश परिशिष्ट १७ और उत्तर-परिशिष्ट १, २ और ३ में कर दिया गया है, और मूल पुस्तक से उनका सम्बन्ध पुस्तक में यथास्थान पाद-टिप्पणी देकर जोड़ दिया गया है। कहना न होगा, इस बीच की सबसे बड़ी घटना भारत का विभाजन है। परिशिष्ट १७ तथा उत्तर-परिशिष्ट १, २ और ३ पर इसकी छाप प्रत्यक्ष है। इसका राष्ट्र-भाषा की समस्या पर जो गहरा और एक अर्थ में निर्णयात्मक प्रभाव पड़ता है उसका उत्तर-परिशिष्ट ३ में विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

ऐसी धारणा थी कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न भारतीय विधान-परिषद के

१४ जुलाई, १६४७ से आरंभ होने वाले अधिवेशन में तय हो जायगा। पुस्तक की छपाई जुलाई में ही आरंभ हुई थी, अतः १४ जुलाई तक पूरी पुस्तक का छपना संभव न था। मैंने सोचा कि यदि राष्ट्र-भाषा के प्रश्न का अन्तिम निर्णय होने से पूर्व विधान-परिषद के सदस्यों के पास पूरी पुस्तक न सही, पुस्तक की ऐसी सामग्री ही पहुँच सके जिसका भारत के विभाजन से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति से विशेष सम्बन्ध है, तो अच्छा होगा। इस उद्देश्य से उत्तर-परिशिष्ट १, २ और ३ को पहले छपा लिया गया और यह सामग्री पुस्तकाकार विधान-परिषद के सदस्यों के पास भेज दी गई। पुस्तक में इसका नामकरण 'उत्तर-परिशिष्ट' होने और उसमें पृष्ठ-संख्या फिर से आरंभ होने का यही कारण है।

अब स्थिति यह है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न विधान-परिषद के आगामी अधिवेशन में तय होगा। हिन्दी के भाग्याकाश में आशा की जो एक किरण दिखाई देती है वह यह है कि विधान-परिषद के कांग्रेसी सदस्यों ने बहुमत से हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के पद पर प्रतिष्ठित करने का निर्णय किया है। परन्तु कांग्रेसी नेतागण अब भी विरोध कर रहे हैं। हिन्दुस्तानी की बला आसानी से नहीं टलेगी। हिन्दी वालों को अपनी समस्त शक्ति से ज़ोर लगाना होगा। राष्ट्र-भाषा के पद और हिन्दी प्रांतों में राज-भाषा के पद पर हिन्दी की प्रतिष्ठा होने के बाद हमें जिस बात पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा वह है शिक्षा के माध्यम की समस्या जिस पर परिशिष्ट १७ में विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में हिन्दी के कुछ समर्थकों तक में यह भ्रम फैला हुआ है कि हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को भी शिक्षा का माध्यम होना चाहिये। अभी हाल में इलाहाबाद में हुये प्रगतिशील हिन्दी लेखक सम्मेलन में इस विषय पर घोर वाद-विवाद होना और और उसका किसी निर्णय पर न पहुँचना इसका उदाहरण है। परन्तु सत्य यह है कि यदि हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम अकेली और केवल हिन्दी

न होगी, तो हिन्दी प्रान्तों में भाषा की समस्या तो ज्यों की त्यों रहेगी ही, राष्ट्र-भाषा के पद और हिन्दी प्रान्तों में राज-भाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का निर्णय भी बहुत हद तक निरर्थक और अवास्तविक सिद्ध होगा। दूसरी बात जिस पर ध्यान देना होगा यह है कि रेडियो में 'हिन्दुस्तानी' का पूर्ण बहिष्कार करके हिन्दी की उचित प्रतिष्ठा की जाय और अन्य सब सरकारी विभागों में, हिन्दी प्रान्तों में और केन्द्र में, केवल लिपि ही देव-नागरी न हो वरन् भाषा भी यथार्थ में हिन्दी हो, और इस हेतु शासन सम्बन्धी और अदालती पारिभाषिक शब्दों का एक स्टैंडर्ड हिन्दी कोष बनाया जाय।

यदि इस पुस्तक से हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी पर आये हुये 'हिन्दुस्तानी' रूपी संकट को पहचानने में सहायता मिली और उन्होंने समय रहते सावधान हो कर उसका सामना करने के लिये उचित क़दम उठाये तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी,
७ सितम्बर, १९४७

रविशंकर शुक्ल

प्रकरण-सूची

परिशिष्ट

उत्तर-परिशिष्ट (पृष्ठ ३२४)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	६	सान्निद्धय	सान्निध्य
५६	२	इङ्गिलिस्तानी	इङ्गलिस्तानी
६२	२०	अनाधिकारी	अनधिकारी
६६	२४	एका-कारता	एकाकारता
७६	१६	करेगा,	करेगा)
८३	२२	Renaissane	Renaissance
६८	४	प्रदश	प्रदेश
६८	२२	में वे	में
१०१	२५	ज़ले	ज़िले
१३६	१६	कौसल्यापन	कौसल्यायन
१४७	१५	हुआ	हुआ,
१४७	१६	भ्रष्ट,	भ्रष्ट
१६२	१	को	की
१७४	२०	प्रयप्न	प्रयत्न
१७६	२३	बनाये	बनावें
१७८	२	जनना	जनता
१८१	५	की	को
१८१	५	समक्ष	समकक्ष
१८४	७	अहिन्दयों	अहिन्दियों
१८६	११	—, द्वेष नह	, द्वेष नहीं—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१६	८	चन	चैन
२१६	२५	र्णतः	पूर्णतः
२१८	१४	का	की
२१८	१८	अतनी	अपनी
२२३	१०	उदारण	उदाहरण
२२६	१५	मथिली	मैथिली
२५०	२४	नने	नैने
२८७	२५	श्रुकी ति-रुचि	की श्रुति-रुचि

उत्तर-परिशिष्ट (पृष्ठ ३२४)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	२५	'इङ्गलिस्तनी'	'इङ्गलिस्तानी'
२३	२५	समाचा	समाचार
४१	फुटनोट	'पुनर्लेख'	'पुनश्च'
४६	६	हिन्दी	हिन्दी तो
५३	२५	Persani	Persian
५४	५	or	of

निवेदन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	प	पर
४	४	कोर	को
४	२५	अशो	अशोक
५	२१	सफलना	सफलता
५	२५	कसम्भव	सम्भव
१०	११	-स्नानी	-स्तानी

है'। किसी अखिल भारतीय सभा में युक्त-प्रान्त वाले से पूछिये, 'आप कौन हैं, कहाँ के हैं ?' उत्तर मिलेगा, 'हिन्दुस्तानी'। बंगाली अपनी मातृ-भाषा बँगला बतायेगा, 'बँगला' में बोलने का आग्रह करेगा और अपने आप को बंगाली बतायेगा ('हिन्दुस्तानी' तो हिन्दुस्तान के सभी निवासी हैं)। इसी प्रकार बिहारी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, आदि अपनी अपनी मातृ-भाषा और अपना अपना प्रान्तीय नाम लेंगे, किन्तु अपनी मातृ-भाषा 'हिन्दी' और अपने आप को 'हिन्दी' बताने वाले विरले ही मिलेंगे।

सारांश यह कि इस 'हिन्दुस्तानी' नाम के कारण यह भावना दृढ़ होती जा रही है कि हिन्दी किसी प्रदेश की, किसी की मातृ-भाषा नहीं, उसे कोई नहीं बोलता और उसकी जगह जो कुछ है सो यह 'हिन्दुस्तानी' है। इससे हिन्दी को प्रान्त-भाषा की पदवी से भी हटाने में (जैसे रेडियो में), और उसकी छाती पर उर्दू और उर्दू लिपि को बैठाने में बड़ी सहायता मिल रही है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये १९४१ की जन-गणना के समय लखनऊ रेडियो से और अन्य उपायों से जन-गणना से सम्बन्धित अफसरों ने युक्त-प्रान्त की जनता को सलाह दी कि वे अपनी मातृ-भाषा 'हिन्दुस्तानी' लिखावें (वे बोलते ब्रज, अवधी, आदि चाहे जो हों!), और जन-गणना के फार्म भरने वालों को सरकारी आदेश दिया गया कि वे मातृ-भाषा के खाने में किसी के हिन्दी या उर्दू बताने पर केवल 'हिन्दुस्तानी' लिखें। ये सब 'हिन्दी' का नाम निशान मिटाने की तैयारियाँ हैं। मज़े की बात यह है कि सन् १९३१ की जन-गणना तक जन-गणना के फारमों और रिपोर्टों में युक्त-प्रान्त की मातृ-भाषा 'हिन्दी' लिखी गई है। दस वर्ष में हिन्दी बदलकर 'हिन्दुस्तानी' हो गई! यह है गांधी-कांग्रेस-चमत्कार! गांधी-वादी, राष्ट्र-वादी कहेंगे, हिन्दी उर्दू के साथ समान व्यवहार किया गया, चलो हिन्दी उर्दू का भेद मिट गया (कितनी आसानी से, जादू का डंडा फिरा कर!), आदि, परन्तु वास्तव में हिन्दी का अस्तित्व मिट गया। उर्दू तो किसी प्रदेश की मातृ-भाषा है ही नहीं, उसका क्या बिगड़ा?

उल्टे 'हिन्दुस्तानी' के नाते उर्दू और उर्दू लिपि का युक्त-प्रान्त पर उतना ही अधिकार हो गया जितना हिन्दी और देवनागरी का, और यह कहने की गुंजाइश और यह बतलाने का साधन भी न रहा कि युक्त-प्रान्त में इतनों की मातृ-भाषा हिन्दी है और केवल इतने अपनी मातृ-भाषा उर्दू बताते हैं। सब प्रकार से हिन्दी की घोर हानि हुई, और इसी कारण मुसलमान तहेदिल से युक्त-प्रान्त की भाषा को 'हिन्दी' के बजाय 'हिन्दुस्तानी' कहे जाने के साथ हैं।

हिन्दी की रक्षा के निमित्त इन बातों की आवश्यकता है:—

(अ) स्पष्ट घोषणा की जाय और प्रचार किया जाय कि १. युक्त-प्रान्त की प्रादेशिक या देशज भाषा अर्थात् मातृ-भाषा हिन्दी है, 'हिन्दुस्तानी' नहीं, क्योंकि यहाँ की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं। हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली स्वयं हिन्दी की एक बोली है जो युक्त-प्रान्त के एक डेढ़ ज़िले में बोली जाती है, इसलिये युक्त-प्रान्त की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' कदापि नहीं हो सकता। 'लैंगुएज सरवे आफ इन्डिया' में युक्त-प्रान्त की भाषा को 'हिन्दी' ही बताया गया है और यही नाम अब तक बराबर जन-गणना की रिपोर्टों में प्रयुक्त होता आया है ; २. युक्त-प्रान्त विशुद्ध हिन्दी प्रान्त है, और यहाँ की जनता की मातृ-भाषा और बोल-चाल की भाषा हिन्दी है, 'हिन्दुस्तानी' नहीं, इसलिये यहाँ हिन्दी का ही एकाधिकार हो सकता है। उर्दू किसी प्रदेश को जन-भाषा या मातृ-भाषा नहीं। वह एक साहित्यिक भाषा है, और युक्त-प्रान्त में उर्दू पढ़ने पढ़ाने और उसमें काम करने की छूट उसी हद तक और उसी प्रकार दी जा सकती है जिस प्रकार किसी अन्य साहित्यिक भाषा जैसे अँगरेज़ी, बँगला, इत्यादि में; ३. साहित्यिक दृष्टि से भी आधुनिक, साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी ही युक्त प्रान्त की साहित्यिक भाषा हो सकती है, क्योंकि यहाँ की विभिन्न बोलियों के साहित्य की और लोक-साहित्य की आधुनिक हिन्दी साहित्य से एका-कारता और एकरूपता है, उर्दू साहित्य या किसी 'हिन्दुस्तानी' साहित्य से नहीं।

(आ) युक्त-प्रान्त का नाम 'हिन्द-प्रान्त' या केवल 'हिन्द' रक्खा जाय ('युक्त-प्रान्त' कोई नाम में नाम है !)।

(इ) यहाँ के रहने वालों को बताया जाय कि उनकी मातृ-भाषा हिन्दी है, उन्हें अपनी मातृ-भाषा हिन्दी बताना चाहिये, 'हिन्दुस्तानी' का नाम न लेना चाहिये, और अपने आप को भी 'हिन्दी' बताना चाहिये।

(ई) 'जय हिन्द' के साथ साथ, जैसा कि श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने सुझाया है, 'जय हिन्दी' हमारा नारा होना चाहिये।

(उ) सरकार पर ज़ोर डाला जाय कि सरकारी कागज़ों में, जन-गणना की रिपोर्टों, आदि में यहाँ की भाषा के लिये सदैव 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग उसी प्रकार होना चाहिये जिस प्रकार अब तक होता रहा है। यहाँ की भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो सकता।

(ऊ) सरकार पर ज़ोर डाला जाय कि इस प्रान्त का नाम 'हिन्द' सरकारी तौर से स्वीकृत किया जाय। सरकारी स्वीकृति की प्रतीक्षा किये बिना राष्ट्रीय पत्रों तथा साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को इस प्रान्त के लिये 'हिन्द' नाम का प्रयोग आरम्भ कर देना चाहिये। *

इन बातों का, विशेष रूप से 'हिन्द' नाम का, ज़बर्दस्त मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा। हिंदी कम से कम अपने घर का मालिक समझी और मानी जायगी (पंजाब की भाँति युक्त-प्रांत में भी उर्दू या अन्य भाषायें भले ही टिकी रहें, परन्तु उनका युक्त-प्रान्त पर जन्मजात अधिकार नहीं माना जायगा—

* अभी हाल में युक्त-प्रान्त की सरकार ने 'वर्नाक्युलर' शब्द का त्याग करने का आदेश देते हुये कहा कि इस प्रान्त की भाषा के लिये 'वर्नाक्युलर' के स्थान में 'हिंदुस्तानी' या 'प्रान्त की भाषा' लिखा जाय, जिसका अर्थ हुआ कि इस प्रान्त की भाषा 'हिन्दुस्तानी' है। जैसा ऊपर बताया गया है, यह गहरी कूटनीति की चाल है जिसके द्वारा इस प्रान्त पर हिन्दी को निकाल कर 'हिन्दुस्तानी' को थोपा जा रहा है। इस विषय में लेखक ने एक लेख लिखा था जो अँगरेज़ी पत्रों में छपा था। उसे परिशिष्ट २ में दिया गया है।

जिस प्रकार पंजाब में यह कहने का कोई साहस नहीं कर सकता कि पंजाब की मातृ-भाषा उर्दू है, पंजाबी नहीं))। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान हिंदी की कम से कम एक प्रांतीय भाषा की सी स्थिति होगी और केंद्रीय प्रकरणों में उसकी उपेक्षा करना संभव न होगा। बंगालियों, गुजरातियों, तामिलों, आदि की भाँति हिन्दियों को भी अनुभव होगा कि उनकी भी एक विशिष्ट भाषा और संस्कृति है, और उनमें भ्रातृ-भाव, एकभाषा-भाव उत्पन्न होगा और उनका अपनी मातृ-भाषा हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत होगा। जिस प्रकार अन्य प्रांतवाले अपनी अपनी मातृ-भाषा या प्रांत-भाषा से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हिंदी-जन अपनी मातृ-भाषा और प्रांत-भाषा हिंदी से प्रेम करना सीखेंगे और उसकी रक्षा के लिये कटिबद्ध होंगे। आज युक्त-प्रांत में हिंदी के प्रति जनता में जो उपेक्षा भाव पाया जाता है उसका कारण यही है कि उन्हें अपनी मातृ-भाषा का असली नाम ही साफ साफ नहीं बताया जाता जिससे उनमें उसके प्रति प्रेम, उसकी उन्नति करने और उसके स्वरूप को विशुद्ध रखने की इच्छा उत्पन्न होसके। उलटे उन्हें 'हिंदुस्तानी' नाम द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह पाठ पढ़ाया जाता है कि उनकी भाषा गन्दी हुगली तो है ही, और यदि नहीं है तो उसे अब बनाया जाय। 'हिन्दुस्तानी' के चक्कर में फँस कर हिंदी-जनता हिंदी की उपेक्षा करती है। इस नाम के कारण उसे हिंदी और उर्दू में अन्तर भी दिखाई नहीं देता, हिंदी शब्द और उर्दू शब्द में अन्तर दिखाई नहीं देता और हिंदी उर्दू दोनों एकसी जान पड़ती हैं। फलतः 'हिन्द' में हिंदी की वैसी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती जैसी एक भाषा की अपने निजी प्रदेश में होनी चाहिये। 'हिंदी' नाम के बजाय 'हिंदुस्तानी' नाम से यही अन्तर हो जाता है। 'हिंदी' नाम यदि शुद्धता की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है तो 'हिंदुस्तानी' नाम बरबस गन्दगी की ओर धकेलता है। जब तक 'हिंद' नाम और हिंद की भाषा के नाम की प्रतिष्ठा नहीं होगी तब तक हिंदी को शुद्ध करने और शुद्ध रखने की स्वाभाविक प्रेरणा उत्पन्न नहीं होगी।

(८) बोलचाल की भाषा का सुधार होना चाहिये।

लिखते समय तो भाषा का कुछ ध्यान रक्खा भी जाता है, परन्तु बोल-चाल में शिक्षित समाज भाषा का तनिक भी ध्यान नहीं रखता। परिणाम-स्वरूप शहरों के शिक्षित समाज की बोलचाल में एक ओर अनावश्यक (भाषा की दृष्टि से) अँगरेज़ी शब्दों की भरमार है—यहाँ तक कि उसका अलग नाम 'इङ्गलिस्तानी' या 'बाबू हिंदुस्तानी' रख दिया गया है, और दूसरी ओर अनावश्यक अरबी फ़ारसी शब्दों की भरमार है। दोनों बातों के कारण एक ही प्रकार के हैं। पहले 'इँगलिस्तानी' को लीजिये जिसका अभी साहित्य में प्रवेश नहीं हुआ है। इसके विषय में डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं, "....मैं तो आज देखता हूँ कि भाषा के बोलने के सम्बन्ध में अधिक से अधिक लापरवाही बरती जाती है। मेरे विश्वविद्यालय ही में किन्हीं दो विद्यार्थियों की बातचीत सुन लीजिये। उनके सारे वार्तालाप में सम्भवतः एक भी वाक्य ऐसा न होगा जिसे अच्छी हिंदी कह सकें। उदाहरण के लिये मेरे एक विद्यार्थी ने एक दिन मुझसे कहा--डाक्टर साहब, आप उस मीटिंग में प्रेज़ेंट नहीं थे। बड़ा इन्टरेस्टिंग डिसकशन हुआ। मैं स्पीकर के प्वाइन्ट अव् व्यू से ऐग्री नहीं कर सका और मैंने ऐसी फोर्सफुल स्पीच डेलीवर की कि आडिएंस वाज़ मूव्हड कम्पलीटली एंड दि हाउस वाज़ इन माइ फ़ेवर। मैंने उसे उसी समय रोककर कहा कि मैं नहीं समझा। ज़रा हिंदी में कहिये। वह लज्जित हुआ और 'एक्सक्यूज़ मी' कह कर चला गया। उसने 'क्षमा कीजिये' नहीं कहा।...........यदि अँगरेज़ी की संज्ञाओं, उसके विशेषणों और क्रिया विशेषणों के मिश्रण की यही प्रवृत्ति भाषा में रही तो आज से सौ वर्ष बाद हिंदी से संघर्ष लेने के लिये आज की हिंदुस्तानी की भाँति कोई इङ्ग-लिस्तानी भाषा खड़ी होगी और वही राष्ट्र-भाषा होने के लिये हिंदी से युद्ध करेगी। भाषा-सुधार सम्बन्ध में हमारा जो गम्भीर उत्तरदायित्व है, उसे अभी हम आँख खोलकर नहीं देख सकते, यह हमारा नैतिक पतन है।"

(अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के सभापति पद से दिये भाषण से) इसके बाद कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। हमें इस इँगलिस्तानी से पीछा छुड़ाना ही होगा, और इसके लिये शिक्षित समाज में ज़ोरदार आन्दोलन करना चाहिये। अब दूसरी बीमारी—अरबी फ़ारसी शब्दों की भरमार—लीजिये जो अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है और जो 'उर्दू' नाम से साहित्य में भी स्थान पा चुकी है और इस कारण जिसे बहुत से लोग अब बीमारी नहीं मानते (इँगलिस्तानी को अभी तक सब—हिंदुस्तानी वाले भी—बीमारी मानते हैं)। यह बीमारी कहीं अधिक भयंकर है क्योंकि यह उर्दू साहित्य से और पुष्ट होती है और एक दल इसको (एक अलग लिपि में) लिख कर और बोल कर फैलाने में यत्नशील है जब कि इँगलिस्तानी को अपने किसी विशेष साहित्य का सहारा नहीं है और कोई दल उसका प्रचार नहीं चाहता। हिंदी वालों ने बोलचाल का महत्व बिलकुल नहीं समझा है। वे समझते हैं, लिखो हिंदी, बोलते रहो चाहे उर्दू। उर्दू के प्रसिद्ध लेखक और कवि श्री रघुपति सहाय 'फिराक़'ने कुछ दिन हुये गोरखपुर में कहा, "उर्दू हिंदीकी अपेक्षा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। हिन्दी के लेखक और साहित्यिक स्वयं वह भाषा नहीं बोलते जिसे वे लिखते हैं।" मियाँ बशीर अहमद का कथन है, "युक्त-प्रान्त की लिखी जाने वाली भाषा हिन्दी है और बोली जाने वाली भाषा उर्दू है।" यदि हम केवल शिक्षित समाज के विशिष्ट वर्गों की बोल-चाल को लें, तो दोनों कथनों में बहुत कुछ सच्चाई है। यह बात तो सोलह आने सच है कि हिन्दी के लेखक और साहित्यिक नित्य बोलचाल में वह भाषा नहीं बोलते जिसे वे लिखते हैं। स्टेशन पर, रेल में, बाज़ार में—चाहे जहाँ उनकी बातचीत सुन लीजिये। पर उर्दू के लेखक और साहित्यिक वही भाषा बोलते हैं जिसे वे लिखते हैं। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता—भले ही उर्दू वाले प्रयत्न करके ही ऐसा करते हों या कर

पाते हों। वे कम से कम बोलने के मामले में सजग हैं जब हिन्दी वाले बेख़बर हैं। यदि किसी हिन्दी वाले की किसी उर्दू वाले से बातचीत हो तो सौ में सौ बिस्से वह उर्दू में होगी ('आदाबअर्ज' से आरम्भ और 'खुदा हाफिज़ है' से अन्त होकर !)। हिन्दी वाला प्रयत्न करके उर्दू में बोलेगा और इसमें गर्व का अनुभव करेगा (देखो, हमें उर्दू भी आती है, हम कितने उदार और विशाल-हृदय हैं !), और इस प्रकार सिद्ध करेगा कि उर्दू ही कामन भाषा है, साहित्य सम्मेलनों में जाकर वह चाहे जो हाँकता हो। यदि हिन्दी वाले को ज़रा यह मालूम हो जाय कि जिससे वह बात कर रहा है वह मुसलमान है अथवा उपस्थित लोगों में एक दो मुसलमान भी हैं, तो उसे हिन्दी बोलने में शर्म आवेगी, वह हिचकिचायेगा, और अन्त में ढूँढ़ ढूँढ़ कर उर्दू शब्दों का ही प्रयोग करेगा। यदि किसी हिन्दी शब्द का प्रयोग करना ही पड़ा तो उसके चेहरे पर संकोच, झिझक और क्षमायाचना का भाव लक्षित होगा। प्रत्येक दशा में बोलचाल में साधारण से साधारण हिन्दी शब्द बोलने में हिन्दी वाले हिचकिचाते हैं (वे कांग्रेस के प्रचार से शायद उसे 'साम्प्रदायिक' और 'हिन्दू-मुसलिम एकता' के लिये घातक समझते हैं, और उर्दू को एकता का सिंहद्वार !")। हाँ, लिखते समय वे कठिन से कठिन संस्कृत शब्द को निसंकोच लिख डालेंगे। यह है हिन्दी वालों का मातृ-भाषा प्रेम और यह है उनकी संस्कृति ! * हिन्दीवालों को दूसरों के सामने अपनी मातृ-भाषा में बोलने में गर्व का अनुभव होना तो अलग रहा,

---

*जैसा पं० अमरनाथ झा ने कहा है, "हिंदी वाले 'पंडित साहब' तो कह लेंगे परन्तु 'मौलवी जी' कभी नहीं'। हिन्दीवालों को 'मुसम्मात कमला' में या 'महारानी साहबा' में कोई अस्वाभाविकता नहीं मालूम पड़ती, परन्तु 'श्रीमती अशगरी' कभी नहीं कह सकते, वे 'बेग़म' ही रहेंगी। हिन्दीवालों को पंडितजी से, अपने इष्ट मित्रों यहाँ तक कि अपने सम्बंधियों से भी 'आदाबअर्ज़' करने में शर्म नहीं आती, परन्तु बड़े से बड़े मुसलमान से भी 'नमस्ते' या 'नमस्कार' करना पाप समझते हैं। 'जैरामजी की' तो गँवारों के लिये रिज़र्व है ही !

उल्टे शर्म आती है और इसलिये उर्दू की शरण लेते हैं। वे अपनी चेष्टाओं से सिद्ध करते हैं कि मुसलमानों की मातृ-भाषा तो उर्दू ही है और वे उर्दू के सिवा और कुछ नहीं बोलते या समझते। उर्दू वाले तिलकधारी पंडित-जी से भी शुद्ध उर्दू में बोलेंगे। कोई समझे या न समझे, उनकी बला से। उन्हें जो आता है, जो वे लिखते हैं, वही बोलेंगे, चाहे कोई मौजूद हो। उन्हें अपनी उर्दू में बोलने में कोई अस्वाभाविकता या झिझक प्रतीत नहीं होती। वे अपनी स्वाभाविक शैली छोड़कर क्यों इधर उधर ताकें? मौलाना आज़ाद (या पं० नेहरू) किसी अखिल भारतीय सभा के सम्मुख शुद्ध उर्दू में बोलने के लिये किसी की क्षमा-याचना नहीं करते, परन्तु पं० गोविन्द वल्लभ पन्त, डा० राजेन्द्रप्रसाद, यहाँ तक श्री टंडनजी भी या तो शुद्ध हिन्दी में बोलेंगे ही नहीं (बिना आधे पौने उर्दू शब्दों को मिलाये वे अपने आप को विशुद्ध राष्ट्रीयता से च्युत समझेंगे—गांधीजी का भी तो डर है कि कहीं कांग्रेस की 'इनर काउन्सेल्स' में वे 'साम्प्रदायिक,' 'संकुचित हृदय,' 'तंग ख़याल', 'महासभाइट' न घोषित कर दिये जायँ!), और यदि बोलेंगे तो चेहरे से मालूम होगा कि बड़ी बहादुरी तो की है, परन्तु अपराध हुआ, आशा है उपस्थित सज्जन क्षमा करेंगे। यह हिन्दी वालों की सबसे बड़ी कमज़ोरी है जो उन्हें पग पग पर नीचा दिखाती है।*

शिक्षित समाज की साधारण बोलचाल का भी वही हाल है। उसके विषय में पहले बतलाया जा चुका है। नेताओं की देखा देखी कांग्रेस के छोटे भाई भी उर्दू में बोलना स्वराज्य-प्राप्ति का सीधा रास्ता समझते हैं।

अब प्रश्न होता है, बोलचाल का सुधार किस प्रकार होना चाहिये? सबसे पहली आवश्यकता है हिन्दी के परिमार्जन और संशोधन की। उसके विषय में सभी आवश्यक बातें पहले कही जा चुकी हैं। जिन सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी का परिमार्जन संशोधन होना है, उनका निर्देशन भी किया जा चुका

*परिशिष्ट २ भी देखिये।

है। जब तक जैसी हिन्दी बोलना मंजूर है वैसी ही नहीं लिखी जायगी, और जैसी लिखी जाय वैसी ही नहीं बोली जायगी, तब तक हिन्दी का उद्धार नहीं हो सकता। यह बिलकुल सीधी सी बात है कि जैसी हिन्दी बोलना मंजूर है वैसी ही लिखो और जैसी लिखते हो वैसी बोलो। और बोलते समय भाषा का उसी प्रकार ध्यान रक्खो जिस प्रकार लिखते समय रक्खा जाता है। इसके सिवा कोई दूसरा चारा नहीं। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो समय कराके छोड़ेगा और फिर बाद को पछताने से कुछ हाथ न आवेगा। लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा का सीधा और अटूट संबंध है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। कृत्रिम उपायों से दोनों में अन्तर अधिक समय तक कभी नहीं रक्खा जा सकता, इसलिये उनको सावधानी से एक दूसरे के निकट लाने में ही बुद्धिमानी है। आज हिन्दी में इतने ज़्यादा अनावश्यक अरबी फारसी शब्द (जिनके विरुद्ध यह पुस्तक एक विद्रोह है) क्यों आते हैं ? उर्दू में सैकड़ों उर्दू शब्दों के साथ उनके हिन्दी पर्याय क्यों नहीं आते ? इसका कारण यही है कि आज के हिन्दी लेखक जिस समाज के अंग हैं और जिस समाज में उनका उठना बैठना होता है, उसकी बोलचाल में यही उर्दू शब्द आते हैं, उनके हिन्दी पर्याय नहीं आते। इसलिये जब वे हिन्दी लिखने बैठते हैं तो वे हिन्दी शब्दों को तो प्रयत्न करके, आग्रह करके बैठाते हैं, परन्तु नज़र बचते ही, ध्यान बँटते ही उर्दू के शब्द, जिन्हें वे चौबीसो घन्टे चारो ओर सुनते हैं और जो उनके दिमाग़ में चक्कर काटते होते हैं (और जिनमें शायद वे अपनी सोचाई भी करते है), अनायास क़लम से निकल पड़ते हैं। इसलिये एक ही वाक्य में, एक ही अर्थ में हिन्दी और उर्दू के पर्यायवाची शब्द दिखाई देते हैं। हिन्दी के द्वैतवाद का कारण बोलचाल की भाषा ही है। यदि बोलचाल का सुधार नहीं होगा और उसमें हिन्दी शब्द नहीं आयेंगे, तो हिन्दी लेखकों के लिये अप्रचलित हिन्दी शब्दों के प्रति आग्रह और प्रचलित उर्दू शब्दों के विरुद्ध चौकसी रखना अधिक समय तक संभव न होगा, और जब तक लिखित हिन्दी की

यही दशा रहेगी तब तक हिन्दी के पाठक हिन्दी उर्दू दोनों के पर्याय सीखते रहेंगे और ऐसी अवस्था में हिन्दी पर्याय बोलचाल में कभी प्रचलित न हो सकेंगे। उर्दू वालों के साथ मामला बिलकुल उल्टा है। उन्होंने साहित्य से ही नहीं, अपनी बोलचाल से भी हिन्दी शब्दों को मतरूक कर दिया है, जब कि हिन्दी वाले साहित्य से तो उर्दू शब्दों को मतरूक करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु बोलचाल में वही उर्दू शब्द बोलते रहते हैं। उर्दू वालों को कुत्ते ने थोड़े ही काटा है जो वे उर्दू शब्दों को, जिन्हें वे स्वयम् चौबीसो घन्टे बोलते हैं और दूसरों को बोलते सुनते है, छोड़ कर हिन्दी शब्द लिखें। इसलिये उर्दू में शब्दों का द्वैतवाद दिखाई नहीं देता। हिन्दी वाले 'उद्देश्य' लिखते लिखते 'मक़सद,' लिख जायँगे क्योंकि वे स्वयम् 'मक़सद' बोलते हैं, 'उद्देश्य' नहीं बोलते। उर्दू वाले 'मक़सद' छोड़ कर 'उद्देश्य' क्यों लिखें? यह सच है कि उर्दू से कितने ही प्रचलित देशज और तद्भव शब्दों को मतरूक कर दिया गया है, परन्तु उर्दू वालों ने उन शब्दों को अपनी बोलचाल से भी मतरूक कर दिया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दी वालों ने उन उर्दू शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द धर दिये परन्तु बोलते रहे वही उर्दू शब्द। या वे अपनी बोलचाल से भी उन उर्दू शब्दों को मतरूक करें और अपने संस्कृत शब्द बोलें, या फिर प्रचलित देशज और तद्भव शब्द लिखें और वही बोलें, और जिन उर्दू शब्दों को लेना है उन्हें निश्चित रूप से अपना लें और उनके स्थान में संस्कृत शब्द लिखने या बोलने का प्रयत्न न करें। जिन प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों को उर्दू वालों ने अपने साहित्य या बोलचाल से मतरूक कर दिया है, उन्हें बोलने में तो हिन्दी वालों को अवश्य ही गर्व अनुभव करना चाहिये और उनके उर्दू पर्यायों को भूलकर भी नहीं लिखना या बोलना चाहिये। जैसा पहले कहा जा चुका है, बोलचाल की एक कामन भाषा या हिन्दुस्तानी तो बन कर रहेगी। यदि हिन्दी वाले अपने हिन्दी शब्द बोलेंगे (उर्दू वाले

तो उर्दू शब्द बोलेंगे ही) तो हिन्दी और उर्दू दोनों के शब्द बोलचाल में प्रचलित होंगे, और जहाँ एक ओर हिन्दी वाले उर्दू शब्द समझेंगे वहाँ दूसरी ओर उर्दू वाले भी हिन्दी शब्द समझेंगे, और ऐसी अवस्था में जो कामन हिन्दी या हिन्दुस्तानी स्वाभाविक रूप से बनेगी उसमें हिन्दी का उतना ही अंश होगा जितना होना चाहिये। ऐसी अवस्था में यदि लिखित हिन्दी में हिन्दी शब्दों के साथ साथ बोलचाल में प्रचलित उनके उर्दू पर्याय घुस ही पड़ेंगे तो लिखित उर्दू में भी उर्दू शब्दों के साथ साथ बोलचाल में प्रचलित उनके हिन्दी पर्यायों को घुसने से कोई न रोक सकेगा, और इस प्रकार साहित्य में भी यदि हिन्दुस्तानी बनी, तो उसमें हिन्दी का उतना ही अंश होगा जितना स्वाभाविक रूप से होना चाहिये। लिखित हिन्दी के किसी संस्कृत शब्द के प्रति कृत्रिमता का आक्षेप भी न किया जा सकेगा, क्योंकि बोलचाल में वह भी तो प्रचलित होगा। सारांश यह कि हिन्दी बोलने से आगे बढ़ेगी, केवल लिखने से नहीं। जो अपनी भाषा और अपनी भाषा का शब्द नहीं छोड़ता और उसे अधिक दृढ़ता के साथ बोलता है, उसी की भाषा की अन्त में जीत होती है और उसी की भाषा का प्रचार होता है। यदि हिन्दी वाले बोलने में कमज़ोरी दिखलायँगे तो उर्दू ही कामन भाषा होगी और वही राष्ट्र-भाषा होगी। हिन्दी का अन्य भाषाओं से सामीप्य वाला गुण धरा रह जायगा। उर्दू वाले बोलकर अपनी भाषा भारत के कोने कोने में ले जायँगे*, हिन्दी वाले हिन्दी लिखकर और उर्दू

*अहिन्दी भाषी भी साहित्य की खड़ी बोली की नहीं, बोलचाल की खड़ी बोली की नकल करेंगे और स्वयम् वैसी ही बोलेंगे। ऐसा होना स्वाभाविक है। एक शिक्षित बंगाली जब लखनऊ में आ बसता है तो उसकी भी खड़ी बोली वैसी ही होती है जैसी लखनऊ के शिक्षित समाज की बोलचाल, न कि हिन्दी यद्यपि वह बँगला के कहीं अधिक निकट है। अपने बंगाली मित्र से वह बँगला में बात करेगा, और बोलेगा 'शेष', 'शरीर', 'सम्बन्ध', 'भाषा', 'कर्त्तव्य', 'मानुष' 'अनुवाद', आदि, परन्तु दूसरी ही सांस में अपने लखनौआ

बोलकर केवल हास्यास्पद बनेंगे। जो भाषा सब लोग बोलेंगे वही कामन भाषा 'हिन्दुस्तानी' कहलायेगी, लिखा चाहे जो कुछ जाय। यदि बोलचाल में हिन्दी

मित्र से (या बाज़ार में) खड़ी बोली में बात करते समय बोलेगा, 'ख़त्म', 'जिस्म', 'रिश्ता', 'ज़बान', 'फ़र्ज़', 'आदमी या शख्स', 'तरजुमा', क्योंकि अपने चारो ओर की खड़ी बोलचाल में—हिन्दी वालों की अथवा उर्दू वालों की—वह नित्य इन्हीं शब्दों को सुनता है, लिखित हिन्दी में 'शेष', 'शरीर' 'सम्बन्ध', 'भाषा', 'कर्त्तव्य', 'मनुष्य', 'अनुवाद' उसने भले ही देखे हों। (भाषा के साथ संस्कृति का भी वही हाल है। लखनऊ में बसा हुआ एक हिन्दू बंगाली दूसरे हिन्दू बंगाली से सदैव 'नमस्कार' करेगा, परन्तु दूसरी ही सांस में अपने लखनौआ हिन्दू मित्र से 'आदाबअर्ज़' करेगा। कारण वही हैं।) हाँ, यदि लखनऊ की खड़ीबोली बोलचाल में उसे 'ख़त्म' 'जिस्म', 'रिश्ता', 'ज़बान', 'फ़र्ज़', आदि के साथ साथ 'शेष', 'शरीर', 'सम्बन्ध', 'भाषा', 'कर्त्तव्य', आदि भी—निःसन्देह हिन्दी वालों के मुख से—सुनने को मिलेंगे तो उसके मुँह से भी खड़ी बोली में यही हिन्दी शब्द अधिक सुगम और परिचित होने के कारण निकलेंगे (और जब वह हमें आपस में एक दूसरे को 'नमस्कार' करते देखेगा तब वह हमें भी 'नमस्कार' करेगा, जो भाषा हम स्वयम् नहीं बोलेंगे, बस केवल लिखेंगे, उसके लिये हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि अन्य भाषा भाषी उसे—उस लिखित भाषा को—बोलें? पहले हम स्वयम् अपनी लिखित भाषा को इसी रूप में बोलकर आदर्श उपस्थित करें, फिर अहिन्दी भाषी उसे अपेक्षाकृत अधिक सुगम, परिचित और सरल होने के कारण अपने आप अपनायेंगे। उर्दू या वर्धा की हिन्दुस्तानी अपने आप धरी रह जायगी, क्योंकि प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक प्राणी सबसे सरल मार्ग (line of least resistance) अपनाता है। इस नियम की अवहेलना अधिक समय तक कदापि नहीं हो सकती, चाहे गांधीजी, कांग्रेस और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा एड़ी चोटी का ज़ोर क्यों न लगा दें।

(यही बात लिखित हिन्दी के साथ लागू है। हम सदैव शुद्ध हिन्दी लिखें; झूठी राष्ट्रीयता और 'हिन्दुस्तानी' के चक्कर में आकर उसमें उर्दू शब्द न भरें, फिर देखेंगे अहिन्दी भाषी इस हिन्दी को छोड़कर वर्धा की $\frac{\text{हिन्दी + उर्दू}}{२}$ =

न आई तो लिखित हिन्दी की भी आत्मा मर जायगी। आज चारो ओर जो यह सुनने में आता है कि हिन्दी की प्रकृति मर रही है, उसमें जाति की आत्मा का प्रतिविम्ब नहीं दीख पड़ता, आदि, इसका कारण यही है कि हिन्दी लिखने वाले साधारण बोलचाल में या इङ्गलिस्तानी बोलते हैं या उर्दू (और उसी में सोचते हैं)। फिर हिन्दी की प्रकृति सुरक्षित रहे तो कैसे रहे ? भाषा की प्रकृति बोलने से बनती है, बोलने से ही वह पहचानी जाती है, बोलने से ही मुहावरे बनते हैं, शब्दों के अर्थों का विस्तार होता है, उनमें अपेक्षित ध्वनि आती है, आदि। भाषा जब बोली जाती है तभी उसमें स्वाभाविकता, प्रौढ़ता, लचक व्यंजना-शीलता और जीवन तथा प्रवाह आता है। यदि बोलचाल में हिन्दी वाले उर्दू शब्द, उर्दू मुहावरे अपनाते चले जायँगे तो हिन्दी में लिखते समय अपने शब्द और मुहावरे अपने आप अपरिचित से, कृत्रिम और बेजान मालूम पड़ेंगे।

हिन्दी वालों को चाहिये कि वे सदैव—साधारण बोलचाल में, मित्रों की गोष्ठी में या मंच से—शुद्ध और स्टैंडर्ड हिन्दी बोलें और बोलते समय भाषा का उसी प्रकार और उतना ही ध्यान रक्खें जितना लिखते समय रखते हैं, या रखना आवश्यक है। वे हिन्दी प्रान्तों के निवासियों—हिन्दू, मुसलमान, सिख या ईसाई—से या उनके बीच में बोलते समय उर्दू में बोलने की या उर्दू शब्दों का व्यवहार करने की भयंकर भूल कदापि न करें, क्योंकि ऐसा करके वे यही सिद्ध करेंगे कि हिन्दी प्रान्तों के सब निवासी हिन्दी नहीं समझते, बहुत से निवासी उर्दू ही बोलते और समझते हैं, और उर्दू ही इन प्रान्तों की कामन भाषा है। हमें हिन्दी मुसलमानों से बात-चीत करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा कि हम हिन्दी

'हिन्दुस्तानी' किस प्रकार अपनाते हैं। हिन्दी का भविष्य हिन्दी वालों—हिन्दी के लेखकों, साहित्यिकों और हिन्दी भाषियों—के ही हाथ में है। (आगे दूसरा भाग देखिये।)

में ही बोलें। यदि कोई हिन्दी मुसलमान किसी हिन्दी शब्द को न समझे तो तो वह उसका अर्थ पूछ ले। यदि हिन्दी मुसलमान उर्दू में बोले (जैसा कि वह बोलता है), तो हमें इस पर आपत्ति करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु हम भी उससे उर्दू में क्यों बोलें? हम अपनी मातृ-भाषा, जो उसकी भी मातृ-भाषा है यद्यपि वह इससे इन्कार करता है, क्यों छोड़ें? जिस प्रकार हम उसकी उर्दू समझने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार वह हमारी हिन्दी समझने का प्रयत्न करे। यदि कोई हिन्दी भाषी उर्दू भी जानता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी हिन्दी मुसलमान से उर्दू में बोले। वह अपनी उर्दू विशेष अवसरों और उपयोगों के लिये (जैसे सीमा-प्रान्त में भ्रमण करते समय) उठा रक्खे। गांधीजी कहते हैं कि मैंने अपनी अँगरेजी अँगरेजों और विदेशियों के लिये रिजर्व कर रक्खी है, सब हिन्दुस्तानियों के लिये मेरे पास 'हिन्दुस्तानी' है। हिन्दी वालों को इससे शिक्षा लेनी चाहिये। वे अपना उर्दू-ज्ञान पाकिस्तान निवासियों के लिये रख छोड़ें, परन्तु सब हिन्दियों से, धर्म का कोई भेद भाव किये बिना, हिन्दी में बोलें, जिस प्रकार एक बंगाली या मराठी या गुजराती किसी भी धर्म के अनुयायी बंगाली या मराठी या गुजराती से क्रमशः बँगला, मराठी और गुजराती में बात करता है। ऐसा होने पर ही हिन्दी हिन्द-प्रान्त और हिन्दी प्रान्तों की वास्तविक मातृ-भाषा या प्रान्त-भाषा कहलाने की अधिकारिणी होगी। हिन्दी वाले हिन्दी मुसलमानों से उर्दू में बोलकर स्वयम् हिन्दी की इस स्वभाव-सिद्ध व्यापकता में अविश्वास उत्पन्न करते हैं। उन्हें अपने प्रान्तों की सीमा के अन्दर और अपने प्रान्त-निवासियों के साथ या उनके बीच में निसंकोच, बिना झिझक या हिच-किचाहट के हिन्दी में बोलना चाहिये। यदि वे चाहें तो इस मामले में अपने पड़ोसी शिक्षित हिन्दी मुसलमान से ही, जो हिन्दी शब्द जानते हुये भी सदैव उर्दू में बोलता है या बोलने का प्रयत्न करता है, शिक्षा ले सकते हैं*।

*** भाषा के साथ संस्कृति का अटूट संबंध है। हिन्दी बोलचाल के साथ**

जिस प्रकार प्रत्येक प्रान्त, ज़िले, नगर और स्कूल में हिन्दी साहित्य सम्मेलनों और परिषदों की स्थापना हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रान्त, ज़िले, नगर और स्कूल में 'हिन्दी बोलो क्लब' या 'हिन्दी बोलो गोष्ठी' की स्थापना होनी चाहिये। इन गोष्ठियों का उद्देश्य हिन्दी बोलचाल का प्रचार और हिन्दी जनता का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर खींचना होगा। इन गोष्ठियों में सब बातचीत हिन्दी में हो और इनके तत्त्वावधान में जन-सभायें की जायँ जिनमें जनता को बोलचाल की भाषा में सुधार करने की आवश्यकता बताई जाय। यह एक बिलकुल नई बात होगी, परन्तु इसकी परम आवश्यकता है। इसके बिना हिन्दी का उद्धार संभव नहीं। हिन्दी

हिन्दी संस्कृति भी आनी चाहिये। हिन्दी भाषियों को अपनी बोलचाल, अपने आचरण तथा व्यवहार में हिन्दी की संस्कृति का भी ध्यान रखना चाहिये। हिन्दी की संस्कृति क्या है अर्थात् हिन्दी किस संस्कृति का प्रतीक है, यह पहले बतलाया जा चुका है (देखिये पृष्ठ ४९)। हिन्दी बोलचाल के साथ हिन्दी शिष्टाचार को भी सुधारने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ अभिवादन को ही लीजिये जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है (पृष्ठ ७१, पाद-टिप्पणी)। हिन्दीवाले (यहाँ तक कि तिलकधारी पंडितजी भी) किसी से भी (वह चाहे मुसलमान हो चाहे ईसाई, सिख या किसी अन्य धर्म या सम्प्रदाय का) 'नमस्ते', 'नमस्कार', 'प्रणाम' या 'जै रामजी की' को छोड़कर 'आदाबअर्ज़', 'सलाम' या 'गुडमार्निंग' करके अपनी हीनता क्यों प्रकट करते हैं ? मुसलमान 'आदाबअर्ज़', जिसे स्वयम् हिन्दू मुसलमानों से कहते हैं, छोड़कर कुछ और हिन्दुओं से क्यों कहें ? बस, 'आदाबअर्ज़' कामन अभिवादन अपने आप हो गया—स्वयम् हिन्दीवालों के व्यवहार और स्वीकृति से ! हिन्दीवालों को 'आदाबअर्ज़' की इस बढ़ती हुई बीमारी का उपचार करना चाहिये। उन्हें सबसे—हिन्दू या मुसलमान—'नमस्ते' या 'नमस्कार' कहना चाहिये। यदि हिन्दी मुसलमान 'आदाबअर्ज़' कहे तो आपत्ति करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु स्वयम् अपना अभिवादन क्यों छोड़ें ? 'नमस्ते' और 'आदाबअर्ज़' दोनों ही प्रचलित हों।

साहित्य का बहुतेरा प्रचार हो चुका, हो रहा है और शिक्षा के प्रसार के साथ अपने आप होगा; अब हिन्दी बोलचाल के प्रचारकी आवश्यकता है जिसे ग़ैर-सरकारी तौर से ही किया जा सकता है। हिन्दी बोलचाल की स्थापना और प्रचार के बिना हिन्दी की दशा एक पहिये के रथ के समान हो जायगी— वह आगे बढ़ ही न सकेगी और अन्त में वह मुर्दा समझ ली जायगी। हिन्दी बोलचाल को अँगरेज़ी और उर्दू दोनों के पंजों से मुक्त करना है। अभी हाल में पत्रों में यह समाचार छपा था कि प्रयाग के वकीलों ने एक 'हिन्दुस्तानी बोलो क्लब' की स्थापना की है, और यह नियम बनाया है कि इस क्लब का जो सदस्य बोलचाल में अनावश्यक अँगरेज़ी शब्द प्रयुक्त करेगा उस पर प्रति अँगरेज़ी शब्द एक पैसा जुर्माना किया जायगा। पता नहीं उस क्लब का क्या हुआ, परन्तु उसकी राय में 'वाइफ', 'पालिटिक्स', 'मिनिस्टरी', 'रिटिन', 'प्लेंटिफ', 'कल्पेबिल होमीसाइड', 'मूवेबिल प्रापर्टी', आदि बोलने पर जुर्माना किया जायगा, क्योंकि ये शब्द अँगरेज़ी के और 'विदेशी' हैं, पर 'बीवी', 'स्यासत', 'वज़ारत', 'तहरीरी', 'मुद्दई', 'क़त्ल इन्सान मुस्तलिजम सज़ा', 'जायदाद मनक़ूला,' आदि बोलना स्वाभाविक समझा जायगा क्योंकि ये 'हिन्दुस्तानी' हैं! हिंन्दी बोलो क्लब 'वाइफ' और 'बीवी', 'पालिटिक्स' और 'स्यासत', 'मिनिस्टरी' और 'वज़ारत', 'रिटिन' और 'तहरीरी', 'प्लेंटिफ' और 'मुद्दई', 'कल्पेबिल होमीसाइड' और 'क़त्ल इन्सान मुस्तल्जिम सज़ा', 'मूवेबिल प्रापर्टी' और 'जायदाद मनकूला' दोनों को विदेशी और त्याज्य समझेगा। 'हिन्दुस्तानी बोलो क्लब' का शर-संधान शिक्षितों की इँगलिस्तानी के विरुद्ध होगा, 'हिन्दी बोलो क्लब' का शर-संधान शिक्षितों की इँगलिस्तानी और उर्दू-हिन्दुस्तानी दोनों के विरुद्ध।

जो भाषा सभ्य-समाज बोलता है उसी का अनुकरण और लोग करते हैं। इसलिये हमारे नेताओं, राज-मंत्रियों, शिक्षकों, समाज-व्यवस्थापकों, धारा-सभाओं के सदस्यों, आदि पर इस बात का विशेष उत्तरदायित्व है कि

वे अपनी बोलचाल की भाषा सुधारें, और शुद्ध हिन्दी बोलचाल का आदर्श उपस्थित करें, और मंच से भी शुद्ध हिन्दी बोलें। ग्रामीण जनता की भाषा बिलकुल विकृत नहीं हुई है। जब गाँवों में शिक्षा का प्रसार और प्रचार होगा, और उनका शहरों से सम्पर्क बढ़ेगा, तो ग्रामीण जनता शहरों के शिक्षित समाज की बोलचाल को अपनायेगी। हमें चाहिये कि हम उन्हें शुद्ध हिन्दी बोलचाल दें, नहीं तो वे भी इसी वर्तमान अँगरेज़ी और अरबी फारसी शब्दों से बोझिल बोलचाल को अपनायँगे, और इस प्रकार जनता की भाषा का नहीं, शहरों के मुट्ठी भर आदमियों की विकृत भाषा का प्रसार-प्रचार होगा और वही बोलचाल की व्यापक भाषा होगी। फिर उसका बदलना या सुधार करना असम्भव हो जायगा।

४. कुछ आक्षेपों के उत्तर

ऊपर पेश किये गये सुझावों और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों पर जो आक्षेप आमतौर से किये जाते हैं या किये जायँगे, उनका उत्तर दिये बिना संभव है कुछ लोगों को ये व्यर्थ और पोच जान पड़ें। इसलिये कुछ आम आक्षेपों (वर्तमान अथवा संभावित) का उत्तर नीचे दिया जाता है।

(१) कोई हिन्दी एकाडेमी भाषा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती।

प्रश्न भाषा को बाँधने का नहीं, उसकी मर्यादा रखने का है। स्टैंडर्ड हिन्दी शब्द-कोष के सम्बन्ध में यह पहले कहा जा चुका है (पृष्ठ २२) कि दिन प्रति दिन अधिकाधिक विदेशी शब्द हिन्दी में गृहीत होते ही रहेंगे और स्टैंडर्ड हिन्दी शब्द-कोष में स्थान पाते जायँगे; परन्तु किसी भी समय यह कहा जा सकेगा कि अब तक की अर्थात वर्तमान हिन्दी का यह कोष है। हिन्दी एकाडेमी भाषा संबंधी प्रत्येक बात में समय और आवश्यकतानुसार अपनी नीति बदलेगी, परन्तु हर समय उच्छृंखलता और धाँधली

बाज़ी का दमन कर भाषा की मर्यादा रक्खेगी। उदाहरण के लिये, व्याकरण सदैव भाषा के बाद आता है और भाषा के पीछे पीछे लँगड़ाता हुआ चलता है, परन्तु प्रत्येक समय पर भाषा की मर्यादा बताने के लिये और भाषा को एक सीमा के भीतर रखने के लिये उस समय के व्याकरण की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार हिन्दी एकाडेमी प्रत्येक समय पर स्टैंडर्ड हिन्दी का आदर्श रक्खेगी, यद्यपि वह आदर्श स्वयम् समय के अनुसार बदल सकता है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी एकाडेमी भाषा पर स्थिर नियंत्रण नहीं, गतिशील नियंत्रण रक्खेगी।

(२) ये सब बातें प्रतिक्रियावादी हैं।

होंगी। ज़बर्दस्ती विदेशी अरबी फारसी शब्द मिलाकर 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने, देवनागरी की छाती पर विदेशी फारसी लिपि बैठाने और उसे देश पर लादने जैसे प्रतिक्रियावादी कार्यों की प्रतिक्रिया अपने आप होगी। अगर एक ओर भाषा को 'हिन्दुस्तानी' के नाम से अरबी-फ़ारसीमय बनाने का ज़ोरदार और जानबूझ कर प्रयत्न किया जा रहा है, तो देश की भाषा और संस्कृति के अभिमानियों को हिन्दी के नाम से भाषा विशुद्ध रखने और करने का प्रयत्न जानबूझ कर करना ही होगा। अगर 'हिन्दुस्तानी' की सर्व-भक्षी दानवी ने जन्म न लिया होता, अथवा उसके जन्म के लिये वर्षों में यज्ञ न हो रहा होता, तो हिन्दी को क़िलेबन्दी करने की ज़रूरत न पड़ती। अगर 'हिन्दुस्तानी' की बाढ़ न आई होती, तो हिन्दी पर मेंड़ बाँधने की आवश्यकता न होती। ऊपर जितनी बातें कही गई हैं उनके पीछे 'प्रतिक्रिया' और 'सांप्रदायिकता' की भावना नहीं, आत्म-रक्षा की भावना है। अपने को बचाना हमारा धर्म है। भारत के इतिहास में एक समय संस्कृत को भी यावनी भाषा के प्रभाव से बचाने की ज़रूरत पड़ चुकी है। आज मराठी, जिसका अपने प्रदेश में अखण्ड राज्य है, का अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार-कोष छप चुका है। आज अँगरेज़ी जैसी विकसित और शक्तिशाली

भाषा को विकृत होने से बचाने के लिये आये दिन प्रयत्न होते रहते हैं। फिर कल की हिन्दी को, जो अभी बचपन से जवानी में पदार्पण ही कर रही है, कलुषित और विकृत होने से बचाना किस प्रकार 'प्रतिक्रिया' कहा जा सकता है, विशेषकर तब जब कि उस पर 'हिन्दुस्तानी' छुरा ताने खड़ी हुई है और सर्वशक्तिमान कांग्रेस और गांधीजी उसे शह दे रहे हैं? प्राकृतिक समन्वय को कोई नहीं रोक सकता, परन्तु अप्राकृतिक समन्वय का, जिसका अर्थ हो मृत्यु, क्या किया जाय? पिछले दस वर्षों में हिन्दी उत्तरोत्तर विकृत की गई है, उसमें अनेक अरबी फारसी शब्द ज़बर्दस्ती घुसेड़े गये हैं, परन्तु इन दस वर्षों में उर्दू में क्या अन्तर हुआ है, उसमें कितने हिन्दी शब्द घुसे या घुसेड़े गये? क्या यही 'समन्वय' है? आज हिन्दी को बिगाड़ने वाले चारो ओर सैकड़ों दिखाई दे रहे हैं, परन्तु उर्दू को बिगाड़ कर लिखने वाले या बोलने वाले कितने हैं? आज राष्ट्रीयता का बाना धारण किये हुये सैकड़ों कांग्रेसी हिन्दी के पीछे लट्ठ लिये घूम रहे हैं, और हिन्दी की सुन्नत करने के लिये उधार खाये बैठे हैं, परन्तु उर्दू से चूँ करने वाला कोई दिखाई नहीं देता। यदि ऐसे लोग हमें और हमारे सिद्धान्तों को प्रतिक्रिया-वादी बताते हैं, तो हमें एक बार नहीं सौ बार प्रतिक्रियावादी कहलाना स्वीकार है।

(३) ये सब बातें पुनरुत्थान (revivalism) की भावना से प्रेरित हैं।

अवश्य प्रेरित हैं। भारत के पिछले ४० वर्षों के इतिहास की सभी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनायें और आन्दोलन इस भावना का फल हैं। भारतीय पुनर्जागरण (Indian Renaissane) के युग की, जिसका आरम्भ राजा राममोहनराय से हुआ, सबसे महती प्रेरणा यही भावना है। इसी भावना के वशीभूत होकर हम आज स्वदेशी राज्य, स्वदेशी व्यवहार, स्वदेशी आचार-विचार और स्वदेशी भाषा की माँग कर

रहे हैं। हम आज अँगरेज़ियत, अँगरेज़ी भाषा और कोट पतलून का ही विरोध क्यों करते हैं? क्या ये सब बातें समाज में, समाज की चोटी की श्रेणियों के जीवन में नहीं घुस गई हैं, और उर्दू के समान नहीं लद गई हैं? राजभाषा अँगरेज़ी को ही निकालने की बात क्यों की जाती है? क्या अँगरेज़ी पिछले दो सौ वर्षों से राजभाषा नहीं है? क्या शिक्षित समाज के लिये आज अँगरेज़ी मातृ-भाषा से भी बढ़कर नहीं है? फिर उसकी जगह मातृ-भाषा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न क्यों किया जा रहा है? क्या अँगरेज़ी के शब्द शिक्षितों की भाषा में अरबी फारसी के शब्दों के समान नहीं घुस गये हैं? उन्हीं को मातृ-भाषा से क्यों बहिष्कृत किया जाता है*? जब मनुष्य चेतता है और 'स्व' को पहचानने की योग्यता प्राप्त करता है, और अपने पिछले ऐश्वर्य को याद कर उसे पुनः प्राप्त करना चाहता है, तभी उसमें कुछ करने की शक्ति आती है और तभी वह महानता की ओर अग्रसर होता है। "मैं बड़ा होता हूँ तो अपनी शक्तियों से।" मुझे प्रेरणा मिलती है, जीवनी शक्ति मिलती है तो अपनी भाषा से, अपने शब्दों से, इसलिये मैं अपनी भाषा को शुद्ध करना और रखना चाहता हूँ। आज फारस तो फारसी में से घुले मिले अरबी शब्द निकाल रहा है, और तुर्की अपनी भाषा में से घुले मिले अरबी और फारसी शब्द निकाल रहा है। फिर यदि हम हिन्दी में से उन विदेशी शब्दों को निकालना चाहते हैं जो उसमें ज़बर्दस्ती या अज्ञानतावश घुसेड़े जा रहे या घुस गये हैं, तो हमीं को दोष क्यों दिया जाता है? यह संस्कृति का प्रश्न है, और भाषा संस्कृति की प्रधान पोषक है। यदि हम आज हिन्दी की विशुद्धता की रक्षा नहीं करेंगे तो हिन्दी—वह भाषा जिसका

*श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल लिखते हैं कि जब कोई गांधीजी से 'हिन्दुस्तानी' में बात करते समय किसी अँगरेज़ी शब्द का व्यवहार करता है तो वे उसका मज़ाक उड़ाते हैं। हिन्दू मुसलमानों में समान भाव से प्रचलित अँगरेज़ी शब्दों के प्रति हिन्दुस्तानी वालों का यह रुख है, परन्तु अरबी फारसी शब्द बढ़ाये बिना 'हिन्दुस्तानी' हिन्दुस्तानी नहीं कहला सकती!

'हिन्दी' नाम से बोध होता है—मिट जायगी, और उसके साथ हमारी संस्कृति मिट जायगी, हमारा साहित्य मिट जायगा, हम अर्थात वह सब कुछ जिसका 'हम' और 'हमारा' से बोध होता है, मिट जायगा, गहरी धार्मिक हानि होगी और आने वाली पीढ़ियाँ हमें कोसेंगी। हमें आज हिन्दी की रक्षा करनी ही है, उसे चाहे प्रतिक्रिया कहा जाय, चाहे संकुचितहृदयता कहा जाय और चाहे रिवाइवलिज्म कहा जाय।

(४) साधारण जनता भाषा के प्रति जागरूक (language conscious) नहीं है।

नहीं है तो करना होगा। जनता तो भेड़ों के झुन्ड के समान है, उसे नेताओं ने जिधर हाँक दिया उधर चल दी। जनता किसी चीज़ से 'कांशस' नहीं होती, उसे कांशस' किया जाता है। जनता को पेट भर खाने और तन भर कपड़े के सिवा किसीऔर चीज़ की चिन्ता नहीं होती। संस्कृति का निर्माण और उसकी रक्षा जनता नहीं, जननायक किया करते हैं। भाषा के मामले में भी नेतृत्व साहित्यिक और विद्वान् ही करते हैं, जनता केवल उनका अनुसरण करती है। भारतीय जनता भी न 'लैंगुएज कांशस' है और न कभी थी। उसने सैकड़ों साल तक राजभाषा फारसी का पानी भरा फिर भी 'लैंगुएज कांशस' नहीं हुई। परन्तु फारसी से जनता की जो व्यावहारिक और सांस्कृतिक हानि हुई, वह जननायकों को मालूम है। भला हो अँगरेज़ बहादुर का जिसने फ़ारसी को हटाकर प्रान्तीय भाषाओं को प्रतिष्ठित किया, वर्ना न 'जनता' ने फारसी को हटाने की माँग की और न उसे (कितने ही जननायकों को भी) फारसी लदे रहने पर कोई उज्र था। आज 'जनता' को राजभाषा अँगरेज़ी से भी कोई शिकायत नहीं है—यह शिकायत तो उसमें अब नेता पैदा कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें, उन्हीं को, मालूम है कि इस अँगरेज़ी से क्या हानि होगी। 'जनता' तो अब भी खुशी से पैसे देकर अँगरेज़ी में दरख्वास्त लिखाने के लिये तैयार है। हाँ, यदि कांग्रेस सरकार उससे उसकी भाषा में ही

लिखी हुई दरख्वास्त मंजूर कर ले तो उसे खुशी अवश्य होगी, परन्तु 'अँगरेज़ी निकालो' की जो और जैसी भावना गांधीजी या अन्य नेताओं के दिमाग़ में काम कर रही है, उसकी बू भी 'जनता' को नहीं छू गई है। उसे तो यह अब बताया जा रहा है कि अँगरेजी विदेशी है, उसका बहिष्कार करो, अँगरेज़ी में भाषण मत दो, पत्र-व्यवहार मत करो, आदि। यह सब जनता को 'लैंगुएज कांशस' करना ही तो है। जनता को इँगलिस्तानी से भी कोई चिढ़ नहीं, वह खुशी खुशी अँगरेज़ी शब्द बोलने के लिये भी तैयार है, बल्कि वह उसे बड़प्पन का चिन्ह समझती है। चाहिये तो यह कि जनता से शिक्षित समाज की इँगलिस्तानी की नकल न करने के लिये भी न कहा जाय। अँगरेज़ी शब्दों के मामले में ही उसे 'कांशस' क्यों किया जाय? यदि 'हिन्दी बोलो क्लब' से साधारण जनता को दिलचस्पी नहीं हो सकती, तो प्रयाग के 'हिन्दुस्तानी बोलो क्लब' से भी उसे कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती, ऐसा क्लब भी नहीं स्थापित होना चाहिये। यदि 'हिन्दुस्तानी बोलो' का आन्दोलन हो सकता है, तो 'हिन्दी बोलो' का आन्दोलन भी हो सकता है। यदि हम जनता से अपनी प्राचीन संस्कृति और भाषा के अनुरूप अपनी भाषा सुधारने के लिये कहते हैं, तो इस पर किसी को क्यों आपत्ति होती है? जनता के लिये क्या अच्छा है, और भाषा की कौन सी प्रवृत्ति त्याज्य है और कौन सी ग्राह्य, इस पर तो जननायकों में मतभेद हो ही सकता है। यदि हम यह समझते हैं कि हिन्दी में 'हिन्दुस्तानी' के नाम से या किसी और नाम या 'वाद' की आड़ में अरबी फारसी शब्द भरने की प्रवृत्ति उतनी ही बुरी है जितनी अँगरेज़ी शब्द भरने की, और भाषा में से अनावश्यक अरबी फारसी शब्द उसी प्रकार निकालना चाहिये जिस प्रकार अनावश्यक अँगरेज़ी शब्द, तो क्या ग़लत समझते हैं? इस पर तर्क हो सकता है और विरोधियों को हम तर्क के लिये आमंत्रित करते हैं, परन्तु यह बात कि जनता 'लैंगुएज कांशस' नहीं है फिर क्या महत्व रखती है?

जो सज्जन यह कहते हैं कि जनता 'लैंगुएज कांशस' नहीं है, वे भी शायद यह पसंद न करेंगे कि उर्दू राजभाषा बनी रहे, परन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि 'जनता' उर्दू के भी विरुद्ध नहीं है, जनता अदालतों की भाषा से भी 'कांशस' नहीं है, यदि यही भाषा बनी रहे तो भी उसे कोई उज्र नहीं है अर्थात् यदि हिन्दुस्तानीवालों की 'हिन्दुस्तानी' के बजाय विशुद्ध उर्दू का ही दौर दौरा रहे, तो भी उसे कोई आपत्ति नहीं। वह उसे भी सहन कर लेगी और बिना उज्र के सौ साल से सहन कर ही रही है। 'उर्दू हटा कर हिन्दुस्तानी करो' यह नारा भी जनता का नहीं, केवल थोड़े से जननायकों का है। जनता ने तो अज्ञानता, निरक्षरता, ग़रीबी और गुलामी भी स्वीकार कर ली हैं। इनके प्रति जनता को 'कांशस' करना और इनसे जनता को मुक्ति दिलाना भी केवल कुछ जननायकों का काम है। उन्होंने ही जनता को बताया कि वह गुलाम है, पराधीन है, और उन्होंने ही उसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये उकसाया और स्वदेशी पर ज़ोर दिया। जिन्होंने यह सब कुछ किया, उन्हें ही भाषा के मामले में भी बताना होगा कि विदेशी शब्दों और विदेशी लिपि की पराधीनता भी बुरी है। उन्हें ही भाषा के मामले में भी स्वदेशी पर ज़ोर देना होगा, विदेशी शब्दों के प्रति जनता को कांशस करना होगा और उनसे मुक्त होने की इच्छा को उत्पन्न करना होगा। यदि स्वदेशी आन्दोलन के कुछ नेता स्वदेशी के तर्क को भाषा के मामले में अन्त तक (logical conclusion तक) निभाने के लिये तैयार नहीं, तो यह बात दूसरी है, परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि जनता को 'लैंगुएज कांशस' करना होता है और यह काम थोड़े से लोग ही किया करते हैं।

५. क्या हिन्दी कृत्रिम है ?

कुछ समय हुआ, देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद ने फरमाया कि हिन्दी बहुत हद तक कृत्रिम भाषा है, वह इने गिने लोगों की मातृ-भाषा है, और

सलाह दी कि हिन्दी वाले जितने ही अधिक अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग करेंगे उतना ही वे हिन्दी को अच्छा बनायँगे। जो 'हिन्दुस्तानी' जैसी कृत्रिम भाषा गढ़ने वालों के एक अगुआ हैं, जिन्होंने कृत्रिम रूप से 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने के लिये कमेटियाँ बैठाई हैं और जो स्वयम् हिन्दुस्तानीगढ़नभाओं के एक मुखिया हैं, उन्हें हिन्दी पर 'कृत्रिमता' का लांछन लगाना शोभा नहीं देता। हम उनसे यह भी पूछना चाहेंगे कि जिस 'हिन्दुस्तानी' को उन्होंने विहार पर लदवाया और अब फिर लदवाना चाहते हैं, वह ही कितने बिहारियों की 'मातृ-भाषा' है, और उन महमूद सीरीज़ और राजेन्द्र सीरीज़ की रीडरों की 'हिन्दुस्तानी' जिसने सीता को 'वेग़म' और वाल्मीकि को 'मौलवी' बना दिया, कहाँ तक अकृत्रिम और स्वाभाविक है, और फारसी लिपि जिसका सीखना वे सब बिहारियों के लिये अनिवार्य करना चाहते हैं, कहाँ तक किसी 'हिन्दुस्तानी' की, और कितने बिहारियों की स्वाभाविक लिपि है? यदि अधिकाधिक अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग ही अकृत्रिमता लाने का सबसे सरल नुस्ख़ा है, तो क्यों नहीं उन्होंने रवीन्द्र को अरबी-फारसीमय बँगला लिखने की सलाह दी, और क्यों नहीं वे गांधी जी से अरबी-फारसीमय गुजराती लिखने के लिये कहते? हिन्दी पर ही उनकी कृपा-दृष्टि क्यों है, उसी को वे अरबी-फारसीमय क्यों बनाना चाहते हैं? अस्तु, डा० राजेन्द्र प्रसाद के विचारों का तो उचित मूल्यांकन फिर होगा, परन्तु क्या हिन्दी वास्तव में कृत्रिम है?

हाँ, हिन्दी कृत्रिम है। वह कृत्रिम इसलिये नहीं है कि उसमें बहुत से अवांछनीय या बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत शब्द हैं—उर्दू में अवांछनीय या बोलचाल में अप्रचलित अरबी फारसी शब्दों की संख्या और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में अवांछनीय या बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत शब्दों की संख्या इससे कम नहीं है, वरन् वह कृत्रिम इसलिये है कि उसमें अनावश्यक, अवांछनीय, या बोलचाल में अप्रचलित, या हिन्दी शब्दों की अपेक्षा

कम प्रचलित अरबी फारसी शब्दों की भरमार है (हिन्दी का द्वैतवाद)। इस भरमार को दूर करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है। इस उद्देश्य के सफल होने पर हिन्दी आज की हिन्दी से अधिक संस्कृत-निष्ठ ही होगी, और उसमें अरबी फारसी शब्दों की संख्या और कम होगी। जहाँ तक हिन्दी में प्रचलित संस्कृत शब्दों का सम्बन्ध है वहाँ तक हिन्दी पर कृत्रिमता का आरोप केवल उन संस्कृत शब्दों के कारण किया जा सकता है जो हिन्दी प्रदेश की बोलचाल में कहीं—विशिष्ट शिक्षित वर्गों में या साधारण जनता में—प्रचलित नहीं हैं, परन्तु जिनमें से कुछ के देशज, कुछ के अरबी फारसी और कुछ के देशज और अरबी फारसी दोनों पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं। यदि, जैसा कि होना चाहिये, बोलचाल का माप-दण्ड विशिष्ट वर्गों की बोलचाल नहीं, वरन् हिन्दी प्रदेश की साधारण, बहुसंख्यक जनता की बोलचाल माना जाय, और इन संस्कृत शब्दों में से उन शब्दों को निकाल दिया जाय जिनके किसी भी प्रकार के पर्याय केवल विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित हैं, साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं क्योंकि उसे अपने नित्य के काम के लिये अभी तक उनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी, अर्थात यदि इन संस्कृत शब्दों में से उन संस्कृत शब्दों को छोड़ दिया जाय जिन्हें, इँगलिस्तानी में प्रचलित अँगरेज़ी शब्दों की भाँति विशिष्ट वर्गों में उनके अरबी फारसी पर्यायों के प्रचलित होते हुए, प्रचलित करने का हमें अधिकार है, तो शेष संस्कृत शब्दों की संख्या कुछ सौ से अधिक न होगी, क्योंकि दुर्भाग्यवश या सौभाग्यवश साधारण जनता के जीवन का स्तर इतना ऊँचा ही न हुआ कि उसे अपनी नित्य की बोलचाल के लिये एक लम्बी चौड़ी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती, और यदि उसे कभी आवश्यकता पड़ी भी, तो वह अपने प्राचीन शब्दों और प्राचीन शब्द-स्रोतों को छोड़कर अरबी फारसी की शरण लेने के लिये उस प्रकार मजबूर न हुई जिस प्रकार शहरों का शिक्षित समाज

मजबूर हुआ। ये बचे हुये कुछ सौ संस्कृत शब्द ऐसे हैं जो कहीं बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं, परन्तु जिनके देशज या अरबी फारसी पर्याय या दोनों प्रकार के पर्याय साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित हैं। इनमें से कुछ ऊपर के (२) (अ) वर्ग (पृष्ठ ४७) में आजाते हैं और शेष के अरबी फारसी पर्याय ऊपर के (१) (इ) (i) वर्ग (पृष्ठ ३५) में आ जाते हैं। इनके साथ क्या होना चाहिये, यह पहले बतलाया जा चुका है। यदि हिन्दी को कृत्रिमता या अकृत्रिमता की दृष्टि से नहीं, वरन् शुद्ध जनता की सुविधा की दृष्टि से देखा जाय, तो इन कुछ सौ संस्कृत शब्दों में उन संस्कृत शब्दों को और जोड़ना पड़ेगा जो शिक्षित समाज की बोलचाल में तो प्रचलित हैं परन्तु जनता की बोलचाल में जिनके अरबी फारसी पर्याय प्रचलित हैं (इनके अरबी .फारसी पर्याय ऊपर के (१) (इ) (ii) वर्ग (पृष्ठ ३५) में आ जाते हैं; इनके साथ क्या होना चाहिये, यह भी वहीं बताया जा चुका है)। इस प्रकार इन शब्दों की संख्या लगभग ५०० हो जायगी। यदि इन शब्दों में उन संस्कृत शब्दों को भी जोड़ ही दिया जाय जिन्हें छोड़ने के लिये ऊपर कहा गया है, अर्थात उन संस्कृत शब्दों को भी जोड़ दिया जाय जो शिक्षित समाज की बोलचाल में भी प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके अरबी फारसी पर्याय केवल शिक्षित समाज की साधारण बोलचाल में प्रचलित हैं—साधारण जनता को उनकी या उनके अरबी फारसी पर्यायों की अब तक ज़रूरत ही नहीं पड़ी (और इसलिये जिन्हें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रचलित करने का और उनके अरबी फारसी पर्यायों का बहिष्कार करने का हमें अधिकार है), अर्थात यदि, जहाँ तक बोलचाल का संबंध है, हिन्दी के केवल वे ही संस्कृत शब्द सब प्रकार से अकृत्रिम और अधिकारी समझे जायँ जो या तो साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित हैं या, यदि उनकी या उनके अरबी फारसी पर्यायों की आवश्यकता जनता को नहीं पड़ी—केवल शिक्षित समाज को पड़ी, तो

शिक्षित समाज की बोलचाल में प्रचलित हैं, तो इन शब्दों की संख्या लगभग एक हज़ार तक पहुँच जायगी (यदि केवल वे ही संस्कृत शब्द लिये जाते जो हिन्दी प्रदेश की बोलचाल में कहीं भी—जनसाधारण की बोलचाल या शिक्षित समाज की बोलचाल में—प्रचलित नहीं है, परन्तु जिनके देशज या अरबी फारसी पर्याय हिन्दी प्रदेश की बोलचाल में प्रचलित हैं, तो (१) (इ) (ii) वर्ग के अरबी फारसी शब्दों के संस्कृत पर्यायों को जोड़ने की आवश्यकता न पड़ती, और यह संख्या एक हजार से भी कम होती)। सारांश यह है कि किसी भी प्रकार या किसी भी दृष्टि से देखा जाय, हिन्दी में प्रचलित ऐसे संस्कृत शब्दों की संख्या जिन पर उँगली उठाई जा सकती है, किसी भी प्रकार एक हज़ार से अधिक नहीं है। अब सोचने की बात है कि क्या वह भाषा जिसकी कुल शब्द संख्या ५० हज़ार से अधिक हो और दिन प्रति दिन बढ़ती जाती हो, केवल एक हज़ार शब्दों के कारण कृत्रिम कही जा सकती है ? यह भी न भूलना चाहिये कि इन एक हज़ार संस्कृत शब्दों के देशज या अरबी फ़ारसी पर्याय भी (जो बोलचाल में प्रचलित हैं) हिन्दी में आते हैं। हिन्दी ने साधारण जनता की बोलचाल में प्रचलित सभी अरबी फारसी शब्दों को हो नहीं अपनाया है, वरन् उसमें विशिष्ट वर्गों की बोलचाल वाले अरबी फ़ारसी शब्द भी आते हैं, अर्थात यदि हिन्दी से किसी को शिकायत हो सकती है तो केवल इतनी ही कि इन एक हजार बोलचाल में प्रचलित देशज या अरबी फ़ारसी शब्दों के साथ साथ उनके बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत पर्याय क्यों आते हैं। हिन्दी में शब्दों के द्वैतवाद को दूर करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है, और इसे दूर करने के लिये जो सिद्धान्त यहाँ प्रतिपादित किये गये हैं उन पर आक्षेप करने का साहस 'अकृत्रिमता', 'स्वाभाविकता' या 'हिन्दुस्तानी' के बड़े से बड़े समर्थक को भी साहस न होगा। हम डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा 'हिन्दुस्तानी' के अन्य पक्षपा-

तियों को विश्वास दिलाते हैं कि इन सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी में से जितने संस्कृत शब्दों को निकालना पड़ेगा, उनसे उन अरबी फारसी शब्दों की संख्या कई गुना अधिक होगी जिन्हें हिन्दी में से इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार निकालना पड़ेगा। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि हिन्दी में आने वाले जिन अरबी फारसी शब्दों के विरुद्ध इस पुस्तक में आवाज़ उठाई गई है, उनकी संख्या भी इस समय एक हज़ार से अधिक नहीं हैं। इस पुस्तक को पढ़कर कोई यह कहने का साहस न करे कि हिंदी कोई भाषा नहीं, उसमें तो उर्दू के सभी शब्द आते हैं। ये एक हज़ार अरबी फ़ारसी शब्द वही हैं जिन्हें हिंदी लेखक हिंदी प्रदेश में अपने चारों ओर बोलचाल में सुनते हैं (देशज, संस्कृत तत्सम या तद्भव शब्दों के साथ साथ या अकेले), और असावधानी के कारण हिन्दी में स्थान दे देते हैं अथवा, यों कहिये, लिख जाते हैं। बोलचाल में बहुत अधिक शब्द हैं ही नहीं। एक ग़ुलाम और पिछड़े हुये देश के निवासियों की जिन पर पिछले एक हज़ार वर्षों से विदेशी शासकों ने सब गम्भीर कार्यों और व्यवहारों के लिये विदेशी भाषाओं को लाद रक्खा हो, बोलचाल की शब्दावली समृद्ध हो ही कैसे सकती है। बोलचाल की शब्दावली से सध ही कितने काम सकते हैं? यदि हिंदी में आनेवाले बोलचाल में प्रचलित इन एक हज़ार अरबी फ़ारसी शब्दों को रहने ही दिया जाय, और उनके देशज और बोलचाल में प्रचलित अथवा अप्रचलित संस्कृत पर्यायों का हिंदी से पूर्ण बहिष्कार कर भी दिया जाय, तो कौन सी समस्या हल होजायगी? यह प्रश्न तो फिर भी रह जायगा कि उन शब्दों को जिनकी गंभीर कार्यों के लिये आवश्यकता है (और जिनकी संख्या बहुत अधिक है और दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है) परन्तु जो बोलचाल में कहीं नहीं पाये जाते, कहाँ से और किन सिद्धांतों के अनुसार लाया जाय। ऐसे शब्दों के लिये उर्दू अरबी और फ़ारसी, अरब और फ़ारस की शरण क्यों लेती है? यदि ऐसे शब्दों के लिये उर्दू को अरबी फ़ारसी का दरवाज़ा खटखटाने का कोई अधिकार

है ही, तो हिंदी को संस्कृत और प्राचीन हिंदी साहित्य के पास जाने का एक हज़ार गुना अधिक अधिकार है। तथाकथित 'स्वाभाविकता' या 'हिंदुस्तानी' का कोई भक्त इसके विरुद्ध चूँ कर सकता है ? हिन्दी में इस समय भी लगभग १५ हज़ार संस्कृत शब्द हैं जो उर्दू के अरबी फ़ारसी शब्दों से सर्वथा भिन्न हैं और जिनके साथ साथ उनके उर्दू पर्याय हिंदी में कभी नहीं आते। १५ हज़ार ऐसे संस्कृत शब्दों के सामने एक हज़ार हिंदी शब्दों का, जिनके साथ साथ अरबी फ़ारसी पर्याय हिंदी में आते हैं, कोई विशेष महत्त्व नहीं। इन एक हज़ार शब्दों के विषय में चाहे जो कुछ निर्णय हो—चाहे सब के सब हिंदी शब्द निकाल दिये जायँ और उनके स्थान में केवल अरबी फ़ारसी शब्द रक्खे जायँ, चाहे थोड़े से हिन्दी शब्द निकाले जायँ और चाहे हिंदी शब्द और अरबी फ़ारसी शब्द दोनों रक्खे जायँ—इससे हिंदी के स्वतन्त्र अस्तित्व और उर्दू से पृथकत्व पर बिलकुल आँच नहीं आती। हमें बाज़ारू बोलचाल की नहीं, एक समृद्ध साहित्यिक भाषा की आवश्यकता है। हिंदी का भाग्य तो ऐसा फूटा है कि हिंदी के लेखक केवल बोलचाल—साधारण बोलचाल अथवा विशिष्ट वर्गों की बोलचाल—में प्रचलित अरबी फ़ारसी शब्दों को (बोलचाल में प्रचलित अथवा अप्रचलित अपने पर्यायों के होते हुए) लेकर ही सन्तुष्ट नहीं हैं वरन् वे उन शब्दों के मामले में भी जो कहीं बोल-चाल में प्रचलित नहीं हैं, और इसलिये जिन्हें हिंदी और उर्दू दोनों को संस्कृत या अरबी फ़ारसी से उधार लेना है, हिंदी में द्वैतवाद फैला रहे हैं (हिंदुस्तानी-वालों और 'हिंदुस्तानी' के प्रताप से ?), अर्थात् हिंदीवाले अप्रचलित और अनावश्यक उर्दू शब्द हिंदी में घुसेड़ रहे हैं, और हिंदुस्तानीवालों की सिखाई हुई राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता की परिभाषा की लपेट में आकर अपने बहुप्रचलित हिंदी शब्द बोलने से भी शर्माते हैं। लेखक को इसकी अधिक आशा नहीं कि हिन्दीवाले इस पुस्तक को पढ़कर हिंदी में घुसे हुये इन एक हज़ार अरबी फ़ारसी शब्दों को यहाँ प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार घटाने

का प्रयत्न करेंगे। उसे केवल थोड़ी सी आशा यह है कि हिंदीवाले शायद आगे के लिये सावधान हो जायँ और अपने ही हाथों हिंदी की कब्र तैयार करना छोड़ दें। हिंदुस्तानीवाले इस पुस्तक को पढ़कर भड़कें नहीं।

जब हिंदी की कृत्रिमता का सवाल उठा है तब उर्दू की हालत पर भी सरसरी नज़र डालना असंगत न होगा। उर्दू डेढ़ सौ साल से अधिक से हिंदी शब्द मतरूक करती आरही है। उर्दू ने जनता की बोलचाल में प्रचलित सैकड़ों देशज, और संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों को मतरूक कर दिया है और उनके स्थान में अरबी फ़ारसी शब्दों को भर लिया है। इन अरबी फ़ारसी शब्दों में से कुछ जनता की बोलचाल में प्रचलित होगये हैं, कुछ केवल शिक्षित समाज की बोलचाल में प्रचलित हैं, कुछ विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में प्रचलित हैं, और शेष कहीं बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं। हिंदी में बोलचाल में प्रचलित किसी देशज या संस्कृत तत्सम या तद्भव शब्द को मतरूक करने का कभी प्रश्न ही नहीं उठा और न कभी उठ सकता है। इतना ही नहीं, हिंदी में बोलचाल में प्रचलित सभी अरबी फारसी शब्द भी, बोलचाल में प्रचलित हिंदी पर्यायों के होते हुये, आते हैं, परन्तु उर्दू में बोलचाल में प्रचलित हिन्दी शब्द, यदि बोलचाल में उनके उर्दू पर्याय प्रचलित हों तो, कभी नहीं आते। उर्दू के ऐसे अरबी फारसी शब्दों की संख्या भी जो साधारण बोलचाल में कहीं प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके हिन्दी पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं, उन संस्कृत शब्दों की संख्या से कहीं अधिक है जो बोलचाल में कहीं प्रचलित नहीं हैं परन्तु जिनके अरबी फारसी पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं। हिन्दी में जहाँ ऐसे बोलचाल में अप्रचलित संस्कृत शब्दों के साथ उनके बोलचाल में प्रचलित अरबी फारसी पर्याय भी आते हैं, वहाँ उर्दू में बोलचाल में अप्रचलित अरबी फारसी शब्दों के साथ उनके बोलचाल में प्रचलित हिन्दी पर्याय कभी नहीं आते। हिन्दी के जितने संस्कृत शब्दों के विरुद्ध हमें यह शिकायत है कि उनके देशज पर्याय प्रचलित होते हुए उन्हें क्यों

प्रयुक्त किया जाता है, उन सबके (वास्तव में उनसे अधिक के) अरबी फ़ारसी पर्याय उर्दू में प्रयुक्त होते हैं; बल्कि जहाँ हिन्दी में संस्कृत शब्दों के साथ साथ देशज पर्याय भी आते हैं वहाँ उर्दू में देशज हिन्दी पर्याय नहीं आते। इन अरबी फ़ारसी शब्दों के मुट्ठी भर लोगों की बोलचाल में प्रचलित होने के कारण उर्दू कृत्रिमता के दोष से बरी नहीं हो सकती। ऐसे विशिष्ट वर्गों की बोलचाल में इन देशज शब्दों के हिन्दी संस्कृत पर्याय भी मिल जायँगे। फिर, हिन्दी के जितने संस्कृत शब्दों के विरुद्ध हमें यह शिकायत है कि उन्हें बोलचाल में उनके अरबी फ़ारसी पर्यायों के उनसे अधिक प्रचलित होते हुये क्यों प्रयुक्त किया जाता है, उनसे अधिक संख्या में उर्दू के ऐसे अरबी फ़ारसी शब्द हैं जिनके संस्कृत पर्याय बोलचाल में उनसे अधिक प्रचलित हैं; बल्कि जहाँ हिन्दी में ऐसे संस्कृत शब्दों के साथ साथ उनके बोलचाल में उनसे अधिक प्रचलित, अरबी फ़ारसी पर्याय भी आते हैं, वहाँ उर्दू में ऐसे अरबी फ़ारसी शब्दों के साथ उनके बोलचाल में उनसे अधिक प्रचलित संस्कृत पर्याय कभी नहीं आते। हिन्दी के जितने संस्कृत तत्सम शब्दों के विरुद्ध किसी को यह शिकायत हो सकती है कि वे बोलचाल में उसी रूप में नहीं बोले जाते, उनसे उर्दू के ऐसे तत्सम अरबी फ़ारसी शब्दों की संख्या कम नहीं है जो बोलचाल में उसी रूप में नहीं बोले जाते। जो शब्द कहीं की बोलचाल में प्रचलित नहीं है, उनके लिये उर्दू स्वदेश छोड़ कर विदेशों की ख़ाक छानती है, अपने को एक विदेशी लिपि में (जिसके विषय में शंका हो ही नहीं सकती कि वह हिन्दी की स्वाभाविक लिपि नहीं है, हिन्दी लिखने के उपयुक्त नहीं है और देवनागरी की अपेक्षा कहीं कम प्रचलित है) लिखती है, अपने को विदेशी आभूषणों से सजाती है और विदेशी संस्कृति अपनाती है। ये सब बातें अलग हैं। जिस प्रकार हिन्दी में बोलचाल में प्रचलित सभी अरबी फ़ारसी शब्द भी आते हैं उसी प्रकार उर्दू में बोलचाल में प्रचलित सभी

हिन्दी शब्द—देशज, संस्कृत तत्सम या तद्भव—भी आवें, और यदि उर्दू इस द्वैतवाद को नहीं अपना सकती तो ऊपर प्रतिपादित जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अरबी फारसी शब्द हिन्दी में रखना चाहते हैं कम से कम उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार उर्दू में हिन्दी संस्कृत शब्द आवें—यह हमारा उन उर्दू वालों को जवाब है जो हिन्दी से अरबी फारसी शब्दों का बहिष्कार करने के लिये ऊपर प्रतिपादित सिद्धान्तों पर उँगली उठाना चाहें। जिन सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार हिन्दी के संस्कृत शब्दों को साधारण बोल-चाल में अप्रचलित, परन्तु उनके अरबी फारसी या देशज पर्यायों को साधारण बोलचाल में प्रचलित बताया जाता है, और जिन सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार हिन्दी के संस्कृत शब्दों को उनके अरबी फारसी या देशज पर्यायों की अपेक्षा साधारण बोलचाल में कम प्रचलित बताया जाता है, उन्हीं सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार उर्दू अपने ऐसे अरबी फारसी शब्दों का त्याग करे जो साधारण बोलचाल में प्रचलित नहीं है परन्तु जिनके संस्कृत या देशज पर्याय साधारण बोलचाल में प्रचलित हैं, और ऐसे अरबी फारसी शब्दों का त्याग करें जो संस्कृत या देशज पर्यायों की अपेक्षा साधारण बोलचाल में कम प्रचलित हैं, और यदि उर्दू ऐसा नहीं कर सकती तो कम से कम वह अपने आपत्तिजनक अरबी फारसी शब्दों के साथ वैसा व्यवहार करने को तैयार हो जैसा हिन्दी के आपत्तिजनक संस्कृत शब्दों के साथ करने के लिये ऊपर जोर दिया गया है—यह हमारी उन उर्दू वालों को चुनौती है, जो हिन्दी को कृत्रिम बताते हैं।

अब 'हिन्दुस्तानी' की अकृत्रिमता (!) को लीजिये। 'हिंदुस्तानी' के भक्तों के सामने दो ही रास्ते हैं। वे 'हिंदुस्तानी' का ढाँचा खड़ी बोली को आधार मान कर या तो बोलचाल की भाषा की दृष्टि से खड़ा कर सकते हैं या लिखित भाषा की दृष्टि से। पहले बोलचाल को लीजिये। हम हिन्दुस्तानी वालों को आमंत्रित करते हैं कि वे इस सिद्धान्त को रक्खें कि

वे हिन्दुस्तानी को जिस प्रदेश की भाषा बनाना चाहते हैं उस सम्पूर्ण प्रदेश की बोलचाल में एक शब्द के प्रचलित विभिन्न पर्यायों में से उस पर्याय को हिंदुस्तानी में लेंगे जिसे सब से अधिक व्यक्ति बोलते हों, और उन शब्दों के मामले में जिनकी अभी तक नित्य की साधारण बोलचाल में आवश्यकता ही नहीं पड़ी, अर्थात् जो बोलचाल में हैं ही नहीं, वे हिंदुस्तानी के लिये हिंदुस्तान के अपने स्रोतों को शरण लेंगे। बोलचाल में प्रचलित सभी अरबी फ़ारसी शब्द हम लेते हैं (और एक बार को हम बोलचाल में प्रचलित उनके स्वदेशी पर्यायों को, चाहे वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हों अथवा अधिक, बिलकुल छोड़ने को भी तैयार हैं), बोलचाल में अप्रचलित सभी आवश्यक शब्द उर्दूवाले और हिंदुस्तानीवाले हिंदुस्तानी स्रोतों से लें। यही सीधी और सच्ची बात है, और 'बोलचाल की भाषा सबसे पहले', इस सिद्धांत का यही अर्थ हो सकता है। यदि हिंदुस्तानीवाले इस बात के लिये, अर्थात् बोलचाल में अनुपस्थित शब्दों के लिये हिंदुस्तान के पुराने 'मुर्दा' स्रोतों को प्राथमिक महत्त्व देने को तैयार नहीं, तो हम कहते हैं कि बोलचाल में अनुपस्थित शब्द वे उस प्रदेश, जिसकी भाषा वे हिंदुस्तानी बनाना चाहते हैं, में प्रचलित साहित्यिक भाषाओं से लें, और एक शब्द के विभिन्न पर्यायों में से उसको लें जिसे सबसे अधिक व्यक्ति लिखते हों। (उदाहरण के लिये यदि इन्तज़ार, बाट, प्रतीक्षा में से 'बाट' सब से अधिक व्यक्तियों की बोलचाल में आता है तो 'बाट' लें; आसमान, आकाश में से 'आसमान' अधिक चलता है तो 'आसमान' लें, एतराज़, आपत्ति में से 'एतराज़' बोलचाल में अधिक आता है तो 'एतराज़' लें; तहज़ीब, सभ्यता में से 'सभ्यता' अधिक व्यक्तियों की बोलचाल में आता है तो 'सभ्यता' लें; और 'अन्तर्राष्ट्रीय' 'राजनीतिक,' 'दशमलव', 'बैनुलअक़वामी', 'स्यासी', 'आशार्या' में से 'अन्तर्राष्ट्रीय', 'राजनीतिक', 'दशमलव' लें, क्योंकि ये शब्द या उनके उर्दू पर्याय कहीं बोलचाल में नहीं आये, परन्तु साहित्य में इन शब्दों को उर्दू पर्यायों की

अपेक्षा अधिक व्यक्ति लिखते हैं।) यदि वे हिंदुस्तानी को हिंदी प्रदेश की भाषा बनाना चाहते हैं, तो वे इन सिद्धांतों को, जो किसी स्वदेशी-भावना पर नहीं, बरन् शुद्ध प्रजातन्त्र या लोकतंत्र पर अवलम्बित हैं, संपूर्ण हिंदी प्रदेश की बोलचाल और हिंदी प्रदश की साहित्यिक भाषाओं अर्थात् हिंदी और उर्दू पर लागू करके हिंदुस्तानी गढ़ें। यदि वे हिंदुस्तानी को सम्पूर्ण भारत की भाषा अर्थात् राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं, तो वे इन सिद्धान्तों को संपूर्ण भारत की बोलचाल और संपूर्ण भारत की साहित्यिक भाषाओं पर लागू करके हिंदुस्तानी गढ़ें। हम दावा करते हैं कि इस प्रकार जो हिंदुस्तानी बनेगी वह दोनों ही प्रकरणों—हिंदी प्रदेश के अथवा समूचे राष्ट्र के—में आधुनिक हिंदी से केवल इतनी भिन्न होगी कि उसमें आधुनिक हिंदी की अपेक्षा अरबी फ़ारसी शब्दों की संख्या और भी कम होगी—वह बिलकुल वही होगी जो ऊपर प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार हिन्दी का परिष्कार करने के बाद हिंदी हो जायगी। यदि हिंदुस्तानीवाले दूसरे रास्ते से अर्थात् लिखित भाषा की दृष्टि से चलना चाहते हैं, तो वे हिंदी प्रदेश के प्रकरण में हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषाओं अर्थात् आधुनिक हिंदी और आधुनिक उर्दू में से उन शब्दों को लें जिन्हें हिंदी प्रदेश में अधिक व्यक्ति लिखते हों, और राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में खड़ी बोली को आधार मान कर संपूर्ण भारत की साहित्यिक भाषाओं में से उन शब्दों को लें जिन्हें अधिक व्यक्ति लिखते हों। हम दावा करते हैं कि इस प्रकार जो हिंदुस्तानी बनेगी उसमें हिंदी प्रदेश के प्रकरण में आधुनिक हिंदी की अपेक्षा एक भी अरबी फ़ारसी शब्द अधिक न होगा, और राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में वे वह आधुनिक हिंदी से भी अधिक संस्कृत-निष्ठ होगी। परन्तु हिंदुस्तानीवाले कहीं ठहरें, अपने श्रीमुख से किसी सिद्धांत का प्रतिपादन करें तब तो। सिद्धांत का तो यह भी तक़ाज़ा है कि एक भाषा हिंदुस्तानी एक ही लिपि में लिखी जाय*, और वह लिपि ऐसी हो

* पं० राधेश्याम कथावाचक ने एक बार 'उर्दू हिन्दी से अधिक बोली

जिसमें ऊपरवाले सिद्धांतों के अनुसार निर्मित हिंदुस्तानी शुद्ध लिखी और पढ़ी जा सके, और जो हिन्दी प्रदेश के प्रकरण में हिंदी प्रदेश में, और राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में राष्ट्र में अधिक प्रचलित हो, और जिसे अधिक व्यक्ति जानते हों। मगर सच तो यह है कि हिंदुस्तानीवाले हिंदुस्तानी को किसी सिद्धान्त के अनुसार नहीं, बरन् सब सिद्धान्तों को ताक़ पर रखकर हिंदी-उर्दू की खिचड़ी अर्थात् एक प्रकार की उर्दू—आधुनिक उर्दू की अपेक्षा ज़रा कम अरबी-फ़ारसीमय उर्दू—बनाना चाहते हैं। (इस हिंदुस्तानी के नमूने डा० राजेन्द्रप्रसाद के ही प्रान्त में कांग्रेस सरकार द्वारा स्थापित जन-साक्षरता-समिति के पत्र 'रोशनी' और डा० राजेन्द्रप्रसाद की आशीर्वाद-प्राप्त महमूद रीडरों में और राजेन्द्र सीरीज़ की रीडरों में मिल सकते हैं।) वे हिंदुस्तानी को जनता-जनार्दन की सेवा के लिये, सब से अधिक व्यक्तियों की सब से अधिक सुविधा के लिये जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं, बरन् एकता का स्वाँग रचने के हेतु पाकिस्तानियों, मुस्लिम लीगियों को खुश करने के लिये बनाना चाहते हैं। यहाँ यह बताना असंगत न होगा कि जब बिहार की कांग्रेस सरकार द्वारा स्थापित हिंदुस्तानी-गढ़-कमेटी में कमेटी-के एक सदस्य पं० रामनरेश त्रिपाठी ने यह प्रस्ताव रक्खा कि हिंदुस्तानी के लिये शब्द हिंदी उर्दू के कोषों से छाँटने के बजाय हिंदी प्रदेश की जनपदीय बोलियों में से—जनता के वास्तविक शब्द—ले लिये जायँ, तो उन से अन्य सदस्य सहमत न हुये, और त्रिपाठीजी को त्याग-पत्र देना पड़ा। यह है 'अकृत्रिम' हिंदुस्तानी, 'जनता की हिंदुस्तानी' की असलियत, और यह है उस प्राकृतिक, स्वाभाविक हिंदुस्तानी की कहानी जिसे हिंदी पर कृत्रिमता का

जाती है—उर्दू बोलने की भाषा है और हिन्दी लिखने की', यह दावा करने वाले एक व्यक्ति को यह उत्तर दिया कि अच्छा, उर्दू वाले लिखने के लिये देवनागरी स्वीकार कर लें हम उर्दू को ही हिन्दी मनवा देंगे। हम हिंदुस्तानी वालों से कहते हैं कि वे हिन्दुस्तानी की एक ही लिपि देवनागरी रक्खें, हम उर्दू को ही हिन्दुस्तानी मान लेंगे।

आरोप करनेवाले डा० राजेन्द्रप्रसाद ने बिहार पर लादा और अब फिर लादना चाहते हैं। यदि वे वास्तव में हिंदी को कृत्रिम भाषा समझते हैं, और उर्दू को अकृत्रिम भाषा समझते हैं, तो समझ में नहीं आता वे हिंदुस्तानी क्यों गढ़ना चाहते हैं, उर्दू को ही वे वास्तविक हिंदुस्तानी और बिहार की भाषा क्यों नहीं घोषित कर देते? यदि वे उर्दू को भी कृत्रिम समझते हैं, तो समझ में नहीं आता कि वे दो कृत्रिम भाषाओं हिंदी और उर्दू से कृत्रिम उपायों से एक अकृत्रिम हिंदुस्तानी किस प्रकार मथ कर निकाल लेंगे। हाँ, यदि हिंदुस्तानी, श्री आनन्द कौसल्यायन के शब्दों में, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की नहीं, हिंदू-मुस्लिम पैक्ट की भाषा है, तो बात दूसरी है। और वह पैक्ट भी कैसा जिसकी नींव में पानी मरता है, जो बनावटी और अस्थाई है, और जिस पर एक फरीक़ तो जान देने को तैयार है, दूसरा दस्तख़त करने को भी तैयार नहीं—जिगे मान कर अपनी ईमानदारी दिखाने के लिये एक तो अपनी गर्दन काटने को तैयार है (बल्कि काट रहा है), दूसरा अपनी मूँछें नीची करने को भी तैयार नहीं! यह याद रहे कि बिहार की कांग्रेस सरकार ने हिन्दुस्तानी गढ़ कमेटी बैठाई, और बिहार पर हिन्दुस्तानी को लादा, परन्तु सीमा-प्रांत की कांग्रेस सरकार ने शुद्ध उर्दू और केवल उर्दू लिपि छोड़ कर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी या लिपि से नाता नहीं जोड़ा *। यह भी याद रहे कि डा० राजेन्द्रप्रसाद की राय में, मालूम होता है, 'हिन्दुस्तानी' केवल बिहार के हिन्दुओं की 'स्वाभाविक' भाषा है, क्योंकि राजेन्द्र-प्रसाद-हक़ समझौते के अनुसार बिहार के मुसलमान छात्र 'हिन्दुस्तानी' पढने के लिये बाध्य नहीं किये गये—उन्हें 'हिंदुस्तानी' के बजाय उर्दू पढ़ने का विकल्प दिया गया, परन्तु हिन्दू छात्रों को यह विकल्प नहीं दिया गया। यह है डा० राजेन्द्रप्रसाद की 'अकृत्रिम' हिन्दुस्तानी, और कांग्रेस की तथाकथित कामन भाषा, राष्ट्र-भाषा का पोलखाता।

* आगे 'हिन्दुस्तानी की बला' शीर्षक प्रकरण भी देखिये।

अब रही मातृ-भाषा की बात। सो खड़ी बोली ही कितने व्यक्तियों की मातृ-भाषा है ? खड़ी बोली केवल डेढ़ ज़िलों की मातृ-भाषा है। वहाँ भी सब लोग एक ही प्रकार की खड़ी बोली नहीं बोलते और एक ही शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। कोई 'बोली' एक विशाल प्रदेश की और बहु-संख्यक जनता की मातृ भाषा नहीं हो सकती। जो खड़ी बोली उत्तरी भारत के शहरों में बोली जाती है, वह उसके बोलने वालों की मातृ-भाषा तो नहीं है ही, उसका स्वरूप भी सब जगह एक सा नहीं है। फिर किस खड़ी बोली को आदर्श मानें, अर्थात् किस खड़ी बोलचाल को साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार मानें ? यह कहना बिलकुल ग़लत और बेकार है कि किसी स्थान विशेष की हिन्दुस्तानी बोलचाल ऐसी है कि वह पेशावर से पटना तक के विशाल प्रदेश में सब जगह एक समान 'आमफहम' है, और इसलिये उसी को साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार बनाया जाय। पेशावर से पटना तक के विस्तृत प्रदेश में स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न प्रकार की खड़ी बोली बोली जाती है, अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है। हाँ, हिन्दी और उर्दू का रूप सब जगह एक सा है, क्योंकि वे साहित्यिक, लिखित भाषायें हैं और सब जगह एक ही रूप में पढ़ाई जाती हैं, और उन्हें जो पढ़ते हैं, वे उन्हें समझते हैं—सब अपने आप नहीं समझने लगते। इसी प्रकार जो भी साहित्यिक हिन्दुस्तानी बनाई जायगी वह भी पटना से पेशावर तक सब जगह सबकी समझ में अपने आप नहीं आ जायगी। उसे भी हिन्दी उर्दू के समान पढ़ाना पड़ेगा। फिर किसी ख़ास, छोटे से स्थान या वर्ग की हिन्दुस्तानी बोलचाल को उस साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार क्यों बनाया जाय ? यदि हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली उत्तरी दोआब की मातृ-भाषा है और इसलिये उत्तरी दोआब का विशेष महत्त्व है, तो भी एक ज़िले की हिन्दुस्तानी बोलचाल को (जो स्वयम् ज़िले में भी सब जगह एक सी नहीं है) इतने विशाल प्रदेश या सम्पूर्ण

भारत की साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार क्यों बनाया जाय ? (एक बार पं० सुन्दरलाल ने फरमाया कि राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी का आदर्श दिल्ली नगर की गलियों में बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी है !) यदि आज खड़ी बोली युक्त-प्रान्त, बिहार, मध्य-प्रान्त और राजस्थान की साहित्यक भाषा, या राष्ट्र-भाषा का आधार मानी जा रही है, तो इसका कारण यह नहीं है कि खड़ी बोली एक या दो ज़िलों की मातृ-भाषा है, वरन् यह है कि खड़ी बोली दूर दूर तक फैल गई है, दूर दूर तक बोली जा रही है और सैकड़ों वर्षों के दौरान में खड़ी बोली का एक ऐसा स्वरूप तैयार हो चुका है जो हिन्दी प्रान्तों में और सारे देश में अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिये सुलभ है। तात्पर्य यह कि पेशावर से पटना तक के प्रदेश की साहित्यिक हिन्दुस्तानी का आधार किसी स्थान विशेष की हिन्दुस्तानी बोलचाल नहीं, वरन् खड़ी बोली का वही स्वरूप हो सकता है जो इस प्रदेश के अधिक से अधिक व्यक्तियों केलिये सुलभ हो, अर्थात् उसमें हिन्दी प्रदेश में सबसे अधिक प्रचलित शब्द ही रक्खे जा सकते हैं। देश की राष्ट्र-भाषा साहित्यिक हिंदुस्तानी का आधार भी किसी स्थान विशेष की हिन्दुस्तानी बोलचाल नहीं, वरन् खड़ी बोली का वही स्वरूप हो सकता है जो देश के अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिये सुलभ हो, अर्थात् उसमें देश में सबसे अधिक प्रचलित शब्द ही रक्खे जा सकते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, दोनों ही दृष्टियों से यह आधार आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी में अन्तर्निहित है, और यदि खड़ी बोली के इस सर्वाधिक सुलभ स्वरूप के आधार पर सर्वाधिक सुलभता के सिद्धान्त के अनुसार ही एक साहित्यिक हिन्दुस्तानी का निर्माण किया जाय, तो वह आधुनिक साहित्यिक हिन्दी से भिन्न न होगी। दूसरे शब्दों में, आधुनिक हिन्दी ही हिन्दी प्रदेश और सम्पूर्ण देश के लिये सबसे अधिक सुलभ और सबसे अधिक उपयुक्त हिन्दुस्तानी है। यदि हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी उर्दू की खिचड़ी किसी जनतन्त्रात्मक सिद्धान्त के अनुसार

हिन्दुस्तानी गढ़ने के लिये नहीं, वरन् हिन्दू-मुस्लिम पैक्ट की भाषा तैयार करने के लिये पकाना चाहते हैं, तो वे उसे केवल राष्ट्र-भाषा बनावें—उसे वे किसी प्रान्त की भाषा क्यों बनाते हैं ? जिस प्रकार अन्य प्रान्त अपनी अपनी साहित्यिक भाषाओं को प्रान्त की भाषा बनाने के लिये स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त को अपने यहाँ उस खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने का अधिकार होना चाहिये जो उनके लिये सबसे अधिक सुलभ हो। ख़ास तौर से यदि बिहार किसी प्रकार की खड़ी बोली को अपनाना चाहता है, तो उसके लिये वही खड़ी बोली सबसे अधिक उपयुक्त होगी जो बिहारियों के लिये सबसे अधिक सुलभ हो और बिहार की मातृ-भाषाओं के सबसे अधिक निकट हो। इस प्रकार आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी ही बिहार के लिये सबसे अधिक उपयुक्त खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी ठहरती है*। फिर बिहार में हिन्दी के बजाय हिन्दू-मुस्लिम पैक्ट वाली हिन्दुस्तानी को प्रान्त-भाषा क्यों बनाया जाता है ? जो कोई हिन्दुस्तानी हिन्दी में उर्दू मिलाकर गढ़ी जायगी, वह उतनों से अधिक की मातृ-भाषा हो ही नहीं सकती जितनों की मातृ-भाषा खड़ी बोली हिन्दी है; हाँ, वह हिन्दी की अपेक्षा अधिक कठिन अवश्य हो जायगी। ऐसी अवस्था में डा० राजेन्द्र-प्रसाद यह बतलाने की कृपा करें कि मातृ-भाषा की दुहाई देकर हिन्दुस्तानी गढ़ने का क्या अर्थ है, और यह भी बतलाने की कृपा करें कि बिहार पर हिन्दी छोड़कर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी को लादने का क्या कारण है, और देव-नागरी के साथ किसी दूसरी लिपि को लादने का क्या कारण है ? और यदि उनका हिन्दी को ही रखने का विचार है, तो उसे उसके पुराने और प्रचलित नाम 'हिन्दी' के बजाय 'हिन्दुस्तानी' नाम से क्यों पुकारा जाय ?

मातृ-भाषा के सम्बंध में यह भी ध्यान देने की बात है कि कोई भी भाषा केवल बोलचाल में आने वाले शब्दों से काम नहीं चला सकती। भाषा और

*देखिये परिशिष्ट ४ (टिप्पणी)

बोली में यही अन्तर होता है। किसी प्रदेश की साहित्यिक भाषा वही कहलाती है जिसमें उस प्रदेश की बोलियाँ अन्तर्निहित होती हैं। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा है। यदि वह इसी रूप में अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं है, तो उर्दू भी इसी रूप में अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं है, वर्धा की हिन्दुस्तानी भी अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं है, कोई भी साहित्यिक हिन्दुस्तानी उसी रूप में अधिक मनुष्यों की मातृ-भाषा नहीं हो सकती, आधुनिक साहित्यिक बँगला भी उसी रूप में अधिक बंगालियों की मातृ-भाषा नहीं है, और आधुनिक साहित्यिक गुजराती, मराठी, तामिल या तेलगू भी उन्हीं लिखित रूपों में अधिक व्यक्तियों की मातृ-भाषायें नहीं हैं (और इन भाषाओं में भी हिन्दी की भाँति ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जो बोलचाल में प्रचलित नहीं हैं, परन्तु उनके अन्य पर्याय बोलचाल में प्रचलित हैं, अर्थात् इन भाषाओं के भी लिखित रूपों और बोलचाल के रूपों में वही अन्तर है जो लिखित हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी में है, और जो सर्वत्र लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में होता है), परन्तु इस कारण उन्हें कृत्रिम बताने का या उनमें अरबी फारसी का पुट देने का साहस किसी ने नहीं किया।

२

हिन्दुस्तानी की बला

अब तक हिन्दी के परिष्कार की, अर्थात् अपने घर की बात कही गई। जब किसी बाहरी शत्रु से मुकाबला करना होता है, तो पहले अपने घर की स्थिति ही ठीक करनी होती है। आज हिन्दी को एक नये शत्रु 'हिन्दुस्तानी' का मुकाबला करना है, इसलिये पहले इसी पर विचार किया गया कि हिन्दी को अन्दर से मज़बूत बनाने के लिये हिन्दी में क्या क्या सुधार करने की आवश्यकता है। अब यह देखना होगा कि इस शत्रु का क्या स्वरूप है, उसकी क्या चाल है, उसमें कितनी शक्ति है, उसका क्या अभिप्राय है और उसका दमन किस प्रकार करना चाहिये।

जहाँ तक राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी-वाद के सैद्धान्तिक पहलुओं का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनका विवेचन लेखक अपनी पुस्तक 'राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन'* में कर चुका है। उस पुस्तक में हिन्दुस्तानी वालों के सब तर्कों का समुचित उत्तर दे दिया गया है, और उनके आन्दोलन की पोल भी खोल दी गई है। परन्तु यह शक्ति का युग है, तर्क का नहीं। जिसकी लाठी, उसकी भैंस। इसी युग-धर्म को पहचान कर हिन्दुस्तानी वाले अपने हिन्दुस्तानी-वाद को तर्क-संगत और न्याय-संगत सिद्ध करने की चिंता किये बिना एक ओर अपने विरोधियों—हिन्दी, और हिन्दी साहित्य सम्मेलन—को नेस्तनाबूद करने में व्यस्त हैं और दूसरी ओर येन केन प्रकारेण जनता को झाँसा देकर, उसकी राष्ट्रीय भावना, गांधीजी और कांग्रेस के नाम से लाभ उठाकर शक्ति प्राप्त

* प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला, लाटूश रोड, लखनऊ।

करने में संलग्न है। हिन्दी वालों को तनिक विस्तार से बताने की ज़रूरत है।

१. हिन्दुस्तानी आन्दोलन का एकतरफा स्वरूप

हिन्दुस्तानी आन्दोलन एकतरफा है। कहने के लिये तो हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी और उर्दू के साथ एक समान व्यवहार करना चाहते हैं, परन्तु सत्य कुछ और ही है। **हिन्दी का—और केवल हिन्दी का—अस्तित्व ही मिटाया जा रहा है, उसे भारतीय भाषाओं की सूची में से ही निकाल बाहर किया जा रहा है।** निम्नलिखित सत्यों पर गौर कीजिये—

१. कांग्रेस वाले अर्थात् सब हिन्दू अपनी राष्ट्रीयता दर्शाने के लिये 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् ज़बरदस्ती उर्दू शब्द मिला-मिला कर—कोई कोई सा शब्द, कोई कोई सा शब्द—बोलें, सब मुसलमान—लीगी या कांग्रेसी या नेशनलिस्ट—फिर भी शुद्ध उर्दू बोलें। विभिन्न प्रान्तों वाले अपनी अपनी प्रान्तीय भाषायें बोलें। 'हिन्दी' कोई नहीं बोले।

२. आन्ध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी अपनी सारी कार्रवाई तेलगू में करे, महाराष्ट्र कांग्रेस कमेटी मराठी में, पंजाब कांग्रेस कमेटी उर्दू में, युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, बिहार कांग्रेस कमेटी और मध्य-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी 'हिन्दुस्तानी' में। 'हिन्दी' में कार्रवाई कहीं नहीं।

३. विभिन्न प्रान्त अपनी अपनी प्रान्त-भाषा को राज-भाषा बनायें, पंजाब और सीमा-प्रान्त (जो कांग्रेस के ही अधिकार में है) जहाँ की मातृ-भाषा उर्दू नहीं है, उर्दू को राज-भाषा बनायें, हिन्दी प्रान्त अर्थात् युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त 'हिन्दुस्तानी' (और 'दोनों लिपि') को राज-भाषा बनायें। 'हिन्दी' कहीं की, किसी प्रान्त की राज-भाषा नहीं।

४. 'बुनियादी तालीम' (बेसिक एजूकेशन), 'नई तालीम', आदि वर्धा की शिक्षा-योजनाओं का माध्यम विभिन्न प्रांतों में हो विभिन्न प्रांतीय भाषायें, पंजाब में उर्दू, बिहार और मध्य-प्रान्त (विद्या-मन्दिर योजना) में 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि'। 'हिन्दी' माध्यम कहीं नहीं।

५. आसाम, बम्बई, मदरास, उड़ीसा की कांग्रेसी सरकारें अपने अपने प्रान्त में 'हिन्दुस्तानी' (या हिन्दी उर्दू दोनों) और दोनों लिपियों का प्रचार करें और सबके लिये 'हिन्दुस्तानी' (या हिन्दी उर्दू दोनों) और दोनों लिपियों की शिक्षा अनिवार्य करें, पंजाब की संयुक्त कांग्रेसी सरकार और सीमा-प्रान्त की विशुद्ध कांग्रेसी सरकार केवल उर्दू और उर्दू लिपि का प्रचार करें। सिन्ध, बलूचिस्तान और बंगाल की लीगी सरकारें तो केवल उर्दू और उर्दू लिपि का प्रचार करें ही (अर्थात सारे राष्ट्र की भाषा—वास्तविक राष्ट्र-भाषा—हुई उर्दू, और सारे राष्ट्र की लिपि—वास्तविक राष्ट्र-लिपि—हुई उर्दू लिपि)।

६. कांग्रेसी प्रान्त दोनों लिपियां वाली हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा मानें, लीगी प्रान्त उर्दू को। (फिर यह 'हिन्दुस्तानी' न मालूम किस राष्ट्र की 'राष्ट्र-भाषा' है! ग़ैर-पाकिस्तान या 'हिन्दुस्थान' को तो 'हिन्दी' ही राष्ट्र-भाषा रूप में स्वीकार थी और है।)

७. कांग्रेस वाले अर्थात ६५ प्रतिशत हिन्दू दोनों लिपियां वाली हिन्दुस्तानी को सीखें, लीग वाले अर्थात ६५ प्रतिशत मुसलमान केवल उर्दू सीखें (फिर यह 'हिन्दुस्तानी' न मालूम किस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों की 'कामन-भाषा' होगी! सब हिन्दुओं की कामन-भाषा तो हिन्दी ही अधिक सुगमता से हो सकती थी, सब हिन्दुओं को तो हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा रूप में स्वीकार थी और है)। वर्धा, दक्षिण भारत हि० प्र० सभा, आदि की हिन्दुस्तानी परीक्षाओं में सौ हिन्दू बैठें और एक मुसलमान। श्री श्रीमन्नानारायण सफ़ाई पेश करते हुये फरमाते हैं कि वे तो हिन्दी वालों और उर्दू वालों पर समान ज़ोर देते हैं, यदि अधिक उर्दू वाले हिन्दी नहीं सीखते तो वे क्या करें? (अवश्य ही वे सब हिन्दुओं को उर्दू सिखाकर उर्दू को डी फैक्टो राष्ट्र-भाषा बना दें! अथवा क्या वे हिन्दुओं को उर्दू पढ़ाकर मुसलमानों का हृदय द्रवित करने की सोच रहे हैं!)

इन सब बातों का एक ही परिणाम होना है। उर्दू की राष्ट्र-भाषा-पद पर प्रतिष्ठा, और हिन्दी का सर्वनाश। हिन्दी वाले यह ही न समझें कि हिन्दी केवल राष्ट्र-भाषा-पद से हटाई जा रही है। हिन्दी अपने घर—युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य प्रान्त—से भी निकाली जा रही है—वहाँ भी उसे अपना प्राप्य राजभाषा का पद नहीं मिलेगा। हिन्दी वाले राष्ट्र-भाषा का ख्वाब ही देखते रहेंगे और इधर हिन्दी को उसके घर से ही निकाल दिया जायगा। इस प्रकार हिन्दी को बिलकुल समाप्त किया जा रहा है। अधिक से अधिक वह साहित्य की भाषा या कवियों की भाषा और हिन्दुओं की धार्मिक भाषा* होकर रह सकती है। यदि हिन्दुओं को अब हिन्दी जीवित रख मिले, तो वे उसे बस आपस में लिखकर घर में बैठ कर पाठ कर लें। गांधीजी ने स्पष्ट कहा है, "मैं सिर्फ इतना ही चाहता हूँ कि दोनों (अर्थात हिन्दी और उर्दू) हमारे नाम की (या 'काम' की?) हो जायँ।" उर्दू पर बस चलता नहीं, इसलिये केवल हिन्दी को 'अपने नाम का' या 'अपने काम का' बनाया जा रहा है। राष्ट्रीयता और राष्ट्र-भाषा की इस 'हिन्दुस्तानी' वाली नई परिभाषा पर केवल हिन्दी की बलि दी जा रही है। यह कांग्रेस की राजनीतिक 'अपीज़मेन्ट पालिसी' का भाषा के क्षेत्र में पस-राव है। इस राष्ट्रीयता के हिमायती (गांधीजी के इशारे पर आज की कांग्रेस इसी राष्ट्रीयता की हिमायती है) केवल हिन्दी के पीछे हाथ धोकर पड़ गये हैं। उन्हें अब हिन्दी में 'साम्प्रदायिकता' की बू आने लगी है। वे अब हिन्दी को एक प्रान्त-भाषा, जनता के एक भाग की भाषा का स्थान भी नहीं देना चाहते। कांग्रेस सब की भाषाओं (और संस्कृतियों) की रक्षा

***अब वह भी नहीं। गांधीजी अब वर्धा में हिन्दुओं के विवाह-संस्कार संस्कृत में नहीं, हिन्दी में भी नहीं, अपनी 'हिन्दुस्तानी' में सम्पादित करते हैं, और हिन्दुओं के देवताओं की प्रार्थना-वन्दना 'हिन्दुस्तानी' में करते हैं विशुद्ध राष्ट्रवादी उनका अनुकरण कैसे न करें?**

करेगी, और उन्हें उचित स्थान देगी, बस केवल हिंदी को नहीं देगी। (जिस प्रकार कांग्रेस सबका प्रतिनिधित्व करती है, सबके हितों की रक्षा करती है, बस केवल हिंदुओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उनके हितों की रक्षा करने के लिये तैयार नहीं।) हिंदी को कांग्रेस अपनी हिंदुस्तानी वाली राष्ट्रीयता के रोलर के नीचे पीस डालना चाहती है। यदि कोई अपनी प्रांतीय भाषा (जैसे बँगला, तामिल इत्यादि) में बोले तो कुछ नहीं कहा जायगा; अधिक से अधिक यह कहा जायगा कि उसे राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' सीख लेनी चाहिये। परन्तु यदि कोई हिंदी में बोले तो कहा जायगा कि यह अनुचित है, अराष्ट्रीय है, साम्प्रदायिक है। हिंदीवालों से उम्मीद की जाती है कि वे तो 'हिंदुस्तानी' में ही बोलें। (उर्दू वालों से 'राष्ट्रवादी' क्या कहें ? वे तो उर्दू में ही बोलेंगे। उन्हें स्वयम् अपने मुँह से अपने को 'साम्प्रदायिक' घोषित करने में कोई आपत्ति नहीं। उनके लिये तो यह गर्व का विषय है।) वर्धा की संस्थाओं में प्रांतीय भाषाओं का स्थान है, और 'हिंदुस्तानी' का स्थान है। हिंदी का कोई स्थान नहीं। इसकी देखा देखी सरकार ने भी वैसा ही किया। उसने रेडियो में और इन्फर्मेशन फिल्मों में प्रांतीय भाषाओं को स्थान दिया और 'हिंदुस्तानी' को। यह बात दूसरी है कि उसने 'हिंदुस्तानी' को उर्दू से अभिन्न मान लिया (वह करती भी क्या ? हिंदुस्तानी वालों ने अपनी हिन्दुस्तानी की कोई रूप-रेखा तो सामने रक्खी नहीं। जिसके जी में जैसी आवे वैसी भाषा हिन्दुस्तानी समझ ले। क्या उर्दू 'हिंदुस्तानी' नहीं है ?) अब कांग्रेसवाले यह कहने को भी तैयार नहीं हैं कि सरकार को अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति ही हिन्दी को स्वतन्त्र स्थान देना चाहिये (नई केन्द्रीय असेम्बली के सन् १६४६ वाले बजट अधिवेशन पर नज़र डाल लीजिये। यदि पुलिस ने किसी के दो डंडे अधिक जमा दिये तो कांग्रेसी सदस्यों ने असेम्बली में प्रश्नों की झड़ी लगा दी, परन्तु एक विशाल समाज की भाषा के प्रति सरकारी अन्याय के विरुद्ध उनके मुँह से

एक शब्द नहीं निकला। वह तो 'साम्प्रदायिकता' होती !) उनकी नई राष्ट्रीयता तो यह चाहती ही है कि हिन्दी की सुन्नत हो जाय जिससे 'हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य' स्थापित हो सके*। यदि सरकार ने 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू से अभिन्न मान लिया तो उस पर भी कांग्रेसवालों को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि मुसलमान इस 'हिन्दुस्तानी' के साथ तभी तक हैं जब तक 'हिन्दुस्तानी' उर्दू का ही दूसरा नाम है, और जिस दिन 'हिन्दुस्तानी' उर्दू से कुछ भिन्न हुई उस दिन उनका हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तानीवाली राष्ट्रीयता का ढकोसला एक घंटा नहीं टिक सकेगा। उन्हें अपना ढकोसला अधिक प्रिय है, इसलिये कुछ नहीं बोलते। मुसलमान तो अति सन्तुष्ट हैं ही—चलो उर्दू की उर्दू रही और 'हिन्दुस्तानी' नाम के प्रताप से हिन्दी की जड़ ही कट गई। हिन्दुस्तानीवाले क्यों बोलें? उनकी तो मनचीती ही होरही है न।×

---

* यह निश्चित है कि केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार भी इस व्यवस्था को नहीं बदलेगी। वह आज की भाँति इन्फर्मेशन फिल्म, न्यूज़ फ़िल्म, आदि का निर्माण भी प्रान्तीय भाषाओं और 'हिंदुस्तानी' में करेगी, हिंदी में नहीं। (देखिये उत्तर-परिशिष्ट २)

× यदि कोई हिंदुस्तानीवालों से पूछे कि हिंदुस्तानी कहाँ है, तो वे उत्तर देंगे, फिलहाल हिंदुस्तानी के दो प्रचलित रूप हैं—हिंदी और उर्दू, परन्तु वे रेडियो से यह कहने को तैयार नहीं कि वे दोनों प्रचलित रूपों में ख़बरें ब्राडकास्ट करे। वे रेडियो से यह कहने का भी कष्ट नहीं करते कि वह हमारी 'हिंदुस्तानी' में ही ब्राडकास्ट करे। हाँ, कभी कभी यह सोचकर कि कहीं हिंदीवाले 'हिन्दुस्तानी' से बेतरह न भड़क उठें श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल यह अवश्य कह देते हैं कि रेडियो की 'हिंदुस्तानी' उर्दू है। परन्तु क्या वे यह बताने का कष्ट करेंगे कि रेडियो की 'हिंदुस्तानी' में ऐसे शब्द कौन से हैं जो उनके 'हिंदुस्तानी अदब' (श्री श्रीमन्नारायण ने हाल में एक लेख में बताया है कि 'हिंदुस्तानी' के नमूने रखने के लिये वर्धा में हि. प्र. सभा कुछ 'हिंदुस्तानी अदब' तैयार करा रही है) में नहीं हैं, अर्थात् रेडियो की 'हिंदुस्तानी' में प्रयुक्त होनेवाले ऐसे शब्द कौन से हैं जिन्हें वे ग़ैर-हिन्दुस्तानी करार देंगे?

(जिसकी वे अभी तक केवल कल्पना कर रहे हैं उसे बृटिश सरकार ने प्रत्यक्ष कर दिखाया!)

रेडियो का मामला हमें हिन्दुस्तानी-आन्दोलन के दूसरे पहलू पर ले आता है। वह है इस 'हिन्दुस्तानी' का स्वरूप। आखिर वह 'हिन्दुस्तानी' जो सब जगह से—केन्द्र से और प्रान्तों से—हिन्दी को निकाल रही है और उसका स्थान लेना चाहती है, कैसी होगी? रेडियो की हिन्दुस्तानी को हम जानते हैं। उसे कांग्रेस और हिन्दुस्तानी वालों का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। इसे सिद्ध करने के लिये हमें यह देखने की जरूरत नहीं कि कांग्रेस वाले और हिन्दुस्तानी वाले क्या कहते हैं, वरन् यह देखने की जरूरत हैं कि वे क्या करते हैं। कांग्रेस ने अपने उच्च आसन से क्या किया अथवा क्या करना चाहती है, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्य हिन्दुस्तानी वालों ने क्या किया है, इसे सुन लीजिये। सम्मेलन द्वारा संचालित आंदोलन में उन्होंने कभी सहायता तो नहीं दी ही, उन्होंने सम्मेलन के मार्ग में रोड़े अटकाये हैं, और सम्मेलन की माँग को अराष्ट्रीय घोषित किया है। इस सम्बन्ध में पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द जैसे हिन्दुस्तानी के दिग्पालों का नाम लेना काफी है। रेडियो वाले इन्हीं हिन्दुस्तानी वालों के बल पर कूद रहे हैं, और इन्हीं का सहारा पाकर अपनी नीति पर दृढ़ हैं। पिछले दिनों सर सुलतान अहमद ने अपनी नीति के समर्थन में गांधी जी का नाम लिया, परन्तु गांधी जी फिर भी चुप रहे। इस सबसे सिवाय इसके कि कांग्रेस और हिन्दुस्तानी वालों को रेडियो की हिन्दुस्तानी मान्य है (ऊपरी मन से ईद बकरीद चाहे जो कुछ कह दिया करते हों) और क्या निष्कर्ष निकल सकता है? अच्छा, यदि ज़रा

नहीं, वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि स्वयम् उनकी हिन्दुस्तानी के कोई सिद्धांत नहीं हैं। (यदि होते तो 'शिक्षा' के स्थान में 'तालीम' और 'साहित्य' के स्थान में 'अदब' कैसे आ बैठता?) वे रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू तो केवल हिन्दी वालों को फुसलाने के लिये बतलाते हैं।

देर के लिये रेडियो की हिन्दुस्तानी को छोड़ भी दिया जाय, तो क्या हिन्दुस्तानी वालों ने 'हिन्दुस्तानी' के स्वरूप के विषय में कोई सिद्धान्त निश्चित किया है, क्या उन्होंने अपनी नीति स्पष्ट की है ? नहीं। उनकी राय में प्रत्येक हिन्दी शब्द और प्रत्येक उर्दू शब्द 'हिन्दुस्तानी' है, कोई शब्द ग़ैर-हिन्दुस्तानी नहीं, कोई शब्द ऐसा नहीं जो 'हिन्दुस्तानी' में न आ सकता हो। फिर 'हिन्दुस्तानी' क्या है ? कोई व्यक्ति यह तो कह नहीं सकता कि जैसी हिन्दुस्तानी मैं लिखता हूँ वही 'हिन्दुस्तानी है *। सिद्धांतों की अनुपस्थिति में कोई व्यक्ति अपनी हिन्दुस्तानी के नमूने में भाषा की सम्पूर्ण शब्दावली को रख भी नहीं सकता जिससे टंटा मिट जाय। परन्तु 'हिन्दुस्तानी' चाहिये अभी ही। सरस्वती कब प्रकट होगी (और होगी भी या नहीं), कब जनता 'हिन्दुस्तानी' का एक सर्वमान्य, निश्चित स्वरूप स्थिर करेगी—यह सब तो भविष्य की बातें हैं, परन्तु 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी है', यह नारा लगानेवालों को और अपनी राष्ट्रीयता का ढोल पीटनेवालों को विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त करने के लिये एक 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' चाहिये अभी ही। गांधीजी, मौलाना आज़ाद, पं० नेहरू, पं० गोविन्द वल्लभ पंत, श्रीमोहनलाल सक्सेना, आदि जैसी भी भाषा बोलें, उस सबको 'हिन्दुस्तानी' का नाम तो दे दिया, परन्तु इतने से काम नहीं चलता। सरकारी तौर से प्रयुक्त करने के लिये भी तो एक हिन्दुस्तानी चाहिये। सो इसके लिये हिन्दुस्तानी वालों ने एक अत्यन्त सरल और व्यावहारिक फार्मूला तैयार कर लिया। वह यह कि जहाँ पहले से उर्दू नहीं बैठी हुई

---

* इस मामले में हिन्दुस्तानी वाले गांधी जी की 'हिन्दुस्तानी' को भी आदर्श नहीं मान सकते। उन्हें गांधी जी का हिन्दुस्तानी-वाद प्रिय है, गांधी जी की 'हिन्दुस्तानी' नहीं। (और गांधी जी की हिन्दुस्तानी भी ऐसी इसलिये है कि उन्हें अभी तक यथेष्ट उर्दू आती ही नहीं। वे उर्दू सीख रहे हैं, अभी उसमें पारंगत नहीं हुये।)

है अर्थात् नये कामों के लिये हिन्दुस्तानी है "उदू लिपि में शुद्ध उदू और देवनागरी में उदू जिसमें यहाँ वहाँ दो चार उदू पारिभाषिक शब्दों के स्थान में हिन्दी पारिभाषिक शब्द रख दिये गये हों", और जहाँ जहाँ उदू पहले से मौजूद है वहाँ के लिये हिन्दुस्तानी है वही भाषा अर्थात् उदू जिसका नाम बदल कर हिन्दुस्तानी कर दिया जाय और दोनों लिपियों में लिखने की इजाज़त दे दी जाय। पहले प्रकार की हिन्दुस्तानी के नमूने हैं वर्धा की हिन्दुस्तानी (देखिये परिशिष्ट ४), दक्षिण भारत हि० प्र० सभा की हिन्दुस्तानी (देखिये परिशिष्ट ५), बिहार की हिन्दुस्तानी (सुपरिचित महमूद रीडरें, बुनियादी तालीम का माध्यम, आदि), युक्त प्रान्त की हिन्दुस्तानी,* आदि। दूसरे प्रकार की हिन्दुस्तानी के नमूने हैं रेडियो और इन्फर्मेशन फिल्मस् की 'हिन्दुस्तानी', भारतीय सेना की (रोमन) 'हिन्दुस्तानी', केन्द्रीय सरकार की सरकारी 'हिन्दुस्तानी', युक्त-प्रान्त की अदालतों की भाषा, सरकारी दफ्तरों की भाषा, पुलिस की भाषा, म्यूनिसपेलटियों की भाषा, आदि। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह सोचना व्यर्थ है कि केन्द्र की राष्ट्रीय सरकार रेडियो और इन्फर्मेशन फिल्म्स की 'हिन्दुस्तानी' को, जो कभी उर्दू नहीं कहलाई अर्थात् जो जन्म से ही 'हिन्दुस्तानी' नाम से

---

* युक्त-प्रान्त की हिन्दुस्तानी के सैकड़ों नमूने देखने का स्वयम् लेखक को सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उसके उत्कृष्ट नमूने युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों के विवरण और बुलेटिन और सरकारी प्रेस विज्ञप्तियाँ हैं। युक्त-प्रांत के पिछले कांग्रेसी मन्त्रिमंडल के समय में सरकारी विज्ञप्तियाँ 'हिन्दुस्तानी' में लिखकर दोनों लिपियों में लीथो करके पत्रों को प्रकाशनार्थ भेज दी जाती थीं। उनकी भाषा ६४ प्रतिशत उदू अर्थात् उदू ही होती थी जिसमें दो चार ऐसे हिन्दी शब्द जो उदू लिपि में लिखे जा सकें धर दिये जाते थे। जो हिन्दुस्तानी दोनों लिपियों में लिखी जा सके वह इससे भिन्न हो ही कैसे सकती है। राष्ट्र-भाषा के रथ में देवनागरी और फारसी लिपि जैसे असमान घोड़े जोतने का ऐसा परिणाम होना अवश्यंभावी है।

प्रसिद्ध है, बदल देगी। रेडियो के सर्वेसर्वा श्री ए० एस० बोख़ारी के सहोदर भ्राता श्री ज़ेड० ए० बोखारी ने (जो सेना की 'हिन्दुस्तानी' निर्मित करने के लिये नियुक्त हुये थे) भारतीय सेना की रोमन उर्दू का यथाविधि नामकरण 'रोमन हिन्दुस्तानी' कर दिया है, और अब यही नाम चलता है। यह सोचना केवल दुराशा है कि केन्द्र की राष्ट्रीय सरकार इस 'हिन्दुस्तानी' में या केन्द्र की सरकारी 'हिन्दुस्तानी' में कोई परिवर्तन करेगी। जिन्हें राष्ट्रीय सरकारों से बहुत आशा है, उनका स्वप्न भंग करना आवश्यक है। युक्त-प्रान्त के पिछले कांग्रेसी मंत्रिमंडल के समय में प्रान्तीय असेम्बली के एक सदस्य श्री चरणसिंह के एक प्रश्न के उत्तर में कांग्रेसी पार्लमिन्टरी सेक्रेटरी ने फरमाया (७ फरवरी, १६३६), "अदालती भाषा हिन्दुस्तानी है, और सरकार दोनों लिपियों को समान महत्व देगी", अर्थात् कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने अदालतों की भाषा में केवल इतना 'सुधार' किया कि उसका नाम जो अभी तक उर्दू था बदलकर 'हिन्दुस्तानी' रख दिया, और गर्व के साथ युक्त-प्रान्त में उर्दू लिपि को अनन्त काल तक देवनागरी के समान महत्व देने की स्पष्ट घोषणा करके अपनी राष्ट्रीयता, निष्पक्षता एवं न्याय-प्रियता का परिचय दिया। इन बातों में एक बड़ी गहरी चाल है। वह यह कि अगर नाम उर्दू रहेगा तो हिन्दी वाले माँग करेंगे कि हिन्दी क्यों नहीं, और इस प्रकार हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्रीयता खटाई में पड़ जायगी, बस चट से नाम 'हिन्दुस्तानी' धर दो, कट गई हिन्दी वालों की माँग की जड़। और भाषा? उसमें कोई परिवर्तन कैसे किया जा सकता है? मुसलमान जो रुष्ट हो जायँगे। और, हिन्दुओं में विरोध करने का साहस कहाँ। वे तो राष्ट्रीयता के शिकंजे में जकड़े हुये हैं (अगर कुछ कहें तो 'साम्प्रदायिक', 'तंग-ख़याल' न घोषित किये जाँय?)। और फिर हिन्दू तो इस भाषा को अब तक सहन करते ही आ रहे हैं, उन्हें अधिक से अधिक यह मालूम पड़ेगा कि कोई परि-वर्तन नहीं हुआ, परन्तु मुसलमान तो कहेंगे, 'यह हिन्दू राज है, हिन्दू रिवाइ-

नलिज़्म है', आदि। बस, एक हज़ार साल से गुलामी का बोझा ढोने वाले हिन्दू चुपचाप सहन कर लेते हैं। वे भाषा का महत्व कैसे समझें ? हिन्दुस्तानी वाले तर्क भी बहुत सुन्दर उपस्थित कर देते हैं। एक प्रेस प्रतिनिधि के प्रश्न के उत्तर में पं० सुन्दरलाल ने बताया, "अदालतों की भाषा ऐसी होनी चाहिये जिसे हिन्दू मुसलमान दोनों समझें, परन्तु दोनों लिपियों में काम करने की छूट होनी चाहिये" (क्योंकि अभाग्यवश उन्होंने कोई लिपि तो कामन बनाई नहीं!)। चूँकि अदालतों की भाषा पिछले सौ वर्षों से उर्दू है और इसलिये चूँकि जिन्हें—हिन्दू और मुसलमान—अदालतों से काम पड़ता है वे सब इसी को समझते हैं, पं० सुन्दरलाल के कथन का सीधा अर्थ यह है कि वही भाषा बनी रहे। अदालतों की भाषा के विषय में एक हिन्दी वाले से बातचीत के सिलसिले में पं० गोविन्दवल्लभ पंत ने कहा, "आप 'अदालत' रक्खेंगे, 'मुक़दमा', 'वकील', 'मुद्दई', 'मुद्दालह' रक्खेंगे या नहीं ? आपका सिद्धान्त तो ठीक है, परन्तु जब जनता के एक भाग की भावना प्रतिकूल हो तो क्या किया जाय ?" हिन्दीवाले यह आशा त्याग दें कि पंत का मंत्रिमंडल अदालतों, दफ्तरों, पुलिस, म्यूनिसपैलटी, आदि की भाषा में कोई परिवर्त्तन करेगा *। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल लीगी

* पंत जी के राजनीतिक भाषा-शास्त्र का एक और नमूना देखिये। बातचीत के सिलसिले में उनसे कहा गया कि युक्त-प्रान्त में एक भाषा और लिपि को कामन बनाना ही पड़ेगा, क्योंकि जिन प्रांतों में एक से अधिक भाषायें और लिपियाँ हैं वहाँ सब की सब राजभाषा भी नहीं बनाई जा सकतीं, और प्रांतीय जीवन को एक सूत्र में बाँधने के लिये भी एक कामन भाषा और लिपि की आवश्यकता पड़ेगी ही, और वह प्रांत की मुख्य भाषा और लिपि ही हो सकती है, जैसे हैदराबाद में तेलगू, मराठी, कंनड़ और तामिल हैं, चारो भाषायें और लिपियाँ राजभाषा नहीं हो सकतीं, और यद्यपि प्रत्येक हैदराबादी को अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होगा, हैदराबाद की राजभाषा और कामन भाषा वहाँ की मुख्य

मुसलमानों को अप्रसन्न करने का साहस कर भी ले, परन्तु मौलाना आज़ाद, श्री आसफ़अली और श्री रफीअहमद किदवई से किस प्रकार निबटे ? ये लोग न कहने लगेंगे, "क्यों, क्या यही तुम्हारी असलियत है ?" कांग्रेस में होने का वे इतना लाभ भी न उठावें ? पंजाब, सिन्ध, आदि में जो होता है सो तो 'लीगी' मुसलमान करते हैं, कांग्रेस को तो 'साम्प्रदायिक' न होना चाहिये। उसे तो 'नेशनलिस्ट' मुसलमानों का ध्यान रखना ही चाहिये। बस, यही उर्दू बहाल रहेगी, केवल नाम 'हिन्दुस्तानी' धर दिया जायगा जिससे सदा के लिये 'हिन्दी उर्दू का झगड़ा' ख़त्म हो जाय। सब जगह तर्क भी वही पं० सुन्दरलाल या पं० पंत वाले दिये जायँगे, अर्थात्, "कितने मुसलामान ऐसे हैं जो 'वादी', 'प्रतिवादी' समझते हैं, और कितने हिन्दू ऐसे हैं जो 'मुद्दई' 'मुद्दालह' नहीं समझते ? रेडियो का ऐसा कौन हिन्दू सुनने वाला है जो सुनते सुनते 'आशार्या', 'स्यासी' और 'नामानिगार' नहीं समझने लगा है, और ऐसे मुसलमान सुनने वाले कितने हैं जो 'दयमलव', 'राजनीतिक' और 'संवाद-दाता' समझ लेंगे ? हिन्दी वालों की माँग 'साम्प्रदायिक' है, 'अराष्ट्रीय' है, फूट डालने वाली है, आदि।" चलो छुट्टी हुई। अब तक विदेशी सरकार ने उर्दू लाद रक्खी थी, किन्तु बड़ी बड़ी आशायें थीं कि राष्ट्रीय सरकारें इस अन्याय को दूर कर जनता की हिन्दी को प्रतिष्ठित करेंगी। अब राष्ट्रीय सरकारें ही उर्दू का नाम 'हिन्दुस्तानी' धर कर, उस पर 'राष्ट्रीयता' की छाप लगा कर उसे जमो रहने देंगी। बोलो 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' की जय !

कांग्रेस और हिन्दुस्तानी वालों की सरकारी नीति के अनुकरण पर और लोग भी ऐसा ही करते हैं। सब जगह लोग प्रायः यह प्रस्ताव करते

भाषा तेलगू होगी, और उसकी शिक्षा प्रत्येक हैदराबादी के लिये उसी प्रकार अनिवार्य होनी चाहिये जिस प्रकार बृटिश भारत में अँगरेज़ी की है। झट से उत्तर मिला, "क्या शुद्ध तेलगू, बिना मराठी, तामिल आदि मिलाये हुये ?"

देखे जाते हैं कि यह काम 'हिन्दुस्तानी' में होना चाहिये, "यह कार्रवाई हिन्दुस्तानी में होनी चाहिये, अँगरेजी में नहीं", आदि। वे ऐसा शायद अपने को राष्ट्रीय घोषित करने के लिये कहते हैं, परन्तु चूँकि यह बतलाने का कष्ट कोई नहीं करता कि उसका 'हिन्दुस्तानी' से किस और कैसी भाषा से अभिप्राय है और चूँकि 'हिन्दुस्तानी' बज़ात-ए-खुद कोई चीज़ नहीं, फल यह होता है कि वह 'हिन्दुस्तानी' उर्दू ही होती है। बहुत बार तो वहाँ पहले से ही उर्दू जमी हुई होती है और इसलिये इस 'हिन्दुस्तानी' का उर्दू होना अनिवार्य हो जाता है। जहाँ ऐसा नहीं होता है, वहाँ मुसलमानों को खुश करने के लिये 'हिन्दुस्तानी' को उर्दू मान लिया जाता है, क्योंकि हिन्दुओं के लिये तो वह भाषा अपरिचित होती नहीं। मुसलमान भी इन प्रस्तावों का अनुमोदन करते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम होता है कि इस 'हिन्दुस्तानी' का स्वरूप क्या होगा और वास्तव में उनका अनुमोदन है भी तभी तक। रोज़ ख़बरें आती हैं कि युक्त-प्रान्त की अमुक संस्था, अमुक म्यूनिसिपल बोर्ड ने, अमुक स्कूल की कमेटी ने अपने नियम, आदि 'हिन्दुस्तानी' में छापने का निश्चय किया। यह शब्द 'हिन्दुस्तानी' शायद अँगरेजी के विरोध में आता है—यह दिखाने के लिये कि अँगरेज़ी में नहीं, वरन् 'हिन्दुस्तानी' में, परन्तु यह 'हिन्दुस्तानी' शुद्ध उर्दू होती है। बस, केवल 'हिन्दुस्तानी' नाम धर के हिन्दी की जड़ काट दी जाती है क्योंकि जब 'हिन्दुस्तानी' है तो 'हिन्दी' क्यों? हाँ, छपाई देवनागरी लिपि में भी हो जाती है क्योंकि इस पर मुसलमानों को आपत्ति नहीं होती—यदि हिन्दी और हिन्दू प्रांतों की बात हो तो। *

---

* यदि उर्दू और मुस्लिम प्रान्तों की बात हो, तो मुसलमानों को यह भी सहन नहीं है कि हिन्दुस्तानी उर्फ उर्दू के लिये देवनागरी लिपि भी स्वीकृत हो। अभी हाल में सिन्ध की लीगी सरकार ने राष्ट्रीयता और हिन्दुस्तानी की दुहाई देते हुये सब सिन्धी मुसलमानों के लिये 'हिन्दुस्तानी'

यह है उस हिन्दुस्तानी का स्वरूप जिसे राष्ट्रीय अथवा विदेशी, सरकारी, अर्ध-सरकारी और ग़ैर-सरकारी एजेन्सियों द्वारा हिन्दी-प्रदेश पर बतौर मातृ-भाषा और प्रान्त-भाषा के और सारे देश पर बतौर राष्ट्र-भाषा के लादा जा रहा है। अरबी फारसी का जो रेला 'हिन्दी' नाम ने रोक रक्खा था, वह गांधीजी, हिन्दुस्तानी वालों और कांग्रेस द्वारा खोले हुये 'हिन्दुस्तानी' के फाटक में से अर्रा कर हिन्दी संस्कृति और हिन्दी भाषा को ग़र्क करना चाहता है।

हमने ऊपर देखा कि किस प्रकार हिन्दुस्तानी आन्दोलन और 'हिन्दुस्तानी' वाली राष्ट्रीयता हिन्दी को राष्ट्रीय और प्रान्तीय जीवन के प्रत्येक विभाग से जड़ सहित निकाल रही है। उसके स्थान में या तो ६० प्रतिशत उर्दू वाली 'हिन्दुस्तानी' है (उदाहरण, वर्धा की हिन्दुस्तानी, बिहार की हिन्दुस्तानी, युक्त-प्रान्त की हिन्दुस्तानी), या हिन्दुस्तानी नामधारी शुद्ध उर्दू है (उदाहरण, रेडियो, इन्फर्मेशन फिल्म्स, आदि की हिन्दुस्तानी)। उर्दू अपनी जगह पर वैसी ही स्थिर है। उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ है और न हो सकता है। यह 'कामन भाषा', 'राष्ट्र-भाषा' केवल हिन्दी को चट कर जाना चाहती है। यह है हिन्दुस्तानी आन्दोलन का सच्चा स्वरूप। जो मुसलमान इस आन्दोलन के साथ हैं, वे इसलिये हैं कि उनकी उर्दू

की शिक्षा अनिवार्य कर दी। शीघ्र ही वह सब सिन्धी हिन्दुओं के लिये भी अनिवार्य कर दी जायगी। यह हिन्दुस्तानी कैसी है, यह बताने की ज़रूरत नहीं। परन्तु मज़े की बात यह है कि सिन्ध सरकार ने इस हिन्दुस्तानी के लिये केवल उर्दू लिपि ठहराई। तर्क दिया, "क्योंकि यही लिपि सिन्धी लिपि से मिलती जुलती होने के कारण सिन्धियों के लिये सबसे सुगम है"। इस पर कांग्रेस वाले, हिन्दुस्तानी वाले सब चुप हैं। वे केवल बिहार में कैथी जाननेवाले बिहारियों के लिये या महाराष्ट्र में देवनागरी जानने वाले मराठियों के लिये हिन्दुस्तानी की लिपि केवल देवनागरी कभी न होने देंगे। वहाँ 'दोनों लिपि' अवश्य ठूँसी जायँगी।

को जहाँ होना चाहिये वहाँ तो उर्दू रहेगी ही, बस जहाँ हिन्दी को होना चाहिये वहाँ ही 'हिन्दुस्तानी' होगी जो ९० प्रतिशत उर्दू और कालान्तर में शुद्ध उर्दू होगी, और होगी उनकी उर्दू लिपि। 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दी की जड़ काटेगी, भारत के कोने कोने में उर्दू और उर्दू लिपि को ले जायगी जहाँ उन्हें एक हज़ार वर्ष का मुस्लिम शासन भी न ले जा सका, और प्रत्येक हिन्दू को उर्दू लिपि और उर्दू सीखने के लिये विवश करेगी। भला ऐसा 'पैक्ट' उन्हें क्यों न भायेगा* ? बस, केवल हिन्दुओं के गले के नीचे इस पैक्ट को उतारना बाकी है। सो 'राष्ट्रीयता' में भली भाँति सान कर उतारा जा रहा है। बेचारे हिन्दू तो कांग्रेस की जेब में हैं। भाषा तो भाषा है, यदि कल गांधीजी यह कहने लगें कि स्वराज्य-प्राप्ति का सबसे सरल उपाय यह है कि भारत में एक ही धर्म के अनुयायी हों और चूँकि मुसलमान हिन्दू हो नहीं सकते इसलिये सब हिन्दू मुसलमान हो जायँ, तो जैसे आज कांग्रेस वालों को उर्दू पढ़ाने के लिये मौलवी ढूँढ़े नहीं मिलते, कल से हिंदुओं को कलमा पढ़ाने के लिये मुल्लाओं की कमी पड़ जायगी। परन्तु फिर भी क्या स्वराज्य मिल जायगा ? मिले या न मिले, गांधी-दर्शन के अनुसार विरोधी के हृदय को पिघलाने का शुद्ध अहिंसात्मक उपाय तो यही है, और भाषा के मामले में इसी का हिंदुओं को उपदेश दिया जा रहा है। यदि वे उपदेश मानें तो 'राष्ट्रीय' हैं, यदि न मानें तो उन्हें "स्वराज्य की इच्छा नहीं है।"

---

* श्री श्रीमन्नारायण अपने हिन्दुस्तानी-वाद की सफ़ाई यह कह कर देते हैं कि जिस प्रकार हिन्दी पत्रों में 'हिन्दुस्तानी' के विरुद्ध प्रचार हो रहा है, उसी प्रकार उर्दू पत्र 'हिन्दुस्तानी' का विरोध कर रहे हैं और कह रहे हैं कि यह धोखा है, हिन्दुस्तानी का अर्थ हिन्दी-प्रचार है, (कहाँ कहाँ ?) आदि। ठीक है, उर्दू पत्र ऐसा क्यों न कहें ? उन्हें इस प्रकार कहते रहने में ही लाभ है। मुसलमानों को अपनी ब्लैकमेल की नीति से किस क्षेत्र में लाभ नहीं हुआ है ?

२. हिन्दुस्तानी वालों की कारगुजारी

यह तो सबको मालूम ही है कि नियमित हिन्दुस्तानी चक्र-प्रवर्तनम् गांधी जी के फरवरी, १६४५ में वर्धा में हुये 'हिंदुस्तानी प्रचार कान्फ्रेंस' से हुआ। इस कान्फ्रेन्स का कुछ हाल परिशिष्ट ६ से मिल सकता है। इस कान्फ्रेंस में गांधीजी ने यह विश्वास दिलाया कि "हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ख़िलाफ़ कुछ काम न होगा", परन्तु शीघ्र ही स्वयम् गांधीजी ने 'मुख़ालफ़त' का श्रीगणेश सम्मेलन से त्याग-पत्र देकर कर दिया। बस, हिन्दुस्तानी वालों को शह मिली, और उन्होंने अपना प्रथम कर्तव्य अपने प्रतिद्वन्द्वी सम्मेलन को धराशायी करना समझ लिया। बड़े बड़े राष्ट्रकर्मी जो अब तक हिन्दी के प्रचारक और समर्थक थे रातो रात कलाबाज़ी खाकर हिन्दुस्तानी के प्रचारक और समर्थक हो गये, और हिन्दुस्तानी के प्रति अपने नये उत्साह में हिन्दी के विरोधी भी हो गये। सबसे पहला हमला दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा पर हुआ जिसकी अगवानी स्वयम् गांधीजी ने की। जो सभा पिछले २५ वर्षों से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और देवनागरी को राष्ट्र-लिपि मान कर दक्षिण में हिन्दी और देवनागरी का प्रचार कर रही थी, २४ घंटे के अन्दर अपनी २५ वर्ष पुरानी विचार-धारा त्यागने पर उतारू हो गई। अपनी रजत-जयन्ती के अवसर पर सभा ने अपने नये प्रोग्राम की नियमित घोषणा कर दी। इसी अवसर पर जयन्ती-समारोह के सभापति गांधीजी ने सभा को अपना पुराना नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' नाम धरने की सलाह दी। (श्रीयुत बरेलवी फूले न समाये होंगे!) हिन्दुस्तानी विचार-धारा के पीछे गांधीजी के अतिरिक्त लगभग आधे दर्जन व्यक्ति और हैं जिन्होंने देश पर हिन्दुस्तानी और दोनों लिपि लादने की ज़िद पकड़ ली है (इनमें प्रमुख हैं काका कालेलकर, पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द)। जहाँ कहीं हिन्दुस्तानी की वकालत करने का मौक़ा होता है, वहाँ ये सज्जन पहुँच जाते हैं और अपने विचारों से उपस्थित जनता को कृतार्थ करते हैं।

अतः सभा की जयन्ती के अवसर पर भी ये सज्जन पहुँचे। ख़ास तौर से पं० सुन्दरलाल और काका कालेलकर ने हिन्दी प्रचारकों के सामने लम्बे चौड़े भाषण दिये जिनमें उन्होंने हिन्दी प्रचारकों को हिन्दी का बाना उतारकर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करने का आदेश दिया और गांधी-पुराण के अनुसार उसका माहात्म्य समझाया। अस्तु, हिन्दुस्तानी वालों ने गांधीजी के प्रताप से राष्ट्र-भाषा हिन्दी के एक प्रमुख गढ़ पर येन केन प्रकारेण कब्जा कर लिया*।

दूसरा हमला सम्मेलन द्वारा सञ्चालित महाराष्ट्र की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति पर हुआ। इस हमले का कुछ हाल एक पत्र मे मालूम हो जाता है जो 'देशदूत' में छपा था। इस पत्र की नक़ल परिशिष्ट ८ में दी गई है। इस पत्र के छपने से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा के कार्यालय-मंत्री श्री श्रीपाद जोशी खीज उठे और उन्होंने एक पत्र में (जो १६–१२–४५ के 'देशदूत' में छपा) सम्मेलन को बुरा भला और 'अराष्ट्रीय' कहा, और महाराष्ट्र की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति को हिन्दू महासभावादी घोषित करते हुए अपने को शुद्ध कांग्रेसवादी, राष्ट्रवादी ठहराया। इस पत्र का उत्तर श्रीसूर्यप्रकाश ने ३०-१२-४५ के 'देशदूत' में प्रकाशित एक पत्र में दिया जिसकी नक़ल परिशिष्ट ९ में दी गई है। परन्तु हिन्दुस्तानी वालों के शुद्ध कांग्रेस-वाद और राष्ट्र-वाद की असली पोल ३-२-४६ के 'देशदूत' में प्रकाशित श्रीगंगाधर इंदूरकर के एक लेख से खुली। इस लेख का महत्वपूर्ण अंश परिशिष्ट १० में दिया गया है। इस पोलखाते के बाद कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु यह सोचकर कि शायद महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष, मराठी के

---

* दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की रजत-जयन्ती के अवसर पर केरल (कालीकट) के साप्ताहिक पत्र 'मातृ-भूमि' ने लेखक से एक लेख मांगा था। वह लेख अब भी सभा के कार्य-कर्त्ताओं के लिये लाभदायक हो सकता है, यह सोचकर उसे परिशिष्ट में जोड़ दिया गया है (देखिये परिशिष्ट ७)।

महान् विद्वान् पोतदारजी को मराठी की रक्षा के विषय में और महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों की राष्ट्रीयता की परिभाषा के विषय में कुछ ग़लतफ़हमी हुई हो, उनके लाभार्थ ३१-३-४६ के 'देशदूत' में प्रकाशित श्रीसूर्यप्रकाश के एक लेख का कुछ अंश परिशिष्ट ११ में दे दिया गया है। अस्तु, हिन्दुस्तानी वालों ने महाराष्ट्र से सम्मेलन को निकाल बाहर करने में कुछ कसर नहीं उठा रक्खी है।

अब तीसरे हमले का हाल सुनिये जो लेखक को मालूम हुआ है। अभी हाल में लेखक ने आसाम राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के मंत्री श्रीकमलनारायण से एक पत्र लिखकर आसाम में हिन्दुस्तानी प्रचार का हाल पूछा था। उत्तर में उन्होंने लिखा कि आसाम की जनता हिन्दुस्तानी नहीं चाहती, वह हिन्दुस्तानी का विरोध भी करती है, परन्तु निष्क्रिय रूप से। उसके कुछ समय बाद लेखक ने उन्हें एक पत्र और लिखा। उसके उत्तर में श्रीकमलनारायण का जो पत्र आया (ता० १५-४-४६) वह आँखें खोलनेवाला है। उसका महत्वपूर्ण अंश निम्नलिखित है :

"काका साहब ने श्रीगोपीनाथ बरदले को ही अपना सिपहसालार बनाकर हमारी समिति पर बुरी तरह हिन्दुस्तानी का हमला चलाया। वे राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति को हिन्दुस्तानी के चंगुल में जकड़कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। बरदले उनके हाथों में कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। मेरे ऊपर राष्ट्रीयता के नाम पर तरह तरह के अत्याचार किये जा रहे हैं— फुसलाते हैं, धमकी भी देते हैं। काका साहब सरकार के साथ भी साँठ-गाँठ जोड़ चुके हैं। मैं—सिर्फ मैं—अड़ा हूँ, नहीं तो यहाँ कब की लुटिया डूब गई होती। मैंने आज ही पू० आनन्दजी को तार दिया है।.......... वे सरकारी ताकत का भय दिखाकर मुझसे हिन्दुस्तानी जैसी बोगस-बाँझ भाषा का समर्थन कराना चाहते हैं। काका कालेलकर के इस अन्याय का मुकाबला हमें करना ही होगा।.........आप लोगों को मदद तो करनी ही है। कहिये किस तरह? मौका आ गया है।"

कालेलकर आसाम गये और श्रीगोपीनाथ बरदले से मिलकर उन्होंने अपना चक्र चलाने का प्रयत्न किया। सीमा-प्रान्त में भी कांग्रेस सरकार है, परन्तु काका कालेलकर सीमा-प्रान्त जाकर डा० खान साहब के ज़रिये अपनी 'हिन्दुस्तानी' और देवनागरी का प्रचार कराने की बात कभी नहीं सोच सकते। वहाँ उन्हें क्या मिलना है! व्यवहार-कुशल और चतुर पठान एक भाषा और दो लिपियों के झाँमे में आ ही कैसे सकता है। यह गुण तो केवल हिन्दुओं में है कि राष्ट्रीयता में लपेटकर चाहे विष की गोली दे दो, वे निगल जायँगे। इसी कारण हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा की शाखायें भी पंजाब, सीमा-प्रान्त और सिन्ध में नहीं, काशी, प्रयाग, बिहार, मध्य-प्रान्त, महाराष्ट्र और दक्षिण में स्थापित की जा रही हैं, और हिन्दू और हिन्दी प्रान्तों में ही हिन्दुओं के रुपये से हिन्दुओं द्वारा हिन्दुओं को उर्दू और उर्दू लिपि सिखाने का काम ज़ोर शोर से हो रहा है। व्यवहार में हिन्दुस्तानी प्रचार केवल उर्दू और उर्दू लिपि का प्रचार है, क्योंकि जहाँ जहाँ हिन्दुस्तानी का जाल फैलाया जा रहा है वहाँ वहाँ हिन्दी और देवनागरी तो पहले ही से हैं—केवल 'पूरी राष्ट्रीयता' का सार्टीफिकेट लेने के लिये हिन्दी और देवनागरी जाननेवालों को उर्दू और फारसी लिपि सीखने के लिये उकसाया जा रहा है*। जहाँ जहाँ उर्दू और फारसी लिपि पहले से हैं

*** नवम्बर, १९४९ में बम्बई में बिड़ला-भवन में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्यों को आदेश देते हुए गांधीजी ने स्पष्ट कहा, वैसे तो सभा का उद्देश्य हिन्दी और उर्दू दोनों ही का प्रचार करके राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी की स्थापना करना है, परन्तु जहाँ तक बम्बई, गुजरात और महाराष्ट्र, आदि प्रदेशों का सम्बन्ध है, नागरी लिपि का ज्ञान तो वहाँ के लोगों को है ही, इसलिये उन प्रदेशों में उर्दू लिपि के अनिवार्य प्रचार का कार्य ही हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्य-कर्त्ताओं के सामने प्रमुख रूप से आता है। यह है हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का वास्तविक, व्यावहारिक रूप और कार्य-क्रम, और यह है श्री श्रीमन्नारायण के इस कथन का अर्थ कि "गांधीजी का ज़ोर**

अर्थात् पंजाब, सीमा-प्रान्त और सिन्ध, वहाँ हिन्दुस्तानी प्रचार हिन्दी और देवनागरी नहीं ले जा रहा है। वास्तव में गांधीजी का हिन्दुस्तानी प्रचार वह कर रहा है जो ३०० वर्ष लम्बा मुस्लिम शासन न कर सका और जो आगामी ३०० वर्ष में अंजुमन-तरक्की-उर्दू न कर पाता। यह है हिन्दुस्तानी वालों की कारगुज़ारी।

३. हिन्दुस्तानी वालों के हथकंडे

भोली भाली जनता को वश में करने के लिये और सीधे सादे हिन्दी वालों को फाँसने के लिये हिन्दुस्तानी वालों ने अपने झोले में कुछ सिद्ध बूटियाँ, चुभते हुये चुटकुले और 'राष्ट्रीयता' में सराबोर टटके रख छोड़े हैं जिनका वे बारी बारी से प्रयोग करते हैं। यहाँ उनमें से कुछ का उल्लेख करना यथेष्ट होगा।

(१) सम्मेलन अराष्ट्रीय है।

हिन्दी और उर्दू दोनों पर है, एक पर नहीं" ! गांधीजी ने यह थोड़े ही कहा कि पंजाब, सीमा-प्रान्त और सिन्ध के लोगों को जिन्हें उर्दू लिपि पहले से ही आती है देवनागरी सिखाना भी हि० प्र० सभा का एक प्रमुख कार्य होना चाहिये। इन पाकिस्तानी प्रान्तों में हि० प्र० सभा को पूछता ही कौन है, और वहाँ पर काम करने के लिये सभा के पास कार्य-कर्त्ता ही कौन से हैं ? अस्तु, वहाँ जो भी हो, बम्बई में हि० प्र० सभा के प्रमुख सदस्य श्री बी० जी० खेर, जो अब बम्बई के प्रधान-मंत्री और शिक्षा-मंत्री हैं, अवश्य गांधीजी के आदेश का पालन करेंगे और बम्बई, गुजरात और महाराष्ट्र के प्रत्येक निवासी के लिये उर्दू और उर्दू लिपि का सीखना अनिवार्य कर देंगे। ऐसा ही अन्य हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में होगा। चूँकि उर्दू और मुस्लिम प्रांतों में ऐसा पहले से ही है, चलिये हो गई उर्दू लिपि समूचे राष्ट्र की लिपि और उर्दू समूचे राष्ट्र की भाषा। हि० प्र० सभा का सोचा हुआ राष्ट्र-भाषा की समस्या का यही तो आदर्श, व्यावहारिक हल है ! ऊपर से तुर्रा यह है कि अपने हिन्दुस्तानी-वाद की सफ़ाई पेश करते हुये श्री श्रीमन्नारायण कहते हैं कि यदि उर्दू वाले हिन्दी नहीं सीखते या कम सीखते हैं तो यह दूसरी बात है !

इसका ज़िक्र पहले हो चुका है। कुछ हिन्दुस्तानी वाले साफ साफ ऐसा कहते हैं, और जो साफ़ साफ़ कहना नहीं चाहते (जैसे श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल) वे इशारे से कहते हैं। यह घोषणा करके कि हमारा कार्यक्रम ही राष्ट्रीय है, हिन्दुस्तानी वाले अप्रत्यक्ष रूप से भी यह प्रदर्शित करते हैं कि जिनका कार्य-क्रम इससे भिन्न है वे अराष्ट्रीय हैं। उनका लक्ष्य सम्मेलन होता है *। यह नारा कि सम्मेलन अराष्ट्रीय है, गांधीजी के भक्त तभी से लगाने लगे हैं जब से गांधी जी ने सम्मेलन से त्याग-पत्र दिया। उसी दिन से सम्मेलन 'अराष्ट्रीय' हो गया (गांधीजी की बात क्यों नहीं मानी? यह क्या कम अपराध है?), इससे पहले उन्हा सिद्धान्तों के होते हुये वह परम राष्ट्रीय था। यह याद रखना चाहिये कि जब गांधीजी ने सम्मेलन से सहयोग करना आरम्भ किया, तब उन्होने कहा था, "हिन्दी का काम मेरा अपना काम है। हिन्दी से स्वराज्य-प्राप्ति में सहायता मिलेगी"। वे काफी लम्बी अवधि तक सम्मेलन के सदस्य रहे, अर्थात् तब तक उन्हें सम्मेलन के सिद्धान्त मान्य थे। वे सम्मेलन के सभापति भी हुये। उन्होंने ही इस वाक्यांश को प्रचलित किया, "हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी"। उन्होंने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की। परन्तु विचार बदल जाने के कारण गांधीजी के सम्मेलन के त्याग-पत्र देते ही २४ घंटे में सम्मेलन 'अराष्ट्रीय' हो गया! (गांधीजी के भारत के विभाजन और पाकिस्तान के विषय में भी विचार बदले हैं, परन्तु जिनके नहीं बदले हैं वे क्या अराष्ट्रीय हैं?) अस्तु, यहाँ सम्मेलन की राष्ट्रीयता प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। उसके लिये सम्मेलन के पिछले २५ वर्षों के सफल इतिहास की ओर इङ्गित करना यथेष्ट है। सम्मेलन के कारण हिन्दी का जो प्रचार हुआ है,

---

*** अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू नहीं, जो उर्दू को राष्ट्र-भाषा मानता है। इस अंजुमन का कार्य ही तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा 'हिन्दुस्तानी' नाम से कर रही है। केवल सम्मेलन को गालियाँ सुनाई जाती हैं।**

हिन्दी ने राष्ट्रीय भावना और स्वातन्त्र्य-प्रेम को जागृत करने में जो सहायता दी है और सम्मेलन के राष्ट्र-भाषा प्रचार ने अहिन्दी भाषियों को हिन्दी भाषियों के साथ भाषा के बन्धन में बाँधकर देश में जो ऐक्य स्थापित किया है, वह कहने की नहीं, अनुभव करने की चीज़ है। और सम्मेलन के कार्यक्रम और सिद्धान्तों से देश को कोई हानि तो पहुँची ही नहीं। फिर सम्मेलन अराष्ट्रीय कैसे हो सकता है? देखना यह है कि सम्मेलन को अराष्ट्रीय घोषित करने वाले कितने गहरे में हैं, उनका कार्यक्रम और उनके सिद्धान्त कहाँ तक राष्ट्रीय हैं। जहाँ तक उनके कार्यक्रम का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनकी कारगुज़ारी पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। जो बात सबसे अधिक स्पष्ट है वह यह है कि जिनको खुश करने के लिये हिन्दी छोड़ 'हिन्दुस्तानी' का नारा बुलन्द किया गया है वे, अर्थात् मुसलमान, हिन्दुस्तानी के कार्यक्रम से रत्ती भर प्रभावित नहीं हुये हैं और न हो सकते हैं। हिन्दुस्तानी का प्रचार केवल हिन्दुओं और हिन्दू-प्रान्तों तक सीमित है और रहेगा। सोचने की बात है कि हिन्दुओं और हिन्दी प्रान्तों में तो भाषा-ऐक्य हिन्दी ही स्थापित कर सकती है, कहीं अच्छी तरह और आसानी से स्थापित कर सकती है और सफलता के साथ स्थापित कर ही रही थी। हिन्दुस्तानी आन्दोलन ने केवल हिन्दुओं में भी फूट डाल दी, और जो कार्य हिन्दी कर रही थी उसमें भी बाधा उपस्थित कर दी। हिन्दुस्तानी आन्दोलन का केवल इतना ही परिणाम हुआ है। हिन्दुस्तानी आन्दोलन केवल आर्य समाज, नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के करे कराये पर पानी फेर रहा है। यह कैसी 'राष्ट्रीयता' है? हिन्दुस्तानी वालों को चाहिये तो यह था कि वे यह कहते कि जो हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानकर हिन्दी पढ़ना चाहें वे हिन्दी पढ़ें, और जो उर्दू पढ़ना चाहें वे उर्दू पढ़ें। यह क़दम हमें और आगे ले जाता। इसके बजाय उन्होंने हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपि अनिवार्य करके उनको भी राष्ट्र-भाषा पढ़ने से रोक दिया जो राष्ट्र-भाषा

हिन्दी पढ़ रहे थे या पढ़ना चाहते हैं। उन्होंने अपनी हिन्दुस्तानी लादने का प्रयत्न केवल महाराष्ट्र, दक्षिण, बंगाल, आसाम ऐसे प्रान्तों में ही किया जिनके निवासियों के लिये सबसे सरल हिन्दुस्तानी हिन्दी ही है और सबसे सुगम लिपि देवनागरी। यह 'राष्ट्रीयता' की कैसी परिभाषा है? हिन्दुस्तानी वालों को चाहिये तो यह था कि वे परंपरागत हिन्दी का सौष्ठव नष्ट करने का प्रयत्न न करते, और हिन्दी और उर्दू दोनों से काम लेते। इसके बजाय उन्होंने हिन्दी उर्दू में सौदा पटाकर 'हिन्दुस्तानी' गढ़ी जो न हिन्दी वालों को पसन्द है और न उर्दू वालों को, और चूँकि उनका उद्देश्य मुसलमानों को पटाना था, उन्होंने धीरे धीरे हिन्दुस्तानी को उर्दू का ही दूसरा रूप बना दिया और हिन्दी के मूल पर कुठाराघात किया। यह हिन्दुस्तानी वालों के कार्यक्रम की बात हुई। अब उनके सिद्धान्तों को लीजिये। प्राचीन, बहु प्रचलित, स्वदेशी शब्दों को निकाल निकाल कर उनके स्थान में विदेशी शब्द भरना और उन्हें जनता पर लादना कहाँ की राष्ट्रीयता है? जनता में प्रचलित अरबी फारसी शब्द तो हिन्दी ने ले ही लिये हैं। प्राचीन, बहु-प्रचलित, वैज्ञानिक स्वदेशी लिपि के होते हुये उसकी छाती पर एक विदेशी लिपि बैठाना और उसे जनता पर लादना कहाँ की राष्ट्रीयता है? एक निरक्षर देश में जहाँ की ६० प्रतिशत जनता को अपनी मातृ-भाषा का ज्ञान भी नहीं, प्रत्येक के लिये दो राष्ट्र-भाषाओं (हिन्दी और उर्दू) और दो राष्ट्र-लिपियों का ज्ञान अनिवार्य करना कैसी राष्ट्र-सेवा है? इससे तो केवल राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य और कठिन हो रहा है, व्यावहारिक कठिनाइयाँ बढ़ रही हैं और गुत्थियाँ और उलझ रही हैं। यहाँ एक उदाहरण देना असंगत न होगा। अखिल भारतीय संपादक सम्मेलन के पाँचवे अधिवेशन (फरवरी, १६४६) में एक सम्पादक ने प्रस्ताव पेश किया कि सम्मेलन की कार्रवाई 'हिन्दुस्तानी' में होनी चाहिये। सम्मेलन में बहुमत 'राष्ट्रीय' पत्रों के सम्पादकों का ही था, परन्तु प्रस्ताव

गिर गया। इससे अप्रसन्न होकर श्रीगंगाधर इन्दूरकर ने एक लेख लिख मारा, जिसमें उन्होंने अँगरेज़ी पत्रों के सम्पादकों को ख़ूब खरी खोटी सुनाई। यह लेख अनेक हिन्दी पत्रों में छपा। सम्मेलन ने यह प्रस्ताव अस्वीकृत करके अच्छा किया या बुरा, यहाँ इस पर विचार नहीं करना है। देखना यह है कि प्रस्ताव के विरुद्ध जो तर्क दिये गये, उनमें कहाँ तक सार है, और हिन्दुस्तानी-वाद इन तर्कों का उत्तर देने में कहाँ तक समर्थ है। श्रीइंदूरकर अपने लेख * में लिखते हैं, "हिन्दू मुसलमानों के झगड़े की तरह हिन्दी-उर्दू का झगड़ा सामने आया"। ऐसा होना स्वाभाविक था। हिन्दुस्तानी आखिर है किस भाषा का नाम जो हिन्दी उर्दू का झगड़ा न उठे? 'हिन्दुस्तानी' इस झगड़े की ही तो साकार मूर्ति है। जहाँ जहाँ हिन्दुस्तानी जायगी, वहाँ इस झगड़े को साथ ले जायगी। जैसा श्रीचन्द्रबली पाँडे ने कहा है, जब तक हिन्दुस्तानी की मोहनी सामने रहेगी, तब तक हिन्दी उर्दू वालों में समझौता हो ही नहीं सकता। दोनों को इस हिन्दुस्तानी से ख़तरा है, और दोनों ही इसे अपनी ओर खींचना चाहते हैं। क्या इंदूरकरजी गारंटी कर सकते,हैं कि जिस 'हिन्दुस्तानी' में उर्दू पत्रों के सम्पादक बोलते उसी में हिन्दी पत्रों के सम्पादक बोलते? औरों की बात जाने दीजिये, क्या हिन्दी-सम्पादक ही उर्दू-सम्पादकों की 'हिन्दुस्तानी' और उर्दू-सम्पादक हिन्दी-सम्पादकों की 'हिन्दुस्तानी' समझ लेते? एक दूसरे की अँगरेज़ी को तो उन्होंने समझ लिया। सम्मेलन की जो अँगरेज़ी में कार्रवाई अँगरेज़ी पत्रों में छपी, उसकी भाषा तो सब अँगरेज़ी पत्रों में वही थी, और साधारण अँगरेज़ी जानने वाले प्रत्येक पाठक ने उसे किसी भी अँगरेज़ी पत्र में पढ़ लिया और समझ लिया। सम्मेलन की जो 'हिन्दुस्तानी' में कार्रवाई 'हिंन्दुस्तानी' के पत्रों (?) में छपती (या छपी), क्या उसकी भाषा भी सब 'हिन्दुस्तानी' के पत्रों में एक सी होती (या थी) और साधारण 'हिन्दुस्तानी' जाननेवाला प्रत्येक पाठक उसे किसी

* देखिये 'राष्ट्रभाषा', अप्रैल, १९४६

भी 'हिन्दुस्तानी' के पत्र में पढ़ लेता और समझ लेता ? स्पष्ट है कि यदि अँगरेज़ी का सफल विरोध करना है तो उसके बदले में एक ऐसी भारतीय भाषा देनी पड़ेगी जिसका स्वरूप अँगरेज़ी की भाँति काश्मीर से कन्या कुमारी तक और आसाम से सीमा-प्रान्त तक निश्चित और एक हो, और इस भाषा का ऐसा नाम रखना पड़ेगा जिससे भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक एक ही भाषा और उसके एक ही स्वरूप का बोध हो। यह भाषा 'हिन्दुस्तानी' नहीं है और चाहे जो हो।* अब प्रश्न यह होता है कि सम्मेलन में इस 'हिन्दुस्तानी' कार्रवाई का रिकार्ड स्टेनोग्राफर किस लिपि में लेते, और सम्मेलन का अन्य कार्य किस लिपि में होता—देवनागरी में या फारसी लिपि में ? (और क्या फारसी लिपि में सब 'हिन्दुस्तानियों' का लिखना संभव होता ?) इससे क्या यह स्पष्ट नहीं है कि अँगरेज़ी की अकेली लिपि रोमन की भाँति अँगरेज़ी की जगह लेनेवाली भारतीय भाषा की भी केवल एक लिपि देवनागरी हो† ? इन्दूरकरजी अपने लेख में आगे लिखते हैं,

---

* जितने हिन्दुस्तानीवाले हैं उतने प्रकार की हिन्दुस्तानियाँ हैं और उतने ही प्रकार की हिन्दुस्तानियों की कल्पना है। किसी हिन्दुस्तानीवाले ने कोई सा हिन्दी शब्द बदलकर उर्दू शब्द रख दिया और किसी ने कोई सा। वस्तुत: यदि सम्पूर्ण हिन्दी कोष और सम्पूर्ण उर्दू कोष मिलाकर रख दिया जाय तो वही प्रचलित 'हिन्दुस्तानियों' का कोष कहलाने का दावा कर सकेगा। एक अखिल भारतीय सम्मेलन में ऐसी 'हिन्दुस्तानी' अँगरेज़ी को कैसे निकाल सकती है ?

† जिसमें रोमन की भाँति 'हिन्दुस्तानी' ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के समाचार, आदि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक भेजे जा सकें। अभी तो इस क्षेत्र से रोमन को निकाल कर एक भारतीय लिपि को ही प्रतिष्ठित करना कठिन मालूम होता है। दोनों लिपि कैसे प्रतिष्ठित होंगी ? अथवा क्या हिन्दुस्तानी वाले विदेशी भाषा अँगरेज़ी को तो अपदस्थ करना चाहते हैं किन्तु विदेशी लिपि रोमन को नहीं ?

"देशी नरेशों के प्रश्न की तरह सम्पादक सम्मेलन के कुछ लोग हिन्दुस्तानी नहीं जानते, यह प्रश्न भी सामने लाया गया"। क्या यह बात झूठ थी? अवश्य ही, क्या सम्मेलन में कोई ऐसा सम्पादक भी था जो अँगरेज़ी न जानता हो? अँगरेज़ी के भाषण, अँगरेज़ी की कार्रवाई तो सम्मेलन में उपस्थित प्रत्येक सम्पादक ने समझ ली। अब प्रश्न यह है कि अखिल भारतीय सभाओं और सम्मेलनों में उपस्थित प्रत्येक भारतीय एक भारतीय भाषा समझ सके, यह परिस्थिति हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपि अनिवार्य करने से शीघ्रतर उत्पन्न होगी या एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि की शिक्षा अनिवार्य करने से? प्रस्ताव का विरोध 'नेशनल हेरल्ड' के सम्पादक श्रीरामा राव ने भी किया। उनके विषय में इंदूरकरजी लिखते हैं, "आपने टूटी फूटी हिन्दुस्तानी में भाषण यह दिखाने के लिये ही किया कि हिन्दुस्तानी गंभीर विचारों का प्रतिपादन नहीं कर सकती। आपने अन्त में यह भी कहा कि मैं हिन्दुस्तानी नहीं बोल सकता"। इस पर इंदूरकर जी टिप्पणी करते हैं, "मेरी समझ में नहीं आया कि १० साल यू० पी० में रहने के बाद भी श्रीरामा राव हिन्दुस्तानी क्यों न सीख सके?" ठीक है, यदि कोई यू० पी० में रहने के कारण ही गंभीर विचारों के प्रतिपादन करने योग्य 'हिन्दुस्तानी' सीख सकता होता तो यू० पी० में पैदा होने वाले किसी बालक को तो स्कूल में 'हिन्दुस्तानी' पढ़ाने की आवश्यकता ही न होती! जिन १८ करोड़ व्यक्तियों की 'मातृ-भाषा' गांधीजी 'हिन्दुस्तानी' बताते हैं, उनको भी 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' में पारंगत करने के लिये हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को क ख ग और अलिफ बे के सिवा और कुछ पढ़ाने का कष्ट न करना पड़ता! और विलायत का एक अपढ़ देहाती बिना किसी स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़े चर्चिल का भाषण समझ लेता और ऐटली के समान बोलकर पार्लामेन्ट को मुग्ध कर लेता! वास्तव में श्रीरामा राव के कथन से श्री इंदूरकर को सोचना तो यह चाहिये था कि एक अहिन्दी

के लिये अकेली हिन्दी ही बोलना और सीखना कितना कठिन है। यू० पी० में दस साल रहने के बाद भी श्रीरामा राव जैसे शिक्षित व्यक्ति केवल उतनी ही हिन्दी सीख सके जितनी उन्होंने यू० पी० के बाज़ारों और गलियों में सुनी, और वह भी टूटी फूटी। अहिन्दियों को राष्ट्र-भाषा के बंधन में बाँधने के लिये और उन्हें राष्ट्र-भाषा सीखने की प्रेरणा देने के लिये उन पर हिन्दी उर्दू दोनों या अपरिचित शब्दों से लदी हुई हिन्दुस्तानी, और दो लिपियाँ जिनमें से एक उनके लिये नितांत अपरिचित है, लादना ज्यादा अच्छा होगा या केवल हिन्दी और देवनागरी ❀? फिर इंदूरकरजी लिखते हैं, "हिन्दुस्तानी परिपूर्ण भाषा नहीं है, यह तर्क भी उपस्थित किया गया"। इस तर्क में क्या अत्युचित है? साहित्य और समृद्धि की दृष्टि से अँगरेज़ी का मुक़ाबला बेचारी हिन्दी भी नहीं कर सकती, हिन्दुस्तानी की जिसके साहित्य की कौन कहे, स्वरूप की भी रूप रेखा तैयार नहीं हुई है, क्या बिसात है। अँगरेज़ी को निकालने के लिये अँगरेज़ी के समान समृद्ध भाषा देनी ही पड़ेगी। सोचना यह है कि अँगरेज़ी का मुक़ाबला थोड़ी बहुत सफलता के साथ ही हिन्दी कर सकती है या 'न अरबी फारसी न संस्कृत' वाली 'हिन्दुस्तानी'? इन सब बातों के कारण यदि सम्पादक सम्मेलन के सभापति श्री तुषार कान्ति घोष ने कहा कि प्रस्ताव अव्यावहारिक है, वापस लिया जाय, तो अनुचित तो नहीं कहा। यह कदापि नहीं माना जा सकता कि सम्मेलन में 'राष्ट्रीयता' केवल प्रस्तावक और समर्थकों के पल्ले पड़ी थी, और शेष

❀ जब मदरास के पिछले मंत्रि-मंडल ने स्कूलों में 'हिन्दुस्तानी' का विषय अनिवार्य किया तब उसी के विरुद्ध मदरासियों ने कठोर सत्याग्रह किया। वह हिन्दुस्तानी वर्धा की वर्त्तमान हिन्दुस्तानी की अपेक्षा हिन्दी अर्थात् तामिल और तेलगू के अधिक निकट थी। अब यदि वर्धा की हिन्दुस्तानी और दोनों लिपियाँ अनिवार्य की गईं, तो इसका मदरास में और भी तीव्र विरोध होगा, इसमें संदेह नहीं। इस हिन्दुस्तानी-वाद से क्या राष्ट्र का हित होगा?

'राष्ट्रीयता' में कोरे थे। (क्या पं० नेहरू अपना अधिकांश कार्य अँगरेज़ी में नहीं करते, अथवा क्या वे कहने से सब काम 'हिन्दुस्तानी' में करने लगेंगे ? पं० नेहरू या 'हिन्दुस्तानी' के एक अन्य धनी धोरी डा० राजेन्द्र प्रसाद अपने प्रसारार्थ (ब्राडकास्ट होने वाले) भाषण अँगरेज़ी में सोचकर, अँगरेज़ी में लिखकर पहले उनका अपनी सड़ी सी 'हिन्दुस्तानी' में अनुवाद सुनाकर फिर उन्हें अँगरेज़ी में क्यों सुनाते हैं ? जब श्रीलियाकतअलीखाँ रेडियो पर बजट के सम्बन्ध में बोलने गये तब उन्होंने तो डंके की चोट 'उर्दू' में—रेडियो की घोषणा के अनुसार ही—भाषण किया और अँग-रेज़ी में अनुवाद सुनाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी।) प्रश्न यह है कि जिन व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण प्रस्ताव गिर गया उन्हें हिन्दु-स्तानी-वाद बढ़ाता है या घटाता है ? इस प्रश्न का उत्तर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के शब्दों में सुनिये: दोनों लिपि के प्रस्ताव से केवल रोमन लिपि का जयजयकार होने वाला है*। और हिन्दुस्तानी केवल भारत में अँगरेज़ी की जड़ और गहरी करेगी। यही होगा हिन्दुस्तानी वालों के सिद्धान्तों का अन्तिम परिणाम, और यही होगा उनकी 'राष्ट्रीयता' की चरम पराकाष्ठा !

श्री इंदूरकर ने अपने लेख के अन्त में प्रश्न किया है, "क्या हम हिन्दी उर्दू तथा हिन्दुस्तानी वालों का भी इसके प्रति कोई कर्त्तव्य है ?" है—प्रत्येक बात में गांधीजी की अन्ध-भक्ति छोड़कर कभी अपनी अकल से भी काम लेना।

(२) सम्मेलन साम्प्रदायिक है।

क्यों ? क्या इसलिये कि सम्मेलन में अधिकतर हिन्दू हैं ? परन्तु हिन्दु-स्तानी की फौज में ही कितने मुसलमान हैं ? अथवा क्या सम्मेलन इसलिये साम्प्रदायिक है कि वह एक 'साम्प्रदायिक भाषा हिन्दी' का प्रचार करता है ? परन्तु सम्मेलन तो न हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा मानता है और न उर्दू

* देखिये उत्तर—परिशिष्ट १

को केवल मुसलमानों की। 'हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की', यह प्रचार करके साम्प्रदायिकता तो हिन्दुस्तानी वाले फैला रहे हैं (देखिये परिशिष्ट १२)। वे शायद समझते हैं कि ऐसा करने से उनकी हिन्दुस्तानी की दीनइलाही के लिये रास्ता साफ़ हो जायगा। वे अपनी 'हिन्दुस्तानी' को आगे ठेलने के लिये हिन्दी और उर्दू को केवल साम्प्रदायिक भाषायें ही घोषित नहीं करते हैं, वरन हिन्दी और उर्दू को एक दूसरे के समकक्ष रख देते हैं। जिस प्रकार राष्ट्रवादियों के लिये यह फैशन हो गया है कि वे अपनी राष्ट्रीयता और निष्पक्षता प्रदर्शित करने के लिये एक ही साँस में मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा को कोसें, दोनों को एक समान साम्प्रदायिक संस्थायें घोषित करें, उसी प्रकार हिन्दुस्तानीवाले अपनी हिन्दुस्तानी के गुणों का बखान करने के लिये संस्कृत-निष्ठ हिन्दुस्तानी या हिन्दी और फारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी या उर्दू को एक ही साँस में कोसते हैं, और दोनों को एक समान साम्प्रदायिक करार देते हैं। जिस प्रकार कांग्रेसी राष्ट्रवादियों को भारत को एक अखण्ड देश और भारतीयों को एक अखंड राष्ट्र माननेवाली हिन्दू महासभा और भारत के टुकड़े टुकड़े चाहनेवाली और भारतीयों को दो राष्ट्र मानने वाली मुस्लिम लीग में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी वालों को मुसलमानों के आगमन से भी पुरानी अपनी संस्कृत-निष्ठ परंपरा पर आरूढ़ और अन्य भारतीय भाषाओं के समान संस्कृत-निष्ठ हिन्दी में, और जबर्दस्ती स्वदेशी शब्द निकाल निकाल कर अस्वाभाविक रूप से फारसी-निष्ठ की हुई हिन्दी अर्थात् उर्दू में कोई अन्तर नहीं दीखता। उनके लिये हिन्दी उर्दू दोनों एक समान दोषी हैं, और निर्दोष है उनकी ९५ प्रतिशत फारसी और ५ प्रतिशत संस्कृत वाली हिन्दुस्तानी (जो विभिन्न राष्ट्रीय प्रकरणों में चल रही है)। उनके लिये यह कहना फैशन हो गया है कि हिन्दुस्तानी वास्तव में पहले एक थी (कैसी थी यह नहीं बताया जाता), और बाद में एक ओर उसे हिंदुओं ने

संस्कृत-निष्ठ और दूसरी ओर मुसलमानों ने फारसी-निष्ट किया। यदि वे सच्ची बात अर्थात् यह कि संस्कृत-निष्ठ हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी को बाद में बदल कर मुसलमानों ने उसे फारसी-निष्ठ किया, कहने लगें, तो उनकी 'असाम्प्रदायिक' ६५ प्रतिशत उर्दू + ५ प्रतिशत हिन्दी=हिन्दुस्तानी का आधार जो नष्ट हो जाय।

हिन्दुस्तानी वालों का साम्प्रदायिकता-प्रचार लिपि के मामले में और भी प्रत्यक्ष है। हम हिन्दी वाले तो चाहते हैं और प्रयत्न करते हैं कि राष्ट्र-भाषा ही नहीं, वरन् सारी भारतीय भाषायें एक ही लिपि देवनागरी में लिखी जायँ (इस प्रयत्न में हमें अहिन्दियों से भी सहयोग मिला है), परन्तु हिन्दुस्तानी वाले राष्ट्र-भाषा की भी दो लिपियाँ रखना चाहते हैं, और 'देवनागरी हिन्दुओं की लिपि है, फारसी लिपि मुसलमानों की', यह नारा लगा कर भारत के कोने कोने में लिपि-साम्प्रदायिकता का प्रचार कर रहे हैं, और सब जगह देवनागरी-फ़ारसी लिपि का झगड़ा पैदा कर रहे हैं। वे शायद समझते हैं कि ऐसा करने से उनके 'हिन्दुस्तानी की दो लिपि' वाले सिद्धांत के लिये रास्ता साफ़ हो जायगा। वे इस सिद्धांत को स्वीकृत कराने के लिये देवनागरी और फारसी लिपि को केवल साम्प्रदायिक लिपियाँ ही घोषित नहीं करते हैं, वरन् देवनागरी और फारसी लिपि को एक दूसरे के समकक्ष रख देते हैं। उन्हें स्वदेशी, पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि देवनागरी और विदेशी, अपूर्ण और अवैज्ञानिक फारसी लिपि में कोई अन्तर नहीं दीखता। उनके लिये यह कहना फैशन हो गया है कि हिंदुस्तानी की दो लिपियाँ हैं, इसलिये दोनों मान्य होनी चाहिये। यदि वे सच्ची बात अर्थात् यह कि हिन्दुस्तानी की लिपि केवल एक देवनागरी थी, और बाद में मुसलमानों ने उसे फारसी लिपि में लिखना शुरू किया, तो उनके दोनों लिपि वाले सिद्धांत का साम्प्रदायिक आधार जो नष्ट हो जाय। आश्चर्य नहीं यदि दोनों लिपि के साम्प्रदायिक नारे के फल-स्वरूप प्रत्येक भारतीय भाषा की दो दो लिपियाँ

हो जायँ—एक हिन्दुओं की और एक मुसलमानों को। इस साम्प्रदायिक कुपरिणाम का कुल उत्तरदायित्व हिन्दुस्तानी वालों पर होगा, 'साम्प्रदायिक' घोषित किये जाने वाले सम्मेलन पर नहीं।

(३) हिन्दी और हिन्दुस्तानी एक ही चीज़ हैं।

यदि ऐसा है, तो यह सब हिन्दुस्तानी की हाय तोबा क्या केवल नाम बदलने के लिये है? वास्तविकता तो यह है कि हिन्दुस्तानी हिन्दी नहीं है, इसीलिये हिन्दुस्तानी की रट लगाई जा रही है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी नहीं हो सकती (और राष्ट्र-लिपि देवनागरी नहीं हो सकती), यह प्रदर्शित करने के लिये ही 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी है', यह नारा लगाया जा रहा है। 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' को गांधी जी ने अब छोड़ दिया है (देखिये परिशिष्ट १२)। 'जीवन-साहित्य' में एक सम्पादकीय लेख में श्री हरिभाऊ उपाध्याय राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हुये लिखते हैं, "हिन्दी या हिन्दुस्तानी दोनों का एक ही मतलब है। जो माने आज हिन्दुस्तानी के किये जाते हैं वही किसी दिन हिन्दी के किये जाते थे। लेकिन आज अगर हिन्दुस्तानी के नाम में ज्यादा सहूलियत है तो उसे मान लेने में क्या बुराई है?" इस पर श्री भदन्त आनन्द कौसल्यापन ने ठीक ही आलोचना की है, "क्या सचमुच हिन्दी के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' स्वीकार करना नाम मात्र का ही परिवर्त्तन है? क्या यह केवल सहूलियत की ही बात है? आपने हिन्दुस्तानी पक्ष का जिस ढंग से समर्थन किया है, हमें सन्देह है कि स्वयं महात्मा जी को उस पर आपत्ति न हो"। वास्तव में बात यह है कि जो हिन्दुस्तानी वाले 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी एक ही चीज़ हैं' का मंत्र पढ़ते हैं, वे या तो हिन्दी वालों की अक्ल बहुत कम कूतते हैं जो वे यह समझते हैं कि इस प्रकार हिन्दीवाले हिन्दुस्तानी के जाल में फँस जायँगे या वे मुसलमानों की अकल बहुत कम कूतते हैं जो वे यह समझते हैं कि वे हिन्दी का नाम हिन्दुस्तानी रख कर उसे मुसलमानों से राष्ट्र-भाषा के रूप में

मनवा लेंगे। लिपि के मामले में उन्हें यह कहना ज़रा कठिन मालूम देता है कि देवनागरी और फारसी लिपि एक ही चीज़ हैं, इसलिये इस मामले में दूसरी तरकीब से काम लिया जाता है। श्रीहरिभाऊ उपाध्याय ने ही अपने सम्पादकीय लेख में आगे लिखा है, "लिपि के सवाल ने ज्यादा जोश पैदा किया है। इसमें शक नहीं कि वैज्ञानिकता व गुण-सम्यकता की दृष्टि से नागरी लिपि फारसी लिपि से बढ़ी चढ़ी है। एक समय ऐसा भी आ सकता है जब खुद फारसी लिपि के प्रेमी व हामी भी यह मानने व कहने लगें कि इससे तो नागरी वाक़ई श्रेष्ठ है। अतः आज तो युग-धर्म के सत्य को अंगीकार कर लेना चाहिये।" फारसी लिपि के प्रेमियों व हामियों ने पिछले दो सौ साल में तो देवनागरी की श्रेष्ठता को स्वीकारा नहीं (उल्टे देवनागरी के प्रचलित होते हुये फारसी लिपि को प्रचलित किया), अब यह सोचना कि अगले दस बीस वर्षों में स्वीकार कर लेंगे, अपने आप को धोखा देना है। फिर श्रेष्ठता का सवाल ही कब है, श्रेष्ठता को कौन पूछता है ? वाक़ई राष्ट्र-भाषा का प्रश्न क्या वैज्ञानिकता और श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से जाँचा जा रहा है ? अस्तु, भविष्य में जो कुछ भी हो, उपाध्यायजी ने यह तो बतलाया ही नहीं कि आज 'उनकी हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी' फारसी लिपि में लिखी ही कैसे जाय ? अतः हम कौसल्यायनजी की टिप्पणी दोहराना यथेष्ट समझते हैं: 'क़ाश, युग-धर्म का सत्य इतनी सस्ती वस्तु न बनता !'*

---

*यह 'युग-धर्म का सत्य' भी केवल लिपि तक सीमित है। यदि यह कहा जाय कि 'इसमें शक नहीं कि राष्ट्रीयता व सम्पूर्ण राष्ट्र की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी उर्दू से बढ़ी चढ़ी है। एक समय ऐसा भी आ सकता है जब ख़ुद उर्दू के प्रेमी व हामी यह मानने व कहने लगें कि वाक़ई राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है। अतः आज तो युग-धर्म के सत्य को अंगीकार कर हिन्दी और उर्दू दोनों को राष्ट्र-भाषा मान लेना चाहिये', तो यह युग-धर्म

अभी हाल में बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १६वें अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के विषय में भाषण करते हुये बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने कई भ्रांति उत्पन्न करने वाली बातें कही हैं। उन्होंने पहले कहा*, "मैं इस बात को मानता हूँ कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्र-भाषा है" (शायद 'हिन्दी' से उनका मतलब 'खड़ी बोली' से था), और फिर उन्होंने हिन्दी को तीन वर्गों में बाँटा—(१) साहित्य की भाषा, (२) समाचार-पत्रों की भाषा, (३) बोलचाल की भाषा। उन्होंने कहा कि समाचार पत्रों की भाषा उच्च साहित्य की भाषा से भिन्न होती है, और बोलचाल की भाषा एक तीसरे प्रकार की होती है, और अहिन्दी प्रान्तों में इसी तीसरी कोटि की भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचारित होगी। इस बोलचाल की भाषा को ही वे 'हिन्दुस्तानी' नाम से पुकारना चाहते हैं। इस प्रकार बाबू राजेन्द्र-प्रसाद ने घुमा फिरा कर यही कहा कि हिन्दुस्तानी हिन्दी ही है। परन्तु जिन तीन कोटियों में उन्होंने हिन्दी को विभाजित किया, क्या वे केवल हिन्दी भाषा की विशेषतायें हैं? विलायत के बाज़ारों में जो अँगरेज़ी बोली जाती है उसी में विलायत के अख़बार नहीं छपते, और शेक्सपियर तथा मिल्टन ने उसी अँगरेज़ी में नहीं लिखा जिसमें अँगरेज़ी पत्र छपते हैं, परन्तु क्या इस कारण किसी ने अँगरेज़ी को आधी दर्जन कोटियों में विभाजित किया अथवा क्या उनके भिन्न भिन्न नाम रक्खे? अँगरेज़ी बस अँगरेज़ी है। उसी प्रकार हिन्दी बस हिन्दी है और उसे विभिन्न कोटियों में नहीं बाँटा जा सकता, और न किसी कोटि की हिन्दी का 'हिन्दी' से भिन्न कोई नाम रक्खा जा सकता है। प्रत्येक भाषा में विषय और पाठकों

का सत्य हिन्दुस्तानी वालों को न रुचेगा। भाषा के मामले में उनका युग-धर्म 'हिन्दुस्तानी' की त्रिवेणी खोद कर प्रकट करना है।

* देखिये अप्रैल, १६४६ की 'राष्ट्र-भाषा' और अप्रैल, १६४६ की 'सरस्वती'।

के ज्ञान के अनुरूप शैली बदला ही करती है, परन्तु इस कारण न भाषा का नाम बदलता है और न उसकी शब्दावली। हिन्दी में भी ऐसा ही होता है। जिस प्रकार अँगरेज़ी का 'लिटरेचर' शब्द नहीं बदल जाता, उसी प्रकार हिन्दी में उच्च साहित्य में आने वाला शब्द 'साहित्य' समाचार पत्रों में जाकर 'अदब' नहीं हो जाता। प्रचार के मामले में भी वही बात है। जो अँगरेज़ी अँगरेज़ बच्चों को पढ़ाई जाती है, वह अँगरेज़ी साहित्य वाली अँगरेज़ी से भिन्न नहीं होती, और जो अँगरेज़ी ग़ैर-अँगरेज़ बच्चों को पढ़ाई जाती है, वह अँगरेज़ बच्चों को पढ़ाई जानेवाली अँगरेज़ी से भिन्न नहीं होती। जैसी अँगरेज़ी इङ्गलैंड की भाषा है वैसी बृटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा है, और वैसी ही संसार-भाषा है। इसी प्रकार हिन्दी प्रान्तों में पढ़ाई जानेवाली हिन्दी साहित्य की हिन्दी से भिन्न नहीं हो सकती, और अहिन्दी प्रान्तों में प्रचारित की जानेवाली हिन्दी हिन्दी प्रान्तों की हिन्दी से भिन्न नहीं हो सकती, अर्थात् राष्ट्र-भाषा हिन्दी प्रान्त-भाषा हिन्दी या मातृ-भाषा हिन्दी से भिन्न नहीं हो सकती (देखिये परिशिष्ट १२)। और, हिन्दी प्रान्तों की वह बोलचाल की भाषा क्या है, कैसी है, सब जगह एक सी है अथवा नहीं, उसका सबसे अधिक सुलभ स्वरूप क्या है, और वह किस लायक है, इन सब बातों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव में बात यह है कि हिन्दुस्तानी के समर्थक अन्य राजनीतिक नेताओं की भाँति बाबू राजेन्द्रप्रसाद भी राष्ट्र-भाषा की समस्या पर अपने राजनीतिक दृष्टि-कोण को अलग रखकर विचार करने में असमर्थ हैं।* इसका एक

* बाबू राजेन्द्रप्रसाद की राजनीतिक उलझन के कुछ और नमूने देखिये—
(१) अपने भाषण में पहले उन्होंने कहा, "भाषा के स्वरूप निर्धारण पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भाषा बनाने की चीज़ नहीं है। वस्तु, काल, आदि से प्रभावित होकर वह स्वयं बनती है और स्वयं भू राष्ट्र-भाषा हो सकती है", और आगे चलकर कहा, "आज इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि बंगाल, पंजाब, मद्रास, आदि देश के विभिन्न

प्रमाण यह भी है कि श्रीहरिभाऊ उपाध्याय ने तो लिपि के मामले का ज़िक्र भी किया, परन्तु कुशल राजनीतिज्ञ बा० राजेन्द्रप्रसाद ने अपने भाषण में

भागों में समझी जानेवाली एक सरल राष्ट्र-भाषा का निर्माण किया जाय।" वास्तव में भाषा-निर्माण ही तो हिन्दुस्तानी वालों का पेशा है—भाषा स्वयं बनती है यह तो कभी कभी कहने की बात है। इसीलिये वर्धा की हिन्दुस्तानी-गढ़-कमेटी, बिहार की हिन्दुस्तानी-गढ़-कमेटी, आदि हिन्दुस्तानी वालों ने स्वयं स्थापित की हैं, और इसीलिये वे रेडियो की हिन्दुस्तानी-गढ़-कमेटी में विराज रहे हैं। और चूँकि 'स्वयंभू' राष्ट्र-लिपि नहीं हो सकती, इसलिये बंगाल, पंजाब (?), मद्रास, आदि देश के विभिन्न भागों में सबके गले के नीचे दो लिपियाँ उतारी जा रही हैं! (२) उन्होंने कहा कि अगर मैं हिन्दुस्तानी का पक्षपाती हूँ तो मेरी हिंदुस्तानी का स्वरूप कठिन दुरूह उर्दू नहीं और न कठिन संस्कृतमयी हिंदी है। परन्तु क्या विशेषण 'कठिन' हटा देने से उर्दू उर्दू नहीं रहेगी और हिंदी हिंदी नहीं रहेगी और दोनों एक चीज़ 'हिंदुस्तानी' हो जायँगी, अथवा क्या इस विशेषण के न रहने से उर्दू अफ़ारसीमयी और हिंदी असंस्कृतमयी होजायगी? सीधी सी बात तो यह है कि उनकी हिंदुस्तानी है $\frac{\text{हिंदी+उर्दू}}{२}$। (३) "राष्ट्र-भाषा का सुगम होना जरूरी है। दुरूह और कठिन हिन्दी को मैं हिन्दुस्तानी नहीं मानता"। हम तो दुरूह और अनावश्यक रूप से कठिन हिंदी को केवल ख़राब हिंदी मानते हैं। 'साहित्य' के स्थान में 'अदब' और 'राजनीति' के स्थान में 'स्यासत' धर देने से कठिन और दुरूह हिन्दी सरल राष्ट्र-भाषा थोड़े ही हो जायगी। कठिन और सरल हिंदी के बीच में कहीं रेखा तो नहीं खींची जा सकती, फिर भी क्या जैसी हिंदी वे चाहते हैं, उसे वे हिन्दी के पहले विशेषण 'सरल' लगाकर नहीं पुकार सकते? 'हिन्दुस्तानी' नाम धरके क्यों भ्रांति और झगड़ा पैदा करते हैं? जो कुछ भी हो, जैसी हिन्दी को वे 'हिन्दुस्तानी' पुकारना चाहते हैं, क्या उसी को मुसलमान स्वीकार करने को तैयार हैं? (४) "तेलगू और फ्रांटियर के भाई भी जिसे समझ सकें वही भाषा राष्ट्र-भाषा है। साहित्य सम्मेलन की ओर से इस राष्ट्र-भाषा का जब विरोध होता है तो मुझे बड़ा अफ़सोस होता है"। यदि कोई ऐसी राष्ट्र-भाषा होती तो झगड़ा ही क्यों होता? मद्रास और

लिपि के प्रश्न को छुआ तक नहीं। राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के विषय में उन्होंने जिन सिद्धांतों या गड़बड़झालों का प्रतिपादन किया, उनकी रक्षा राष्ट्र-लिपि के मामले में करना किस प्रकार संभव होता ? वकालत का यह एक साधारण नियम है कि जिस जगह पानी मरता हो, उसका जिक्र ही न करो।

शब्दजाल रचना कठिन काम नहीं। जैसी 'हिन्दुस्तानी' वास्तव में, व्यवहार में, चलाई जा रही है, वह कैसी है, इस पर प्रकाश पहले डाला जा चुका है। हिन्दी वालों को 'हिन्दुस्तानी और हिन्दी एक ही चीज़ हैं', इस झाँसा-पट्टी से सावधान रहना चाहिये। (देखिये परिशिष्ट १३)

(४) हिन्दुस्तानी का उद्देश्य हिन्दी को नष्ट करना या उसे विकृत

सीमा-प्रान्त में राष्ट्र-भाषा-प्रचार की आवश्यकता ही क्यों पड़ती ? तेलगू भाई 'अन्तर्राष्ट्रीय', 'साहित्य' और 'कविता' समझते हैं, सरहदी भाई 'बैनुल-अकवामी,' 'अदब' और 'नज़्म' समझते हैं। जिस राष्ट्र-भाषा को दोनों भाई समझ सकें, उसमें इनमें से किन शब्दों को लिया जाय ? तेलगू प्रांत में प्रचलित सब संस्कृत शब्दों को और सीमा-प्रांत में प्रचलित उनके सब अरबी-फ़ारसी पर्यायों को राष्ट्र-भाषा में कैसे ले लिया जाय ? (यदि ले ही लिया जाय तो वह किस काम की राष्ट्र-भाषा होगी, और उससे ऐसी कौन सी समस्या हल होगी जो वर्त्तमान हिन्दी और उर्दू से, उनके अलग अलग रहते, हल नहीं हो सकती ?) एक न एक भाई को तो नये शब्द सीखने ही पड़ेंगे, क्यों न वे शब्द लिये जायँ जिन्हें सबसे अधिक भाई समझते हैं ? ऐसी राष्ट्र-भाषा हिन्दी है और उसी का प्रचार सम्मेलन करता है। सम्मेलन की ओर से ऐसी सर्वाधिक सुलभ राष्ट्र-भाषा का नहीं (जिसका प्रचार वह स्वयं करता है), वरन् वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' का (जिसके बा० राजेन्द्रप्रसाद स्वयं एक जनक हैं) विरोध होता है जो स्वयं भू भाषा नहीं, प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर निर्मित राष्ट्र-भाषा नहीं, बस केवल एक पैक्ट की कृत्रिम भाषा है जो अब गढ़ी जा रही है। और सम्मेलन की ओर से विरोध होता है "दोनों लिपि" वाले सिद्धान्त का। क्या 'तेलगू और सीमा-प्रान्त के भाई' दोनों लिपि जानते हैं ? यदि नहीं जानते तो दोनों लिपि क्यों, और यदि जानते हैं तो एक ही लिपि से काम क्यों न लिया जाय ?

करना नहीं है। वह तो केवल राष्ट्र-भाषा होगी। हिन्दी वाले शुद्ध हिन्दी में लिखने और बोलने के लिये स्वतंत्र होंगे।

'लोकवाणी' में एक लेख में (दिसम्बर, १९४५ की 'हिन्दी' में उद्धृत) श्रीकाका कालेलकर लिखते हैं, "हम जो राष्ट्र-भाषा का प्रचार करने वाले हैं हमारी भी अपनी अपनी जन्मभाषा यानी स्वभाषा है। उसे शुद्ध रखने का, उसकी परंपरा सँभालने का और उसका साहित्य समृद्ध करने का हम भी प्रयत्न करते रहते हैं। मराठी का ही उदाहरण लीजिये। बृटिश-राज के प्रारम्भ के दिनों में जब मिशनरियों ने मराठी द्वारा अपना धर्म प्रचार करने के लिये उस भाषा में बोलना और लिखना शुरू कर दिया तब उन्होंने मराठी का स्वरूप बहुत कुछ बिगाड़ा। उस समय हम लोगों ने मिशनरियों का ऐसा घोर विरोध किया कि उन्होंने फिर से मराठी का वैसा अपराध करने की हिम्मत नहीं की। गुजराती में भी जब कभी किसी ने गुजराती की शैली बिगाड़ी है तब गुजरात के लोगों ने अपनी भाषा शुद्धि के लिये कुछ न कुछ आवाज़ उठाई है। अतः हम लोग हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बिगाड़ने का प्रस्ताव हरगिज़ नहीं करेंगे। हिन्दी साहित्य की जो परंपरा तुलसीदास, सूरदास, कबीर, भूषण, रसखान, रहिमन, आदि लेखकों द्वारा प्रवृत्त हुई है, उसे तोड़ने का प्रयत्न हमसे कभी भी नहीं होगा। भाषा हर एक जाति का आत्मिक धन है। भाषा-शुद्धि का आग्रह चरित्र-शुद्धि के आग्रह के समान ही है।"

विचार तो बहुत ठीक हैं*, परन्तु क्या उनके अनुसार कार्य हो रहा है? क्या वास्तव में 'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' का आन्दोलन हिन्दी, जो हमारी जन्मभाषा यानी स्वभाषा है, की स्वाभाविक शैली को नहीं बिगाड़

*** चलो, काका जी को इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में हिन्दी की शैली को परिष्कृत और शुद्ध करने के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसके विरुद्ध कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रही।**

रहा है और नहीं बिगाड़ेगा, अथवा उसके स्वरूप को विकृत नहीं करेगा और उसकी प्राचीन परंपरा को नहीं तोड़ेगा ? क्या 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की ही एक विकृत शैली नहीं है, और क्या 'हिन्दुस्तानी' लिखने, बोलने और प्रचार करने का प्रयास मिशनरियों द्वारा विकृत मराठी लिखे और बोले जाने के समान नहीं है ? जैसा घोर विरोध श्री काका कालेलकर के सहभाषियों ने मिशनरियों का किया, क्या हिन्दुस्तानी वालों का वैसा ही घोर विरोध करना हम हिन्दी वालों के लिये उचित नहीं, जिससे उनको हिन्दी के प्रति ऐसा अपराध करने की फिर हिम्मत न हो ?

मामले के इस पहलू को अच्छी तरह से समझ लेना अति आवश्यक है। हिन्दी वालों के लिये तो आवश्यक है ही, उन हिन्दुस्तानी वालों के लिये भी आवश्यक है जिनके चित्त में वास्तव में यह धारणा जम गई हो कि हिन्दुस्तानी से हिन्दी को हानि नहीं पहुँचेगी, और जो इस प्रकार हिन्दी की ओर से निश्चिन्त हो एक झूठी राष्ट्रीयता का लबादा ओढ़े हुये आन्दोलन के प्रभाव में आकर हिन्दुस्तानी वालों के गिरोह में जा मिले हों। 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से भिन्न कोई भाषा नहीं। यदि वह हिन्दी से उसी प्रकार एक भिन्न भाषा होती जिस प्रकार बँगला या मराठी हैं, तो उसके प्रचार से हम हिन्दी वालों को उससे अधिक चिन्ता न होती जितनी बँगला या मराठी या गुजराती या अन्य संस्कृत-निष्ठ भाषा-भाषियों को इस समय है। परन्तु 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की ही एक भ्रष्ट शैली है, और वह राजनीतिक और साम्प्रदायिक हेतुओं को सिद्ध करने के लिये और एक झूठे राष्ट्र-धर्म का प्रचार करने के लिये हिन्दी की स्वाभाविक शैली को ही मनमाने तौर से बिगाड़ कर, परिवर्तित और तोड़-मरोड़ कर बनाई जा रही है। वह हिन्दी की 'सगी' दुश्मन है। हिन्दी पर 'हिन्दुस्तानी' का हमला दो प्रकार से हो रहा है, और होगा। एक का उद्देश्य हिन्दी के अस्तित्व को अर्थात् हिन्दी की स्वाभाविक शैली के अस्तित्व को एकदम मिटा

डालना है, और दूसरे का उद्देश्य हिन्दी को धीरे धीरे ज़हर देकर मारना है। पहले पहले हमले को लीजिये। यह पहले बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी को अपने घर से ही निकाल रही है, और किस प्रकार हिन्दी का नाम प्रांतीय भाषाओं की सूची में से ही काटा जा रहा है, और उसका स्थान 'हिन्दुस्तानी' को दिया जा रहा है। यह सब इसी कारण संभव है कि 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की ही एक शैली है। उदाहरण के लिये, यदि 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से भिन्न कोई भाषा होती, तो रेडियो के लिये हिन्दी में एक दिन भी समाचार ब्राडकास्ट न करना असम्भव हो जाता—उसी प्रकार जिस प्रकार 'हिंदुस्तानी' में समाचार ब्राडकास्ट होने पर भी उसके लिये बँगला में समाचार ब्राडकास्ट न करना असम्भव है। अब यह कौन कह सकता है कि हिंदी प्रान्तों में और केन्द्रीय प्रकरणों में हिंदी की स्वाभाविक शैली का अस्तित्व है? (और यह कौन कह सकता है कि हिंदी वालों को इस 'हिंदुस्तानी' को सुनने के लिये मजबूर करके हिंदी की स्वाभाविक शैली को नहीं बिगाड़ा जा रहा है—वहाँ पर भी जहाँ उसका अस्तित्व शेष है?) अपने अपने प्रान्त में अपनी अपनी जन्म भाषा यानी स्वभाषा का बोल बाला है, बेचारे हिंदी वालों के प्रांत में 'राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी' का बोलबाला है। केन्द्र में भी सबकी जन्मभाषायें यानी स्वभाषायें हैं, बस केवल हिंदीवालों की हिंदी नदारद है*। इस हमले की बारीकी को समझ लेना चाहिये। यह हमला फ़िलहाल सब कामकाज में हिंदी को निकाल, 'हिंदुस्तानी' बैठा कर

* क्या काका कालेलकरजी और उनके साथी हिंदुस्तानी वाले हम हिन्दी वालों से मिलकर रेडियो से यह कहने को भी तैयार हैं कि वह 'हिन्दुस्तानी' में जो कुछ ब्राडकास्ट करके हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बिगाड़े सो बिगाड़े, परंतु हिन्दी की स्वाभाविक शैली में भी समाचार ब्राडकास्ट करे? देखें, इसी कसौटी पर काका कालेलकरजी का 'तुलसीदास, सूरदास, कबीर, भूषण, रसखान, रहिमन द्वारा प्रवृत्त हिन्दी की स्वाभाविक शैली और परम्परा' के प्रति प्रेम खरा उतरता है या नहीं।

हिंदी को केवल साहित्य अर्थात् कविता की भाषा बना देना चाहता है, ताकि बाद को साहित्य में भी हिंदी धीरे धीरे आप मर जाय, या बोलचाल से, जो सदैव कामकाज की भाषा अर्थात् 'हिंदुस्तानी' से प्रभावित होगी, इतनी दूर होती जाय कि उसे साहित्य में भी कोई न पूछे, और इस प्रकार साहित्य में भी धीरे धीरे 'हिंदुस्तानी' घुस जाय। हिंदी प्रान्तों में असेम्बलियों की भाषा 'हिंदुस्तानी' बने, राजकाज, दफ्तरों, कचहरियों, पुलिस और म्यूनिसपेलटियों की भाषा 'हिंदुस्तानी' बने, हिंदी में केवल कवि लोग घर बैठकर कविता करें। सोचना यह है कि इस परिस्थिति में कवि लोग भी कब तक हिंदी में कविता करेंगे ? वह जमाना गया जब कवि और साहित्यिक संसार से दूर रहकर अमर साहित्य की रचना किया करते थे, यद्यपि उस ज़माने में भी साहित्य की सबसे अधिक उन्नति उसी समय हुई है जब साहित्य की भाषा ही राजभाषा और लोकभाषा थी और साहित्यिक राजदर्बार में प्रतिष्ठा और धन पाते थे (उदाहरण—कालिदास का युग)। राज्याश्रय मामूली चीज़ नहीं। आज के आर्थिक युग में राज्याश्रय का महत्व पहले से हज़ार गुना है। आज के युग में कोई राज्याश्रय-विहीन भाषा अधिक उन्नति नहीं कर सकती, और रेडियो, सिनेमा, आदि के इस आधुनिक युग में सड़ी से सड़ी भाषा भी राज्याश्रय पाकर संस्कारी से संस्कारी भाषा का जड़ से नाश कर सकती है। इसीलिये हिंदुस्तानी वाले 'हिंदुस्तानी' के लिये राज्याश्रय प्राप्त करने के लिये इतने उत्सुक हैं। आजकल राज्याश्रय का अर्थ कवियों को आर्थिक सहायता देना नहीं, वरन् भाषा को राजकाज के लिये अपनाना है। यही हिंदुस्तानी वाले कर रहे हैं। वे यह भी जानते हैं कि जिस प्रकार साम्राज्य-भाषा अँगरेज़ी मातृभाषा अँगरेज़ी या इंगलैंड की भाषा अँगरेज़ी से भिन्न नहीं रह सकती, और अँगरेज़ी साहित्य बिना अँगरेज़ों के सहयोग के जीवित नहीं रह सकता और फल फूल नहीं सकता, उसी प्रकार राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' भी प्रान्तभाषा हिंदी से अधिक दिनों तक भिन्न नहीं रहसकती और 'हिंदुस्तानी' साहित्य

बिना हिन्दियों के सहयोग के नहीं फल फूल सकता, इसलिये 'हिन्दुस्तानी' की सफलता के लिये वे उसे प्रथम हिंदी प्रान्तों की राजभाषा बनाना चाहते हैं* । अब कल्पना कीजिये—हिंदी प्रान्तों में राज-व्यवहार में सब तरफ़ 'हिंदु-

---

* इसी कारण वे केन्द्र में, जैसे रेडियो में, हिंदुस्तानी को प्रान्तीय भाषाओं (जिनमें हिन्दी उर्दू भी शामिल हैं) के अतिरिक्त बतौर राष्ट्रभाषा के नहीं वरन् बतौर एक प्रदेश अर्थात् हिंदी प्रांतों की भाषा के प्रयुक्त करना चाहते हैं । रेडियो से अन्य प्रांतीय भाषाओं में ख़बरें होती हैं, हिंदी और उर्दू में नहीं । उनकी जगह 'हिन्दुस्तानी' है । क्यों ? इसलिये कि अगर आज हिन्दी और उर्दू में भी ख़बरें होने लगें तो 'हिन्दुस्तानी' की ख़बरें कौन सुनेगा, उन्हें सुननेवाला कौन रह जायगा ? इसी कारण सर अकबर हैदरी की रेडियो कमेटी में डा० ताराचन्द ने 'हिन्दुस्तानी' के 'Experiment' (प्रयोग) की सफलता के लिये हिन्दी और उर्दू में ख़बरें न देना आवश्यक करार दिया । वे 'हिन्दुस्तानी' को पहले एक प्रान्तीय भाषा मनवाना चाहते हैं ताकि उसकी जड़ जम जाय । यह बात दूसरी है कि सरकार ने भी लाखों व्यक्तियों द्वारा निश्चित हिन्दी और उर्दू शैलियों का जन्मसिद्ध अधिकार छीनकर डा० ताराचन्द और उनके आधे दर्जन साथियों की अभीष्ट 'हिन्दुस्तानी' को प्रतिष्ठित करना उचित समझा, अथवा लाखों व्यक्तियों की माँग से डा० ताराचंद की माँग को अधिक महत्व दिया । इसमें सरकार का ख़ुद अपना स्वार्थ है । क्या है, यह रेडियो की नीति से परिचित हिन्दीवाले भलीभाँति जानते हैं । केन्द्र में हिन्दुस्तानीवालों की आज चल रही है; हिन्दी प्रान्तों में अब धावा बोला जा रहा है । आज कहा जा रहा है, हिन्दी उर्दू में ख़बरें और अन्य सरकारी प्रोग्राम ब्राडकास्ट नहीं हो सकते (हाँ, बक़ौल ताराचन्दी रेडियो कमेटी के, उनका उद्देश्य 'हिन्दी उर्दू के साहित्यिक प्रोग्राम जैसे कविता-पाठ, आदि बन्द करना नहीं है'—देखिये न ! ', कोई केन्द्रीय व्यवहार हिन्दी उर्दू में नहीं हो सकता—केवल 'हिन्दुस्तानी' और प्रान्तीय भाषाओं में होगा; कल कहा जायगा कि युक्त-प्रांत, बिहार, आदि में हिन्दी या हिन्दी उर्दू दोनों को राज-व्यवहार में कोई स्थान नहीं मिल सकता, केवल 'हिंदुस्तानी' चलेगी, हाँ, हिंदी उर्दू में साहित्य रचना और कविता-पाठ नहीं रोका जायगा ।

स्तानी' चल रही है, ऐसी अवस्था में हिंदी की स्वाभाविक शैली का क्या होगा ? यहाँ इतिहास से कुछ मदद मिल सकती है, यद्यपि आज के युग में राज्याश्रय पहले से भी अधिक महत्वपूर्ण है। जब तक फ़ारसी राजभाषा रही, तब तक फ़ारसी का बोलबाला रहा—उसी प्रकार जिस प्रकार आज अँगरेज़ी का है, 'पढ़ें फ़ारसी बेचें तेल, यह देखो विधना के खेल', यह कहावत बनी*, तेल बेंचने से वचनेवालों ने फ़ारसी पढ़ी, संस्कृत और देशी भाषाओं की पूछ न रही, खूब फ़ारसी का प्रचार हुआ और देशी भाषाओं पर फ़ारसी का खूब प्रभाव पड़ा। फ़ारसी का यह घटाटोप कब हटा ? जब १८३७ में फ़ारसी से राज्याश्रय हटा। फ़ारसी से राज्याश्रय हटाकर जब देशी भाषाओं को राज्याश्रय दिया गया, तब देशी भाषाओं की पूछ शुरू हुई—उससे पहले नहीं। हिन्दी प्रान्तों में दुर्भाग्यवश उर्दू और उर्दू लिपि को राज्याश्रय मिला, हिन्दी और देवनागरी को नहीं। उसका जो परिणाम हुआ है, वह इस समय जीवित बहुत से हिंदीवालों ने अपने जीवन में ही अनुभव किया है। खूब उर्दू का प्रचार हुआ, वही शिष्ट-समाज की भाषा समझी जाने लगी, अँगरेज़ों और विदेशियों ने भी उर्दू ही सीखी, विदेशों में उर्दू का ही प्रचार हुआ हिंदी गँवारू हो गई, उर्दू लिपि के कारण खूब शब्दों का उच्चारण भ्रष्ट, हुआ, हिंदुओं ने हिंदी को त्यागा, हिंदी साहित्य को त्यागा, हिंदी साहित्य रचना त्यागा, अपने आचार विचार और वेश-भूषा को त्यागा, हिंदू अपनी सभ्यता और संस्कृति से दूर होते चले गये, रामायण तक उर्दू में पढ़ने लगे, एक मामूली सा पत्र भी देवनागरी में लिखना भूल गये, और उर्दू का पंडित होने में गर्व का अनुभव करने लगे। यह है राजभाषा और राज्याश्रय का प्रभाव ! उस पीढ़ी के

*** उसी परिस्थिति में जिसमें आज अँगरेज़ी पास ग्रेजुएट को जूतों पर पालिश करते देखकर महान आश्चर्य होता है और हम धारोधार आँसू बहाते हैं, परन्तु एक हिंदी साहित्य-रत्न को भूखों मरते देख कर हमें कुछ आश्चर्य नहीं होता।**

हिन्दू अब भी कचहरियों और दफ्तरों में भरे हुये हैं। कुछ अपनी अवस्था का अनुभव कर अब पश्चात्ताप कर रहे हैं और अपने बाप-दादों को कोस रहे हैं, और कुछ हिन्दुस्तानी वालों के मुखिया बन बैठे हैं (कारण स्पष्ट हैं)। वास्तव में उर्दू के पिछले सौ वर्ष लम्बे अखण्ड राज्य में हिन्दी प्रांतों (मुख्यतः युक्त-प्रांत) के हिन्दुओं और हिन्दू-संस्कृति का जो घोर पतन हुआ है, वह कई सौ वर्ष लम्बे मुस्लिम-शासन और फारसी के राज्य में भी नहीं हुआ था। क्यों ? इसीलिये कि उर्दू हिन्दी की ही एक विकृत शैली होने के कारण हिन्दी का नाश करने में फ़ारसी की अपेक्षा कहीं अधिक समर्थ थी। जनता को वह इतनी दुरूह नहीं मालूम पड़ी जितनी फारसी; उसका विदेशीपन धीरे धीरे भूलने लगा और अन्त में बहुत से उसे ही वास्तविक हिन्दी मानने लगे। आज भी उर्दू को ही वास्तविक हिन्दी या हिन्दुस्तानी मानने वाले मौजूद हैं, और वे ही युक्त-प्रांत में हिन्दुस्तानी वालों के दल का संचालन कर रहे हैं। अच्छा, हिन्दी का उत्थान कब से आरम्भ हुआ ? जब से उस पर थोड़ी बहुत राज-कृपा हुई और वह स्कूलों में पढ़ाई जाने लगी। और देवनागरी का प्रचार तब से बढ़ा जब महामना मालवीय जी के उद्योग से राजभाषा उर्दू को पाजामा के साथ साथ धोती भी पहनाने का हुक्म हुआ (उसका भी कितना विरोध हुआ—डा० ताराचन्द और पं० सुन्दरलाल के पूर्वजों की ओर से ही !) फिर भी बीस-पचीस वर्ष पहले तक स्कूलों में हिन्दी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या उङ्गलियों पर गिनी जा सकती थी। कक्षा में हिन्दी वाले छात्रों की संख्या होती थी पाँच, और उर्दू वाले छात्रों की संख्या होती थी पचास जिनमें से चालीस हिन्दू होते थे और दस मुसलमान। यह सब उर्दू के राज्याश्रय के कारण हुआ। आज भी जो कायस्थ बच्चे स्कूलों में प्रथम भाषा उर्दू पढ़ते देखे जाते हैं, वह केवल उर्दू के राज्याश्रय के ही कारण, क्योंकि वैसे एक हिन्दू बच्चे के लिये हिन्दी के मुक़ाबले उर्दू में रत्ती-

भर आकर्षण नहीं है। जब तक केवल उर्दू को राज्याश्रय प्राप्त रहेगा, तब तक ऐसा ही रहेगा। अस्तु, जो कुछ हिन्दी प्रांतों में उर्दू के राजभाषा होने के कारण पिछले सौ वर्षों में हुआ, बिलकुल वही अब राजभाषा हिन्दुस्तानी होने के कारण फिर घटित होगा, और कहीं अधिक द्रुत-गति से घटित होगा। हिन्दी ने इतनी कठिनाइयों के होते हुये भी जो उन्नति की है, उस पर पानी फिर जायगा। अन्तर केवल इतना होगा कि इस बार 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी को पीछे धकेलेगी, और धकेल रही है। जब हिन्दी प्रांतों में चारों ओर, राज-काज में और व्यवहार में, 'हिन्दुस्तानी' का अखण्ड आधिपत्य होगा, तब क्या अधिकाधिक अख़बार और पुस्तकें हिन्दी की स्वाभाविक शैली में प्रकाशित होंगी? ५० वर्ष पहले उर्दू के मुक़ाबले में ही हिन्दी के कितने अख़बार और पुस्तकें प्रकाशित होती थीं* ? (और आज राजभाषा अँगरेज़ी, जो नितांत विदेशी भाषा है और जिसके सीखने में कहीं अधिक परिश्रम करना पड़ता है, के राज्य में अँगरेज़ी के मुक़ाबले हिन्दी के कितने पत्र और पुस्तकें छपती और बिकती हैं ?) क्या ऐसी स्थिति में हिन्दी के कवि और साहित्यिक हिन्दी की स्वाभाविक शैली छोड़कर व्यवहारू हिन्दुस्तानी में अपनी रचना करना अधिक लाभदायक न समझेंगे ? (आज भी कितने शिक्षित व्यक्ति राजदर्बार में प्रतिष्ठित अँगरेज़ी, जिसे अपेक्षाकृत कम लोग समझते हैं, छोड़ कर देशी भाषा में लिखते हैं ?) जब रेडियो में 'हिन्दुस्तानी' का बोलबाला होगा, तो कौन हिन्दी लेखक अपना भाषण, रूपक या नाटक ब्राडकास्ट करने के लिये हिन्दी की स्वाभाविक शैली में लिखेगा ? (आज ही देख लीजिये, हिन्दीवाले रेडियो में जाकर पैसे के लोभ से उर्दू बूँक आते हैं।) उस अवस्था में 'हिन्दुस्तानी' के मुक़ाबले में हिन्दी की स्वाभाविक शैली को कौन पूछेगा ? जब रेडियो, सिनेमा, सरकारी मंत्रियों के भाषण, जजों के

---

*सन् १८८६ और सन् १८९६ के बीच में ३६१ हिन्दी की और ९६६ पुस्तकें उर्दू की प्रकाशित हुई थीं।

फैसले, सरकारी सूचनायें, इत्यादि 'अदब' सुना सुनाकर उसे प्रचलित कर देंगी, तब हिन्दी की स्वाभाविक शैली में ही क्या 'साहित्य' के स्थान में 'अदब' न आ बैठेगा ? अर्थात् जिस प्रकार राजभाषा उर्दू ने हिन्दी में विदेशी शब्द घुसेड़े, बोलचाल में विदेशी शब्द घुसेड़े (यहाँ तक कि दिल्ली और लखनऊ की शिक्षित वर्ग की बोलचाल ही उर्दू हो गई), और अब राजभाषा अँगरेज़ी एक नितान्त भिन्न भाषा होते हुये हिन्दी में विदेशी शब्द घुसेड़ रही है, बोलचाल में विदेशी शब्द घुसेड़ रही है (यहाँ तक कि शिक्षित वर्ग की बोलचाल ही आधी हिन्दी आधी अँगरेजी या इङ्गलिस्तानी हो गई है), क्या उसी प्रकार राजभाषा 'हिन्दुस्तानी' शिष्ट समाज की बोलचाल की भाषा नहीं हो जायगी, और हिन्दी की स्वाभाविक शैली को नहीं ले डूबेगी ? **कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी प्रान्तों में राज-व्यवहार की भाषा 'हिन्दुस्तानी' होने पर साहित्य में भी हिन्दी नहीं रह सकती** । हिन्दी पर 'हिन्दुस्तानी के पहले प्रकार के आक्रमण का यही रहस्य है । इस आक्रमण का अन्तिम सर्ग होगा हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम 'हिन्दुस्तानी' बनाना (आरम्भ हो चुका है—देखिये परिशिष्ट १७) । उस सर्ग की समाप्ति पर केवल कुछ शोध-विद्यार्थी प्राचीन हिन्दी साहित्य का संस्कृत साहित्य की भाँति अध्ययन करेंगे । हिन्दी भाषा का विषय ही न रहेगा, और यदि रहेगा भी तो 'हिन्दुस्तानी' भाषा के विषय को, यदि वह अनिवार्य न हुआ तो भी (यद्यपि राष्ट्रभाषा के नाते वह सबके लिये अनिवार्य होगा), प्रथम भाषा के रूप में लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या के मुकाबले में हिन्दी भाषा के विषय को लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक होगी—उसी प्रकार जिस प्रकार बीस-पचीस वर्ष पहले तक उर्दू लेने वालों के मुकाबले में हिन्दी लेने वालों की संख्या नगण्य थी । बस, हिन्दी की स्वाभाविक शैली का इतना ही अस्तित्व शेष रहेगा । (और इस स्वाभाविक शैली का स्थान लेने

वाली 'हिन्दुस्तानी' का क्या स्वरूप है और होगा, यह पहले बतलाया जा चुका है)।

हिन्दी पर 'हिन्दुस्तानी' के दूसरे प्रकार का हमला भी साधारण नहीं है। हिन्दुस्तानी की शैली हिन्दी की स्वाभाविक शैली पर अवश्य धीरे धीरे प्रभाव डालेगी और उसे विकृत करेगी। एक भाषा की दो शैलियों (वे परस्पर विरोधी ही क्यों न हों) का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। नितान्त भिन्न भाषायें तक परस्पर सम्पर्क में आकर एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं (उदाहरण—फारसी का हिन्दी पर प्रभाव, अँगरेज़ी का सब देशी भाषाओं पर प्रभाव), फिर एक भाषा की दो शैलियों या दो रूपों का कहना ही क्या है। जो 'हिन्दुस्तानी' शैली वर्धा में, 'नया हिन्द' के सम्पादकीय कमरे* में और

---

* असल में 'एडीटोरियल', 'एडीटरी' या 'एडीटरीय' कमरा या 'कमरा-ए-एडीटरान' होना चाहिये, क्योंकि 'नया हिन्द' के हिन्दुस्तानी विशेषज्ञों ने 'एडीटर' शब्द को हिन्दुस्तानी माना है, 'सम्पादक' को नहीं। पाठकों को शायद मालूम न हो, पुण्य-तीर्थ प्रयाग की स्वनामधन्य 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी' ने 'हिन्दुस्तानी बोली' और 'दोनों लिखावटों' में एक 'माहवारी' 'नया हिन्द' निकालने का निश्चय किया है। 'एडीटर बोर्ड' के दो माननीय 'मेम्बर' हैं पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचन्द। 'हिन्दुस्तानी बोली' में लिखी हुई 'हि० कलचर सोसाइटी' के 'सेक्रेटरी' पं० सुन्दरलाल की 'नया हिन्द' विषयक सूचना, जिसे ज्यों का त्यों छापकर हिन्दी पत्रों ने 'हिन्दुस्तानी बोली' के प्रचार का पुण्य कमाया, से अनुमान होता है कि 'हिन्दुस्तानी बोली' से अभिप्राय है उर्दू—उर्दू की शैली, उर्दू के मुहावरे, उर्दू का वाक्य—जिसमें कहीं कहीं उर्दू 'लिखावट' में लिखे जाने योग्य हिन्दी शब्द धर दिये जायँ। नमूना देखिये: "...यह माहवारी हिन्दुस्तान की पूरी आज़ादी का हामी होगा जिसे मुल्क की सभी पार्टियाँ हासिल करना चाहती हैं। साथ ही हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी के मक़सद को सामने रखते हुये यह पार्टियों के छोटे छोटे और दो दिन के आपसी झगड़ों से अलग रहने की कोशिश करेगा। गुत्थियों का सुलझाना भी इसका काम होगा सिर्फ़ इसलिये कि कुछ बने और

अन्य कारख़ानों में तैयार की जा रही है, उससे हिन्दी की स्वाभाविक शैली को वैसा ही ख़तरा है जैसा मिशनरियों की मराठी से मराठी की स्वाभाविक शैली को उत्पन्न होगया था। इसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। प्रश्न किया जा सकता है कि उर्दू भी तो हिन्दी की एक शैली है, उसके प्रभाव से हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बचाने के लिये क्या किया जा रहा है? ठीक है, हिन्दी पर उर्दू का भी बुरा प्रभाव पड़ा है और आगे और पड़ेगा। हम उससे भी हिन्दी को बचाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इस पुस्तक का प्रथम भाग इसी दिशा में एक क़दम है। हम उर्दू को भी हिन्दी की एक अस्वाभाविक शैली मानते हैं (जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है), और हम उसका प्रचार नहीं करते। परन्तु उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' में बड़ा भारी अन्तर है। उर्दू शैली अपनी भिन्न लिपि के कारण आगे बढ़ी। यदि हिंदी एक भिन्न लिपि में न लिखी जाती तो भाषा भी भिन्न न होती। परन्तु जहाँ एक भिन्न लिपि ने एक भिन्न शैली को जन्म दिया, वहाँ उसने उस शैली को हिन्दी की स्वाभाविक शैली से पृथक् भी रक्खा। जिन्होंने उर्दू शैली में लिखना चाहा उन्होंने उसे फ़ारसी लिपि में लिखा, यहाँ तक कि फ़ारसी लिपि 'उर्दू लिपि' कहलाने लगी। लिपि ने एक पार्थिव बाधा का काम किया। लिपि के कारण हिन्दी उर्दू के अत्यधिक प्रभाव से बच गई, और

रूप ले। .... जिन बातों में सब जमातों और फ़िर्क़ों के लोग एक राय हैं उन्हें चमकाने की कोशिश करेगा"। पता नहीं, 'नया हिन्द' की बिसमिल्लाह— 'हिन्दुस्तानी बोली और दोनों लिखावट'—पर ही 'सब जमातों और फ़िर्क़ों के लोग' एकमत हैं या नहीं, हाँ, प्रयाग में हिन्दुस्तानी वालों का एक लाउड-स्पीकर अवश्य लग गया।

('नया हिन्द' का प्रकाशन आरम्भ हो गया है और उक्त अनुमान की पुष्टि भी होगई है। इसकी 'हिन्दुस्तानी' है उर्दू जिसमें, श्रीभदन्तआनन्द कौसल्यायन के शब्दों में, "बीच बीच में कुछ हिन्दी वाक्य हैं जो देवनागरी में शुद्ध और उर्दू लिपि में शुद्ध नहीं लिखे जा सके हैं"।)

उसने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रक्खा। किन्तु यह 'हिन्दुस्तानी' तो उसी लिपि में अथवा उस लिपि में भी लिखी जायगी जिसमें हिन्दी लिखी जाती है। फिर हिन्दी की स्वाभाविक शैली 'हिन्दुस्तानी' से भिन्न कैसे रह सकती है? आज भी एक साधारण व्यक्ति 'उर्दू लिपि' में लिखा हुआ देखकर कहता है, 'उर्दू में है,' और 'हिन्दी लिपि' में लिखा हुआ देखकर कहता है, 'हिन्दी में है' (जिस प्रकार रोमन लिपि में लिखा हुआ देखकर—जैसे स्टेशनों के नाम—कहता है 'अँगरेज़ी में है')। जब 'हिन्दुस्तानी' भी देवनागरी में लिखी मिलेगी तो वह भी 'हिन्दी' कहलायेगी और इस प्रकार 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी की स्वाभाविक शैली को ग़र्क़ कर देगी। 'हिन्दुस्तानी' देवनागरी में प्रकट होकर हिन्दी की स्वाभाविक शैली को बिगाड़ रही है। उर्दू और हिंदुस्तानी दोनों ही हिंदी की दुश्मन हैं—अन्तर केवल यह है कि उर्दू बाहर से हिन्दी के अधिकारों पर हाथ साफ़ करना चाहती है और वर्तमान सरकार अर्थात् बृटिश सरकार उसकी मदद पर है, परन्तु 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी को अन्दर से नष्ट करना चाहती है और भावी सरकार अर्थात कांग्रेस सरकार 'राष्ट्रीयता' का लेबिल चिपकाये उसकी मदद पर है। पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि दोनों में से कौन अधिक घातक है। उर्दू के प्रभाव को हम आज रो रहे हैं, परन्तु 'हिन्दुस्तानी' के हमले के सफल होने पर कोई रोने वाला ही न रहेगा।

कहा जायगा कि 'हिन्दुस्तानी' उर्दू लिपि में प्रकट होकर उर्दू पर भी तो चोट करेगी। शायद, परन्तु यह कोई तर्क नहीं हुआ कि हम आपको इसलिये मारना चाहते हैं कि हम किसी दूसरे को भी मार रहे है। हमें उर्दू से मतलब ? हम उर्दू पर मोहित नहीं; एक अस्वाभाविक शैली उर्दू के स्थान पर एक ज़रा उन्निस अस्वाभाविक शैली 'हिन्दुस्तानी' का आ जाना (क्योंकि उर्दू लिपि तो हिन्दुस्तानी की एक लिपि बन कर वैसी की वैसी रहेगी ही) हमारे लिये कोई दिलचस्पी नहीं रखता। परन्तु यथार्थ तो यह है कि यह कहना बिलकुल

ग़लत है कि 'हिन्दुस्तानी' से उर्दू की भी वही हानि होगी जो हिन्दी की। यह पहले कहा जा चुका है कि राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दी को खा जाना चाहती है। उर्दू 'हिन्दुस्तानी' के दोनों प्रकार के हमलों से इसलिये सुरक्षित है कि ऐसा कोई माई का लाल नहीं जो पंजाब, सीमाप्रान्त, आदि उर्दू प्रान्तों में उर्दू के स्थान में 'हिन्दुस्तानी' (और दोनों लिपि) को राजभाषा बनवा सके, और दूसरे प्रकार के हमले से उर्दू अपनी लिपि के कारण सुरक्षित है क्योंकि **उर्दू-लिपि में हिन्दी के अधिकांश संस्कृत शब्द लिखे ही नहीं** जा सकते। यह पहले बतलाया जा चुका है कि जो 'हिन्दुस्तानी' उर्दू लिपि में प्रकट होती है, वह शुद्ध उर्दू से भिन्न नहीं होती। इसका कारण बहुत हद तक उर्दू लिपि है। उर्दू से कुछ भिन्न हिन्दुस्तानी केवल देवनागरी में प्रकट होती है, क्योंकि उसी में प्रकट हो सकती है। उर्दू वाले एक तो वैसे ही हिन्दी नहीं जानते और न जानने की पर्वाह करते हैं (वरन् उससे घृणा करते है), दूसरे उनकी लिपि की अपूर्णता एवं अवैज्ञानिकता हिन्दी के विरुद्ध एक अतिरिक्त किले का काम करती है। हिन्दी के साहित्यिक ही उर्दू सीखते हैं और वे ही 'हिन्दुस्तानी' की धुन में हिन्दी में उर्दू शब्द भरकर हिन्दी को विकृत कर सकते हैं। अतः सब प्रकार से 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दी की दुश्मन है। इसका प्रमाण दिया जा सकता है। 'हिन्दुस्तानी' के प्रभाव से केवल हिन्दी उर्दू शब्दों से लदती जा रही है, जब कि उर्दू पहले की भाँति विशुद्ध है। 'हिन्दुस्तानी' ने हिन्दी के साहित्यिक ही हिन्दी से छीने हैं, उर्दू के नहीं (आज 'हिन्दुस्तानी' लिखने वालों में कितने उर्दू लेखक दिखाई देते हैं ? और जो दिखाई देते हैं उनकी हिन्दुस्तानी क्या उर्दू से भिन्न है ?), हिन्दी के साहित्यिकों पर ही हिन्दुस्तानी वाले दबाव डाल रहे हैं। सम्मेलन त्याग कर कितने ही हिन्दी वाले 'हिन्दुस्तानी' की सेना में भरती हो गये, परन्तु अंजुमन-तरक्की-उर्दू से किसी ने त्याग-पत्र नहीं दिया। हिन्दी प्रचारकों को ही पकड़-पकड़ कर 'हिन्दुस्तानी' की

दीक्षा दी जा रही है । एक हिन्दी पत्र 'विश्ववाणी' ने ही अपनी भाषा हिन्दी बदल कर डंके की चोट 'हिन्दुस्तानी' कर दी । इत्यादि, इत्यादि ।

"'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य हिन्दी की शैली को नष्ट करना या विकृत करना नहीं है," यह हिन्दी वालों को मोह-निद्रा में सुलाने के लिये एक अफीम की गोली है, अथवा यों कहिये, पीछे से हिन्दी का शिकार खेलने के लिये एक धोखे की टट्टी है । इस टट्टी को खड़ा करने वाले हिन्दुस्तानी के सेना-नायक हिन्दी पर 'फ्रांटल अटैक' न करके (या इतना साहस न होने के कारण) उसे 'फ्लैंक मूवमेन्ट' द्वारा घेरना चाहते हैं ।*

४. क्या करें ?

हिन्दुस्तानी की बला का स्वरूप भली भाँति देख लिया । हिन्दी वालों को इस बला का अपनी पूरी शक्ति से मुक़ाबला करना ही है । परन्तु किस प्रकार ? यह बला साधारण नहीं है । इसने अपने पीछे राष्ट्रीय आन्दोलन की समस्त शक्ति को लगा लिया है; इसलिये बिना किसी संगठन और योजना के 'हिन्दुस्तानी' का विरोध करना केवल शक्ति का अपव्यय सिद्ध होगा । शत्रु जितना अधिक बलशाली हो, उतनी ही अधिक अपनी शक्ति को संगठित और केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है । इस समय ज़रूरत इस बात की है कि सब हिन्दी-प्रेमी एकत्र होकर समस्या पर गहरा विचार करें, और 'हिन्दुस्तानी' का मुक़ाबला करने के लिये संगठित रूप से उचित क़दम उठायें । ये क़दम क्या होने चाहिये, इस विषय में लेखक अपने विचार अन्यत्र प्रकट कर चुका है । यहाँ केवल कुछ मुख्य बातों का उल्लेख करना यथेष्ट होगा ।

---

*श्री श्रीमन्नारायण का यह कथन कि हिन्दी उर्दू वाले अपनी-अपनी भाषा को चाहे जैसा रक्खें पर उन्हें हिन्दुस्तानी रूपी एक मिली जुली शैली का विरोध करने की आवश्यकता नहीं, भी इसी कोटि का है और उसका भी यही उत्तर है ।

किसी भी शत्रु का मुक़ाबला करने के लिये पहले एक 'बेस' (base) की, या कहिये एक क़िले की, आवश्यकता होती है। हिन्दी को भी हिन्दुस्तानी का मुक़ाबला करने के लिये एक गढ़ की ज़रूरत है। यह गढ़ हिन्दी का अपना घर ही हो सकता है। हिन्दी को पहले अपने घर पर पूर्ण रूप से अधिकार करना चाहिये। यदि हिन्दी अपने घर में ही अपने पैर न जमा सकी, तो किसी बाहरी शत्रु का मुक़ाबला कैसे करेगी? हिन्दी का घर मध्य-देश है जिसमें युक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार और राजस्थान स्थित हैं। हिन्दी के साम्राज्य की यही राजधानी है, यहीं से हिन्दी के कार्य का संचालन हो सकता है। साम्राज्य की सीमाओं पर कुछ भी हो जाय, जब तक राजधानी सुरक्षित है तब तक आशा है। यदि हिन्दी अपनी राजधानी में से ही निकाल दी गई, तो समझ लीजिये इस संसार से हिन्दी उठ गई। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, हिन्दी को अपने घर में ही अपदस्थ करने का पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। हिन्दी को पहले इस प्रयत्न को विफल करना होगा, हिन्दुस्तानी की परछाँई तक को अपने घर से दूर भगाना होगा। पहले हिन्दी का अपने घर में अखण्ड राज्य स्थापित होना चाहिये। यह कार्य भी साधारण नहीं रह गया, और जितनी देर की जायगी उतना ही कठिनतर होता जायगा। एक पल भी देर करने का समय नहीं है। सबसे पहले हिन्दी को हिन्दी प्रान्तों में राजभाषा अर्थात् असेम्बली की, दफ्तरों, कचहरियों, पुलिस, म्युनिसपेल्टी, आदि की भाषा बनाना होगा—व्यवहार में और क़ानून में। हम क़ानून में 'हिन्दुस्तानी' शब्द तक नहीं रहने दे सकते। यह सब करना हमारे हाथ में है, और हमें करना ही होगा। हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के लिये राज्याश्रय प्राप्त करना ही होगा। कुछ हिन्दी-प्रेमी कहते हुये सुने जाते हैं कि हिन्दी बिना राज्याश्रय के आगे बढ़ी है और उसे राज्याश्रय की आवश्यकता नहीं, परन्तु शायद इससे बढ़कर कोई दूसरी मूर्खता की और हिन्दी के हित में घातक बात नहीं हो सकती। क्या हम उस उन्नति से

संतुष्ट हैं जो आज तक हिन्दी ने की है ? क्या उसकी जड़ें इतनी गहरी हो गई हैं कि वह बिना राज्याश्रय के फल फूल सके ? जैसा पहले बतलाया जा चुका है, राज्याश्रय साधारण बात नहीं। अब तक हिन्दी ने जो उन्नति की है वह भी बहुत कुछ राज-कृपा के ही कारण। आज राज्याश्रय पर ही दारो-मदार है। बिना राज्याश्रय के हिन्दी मिट जायगी, उसका विकास बिलकुल रुक जायगा। आजकल भरपूर राज्याश्रय न होते हुये भी हिन्दी राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण बढ़ी, परन्तु जब राष्ट्रीय सरकार स्थापित होने पर भी हिन्दी को राज्याश्रय न मिलेगा, तब हिन्दी को किसका सहारा रह जायगा ? जिस शक्ति ने आज तक हिन्दी को आगे बढ़ाया, जब वही राज-काज में हिन्दी के स्थान में हिन्दुस्तानी की प्रतिष्ठा करेगी, तब हिन्दी कैसे जीवित रह सकेगी ?* और वह स्वराज्य ही किस काम का, जिसमें स्वभाषा का स्वदेश में राज्य न हुआ ? हमें अपने घर में हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना ही होगा। हमें हिन्दी प्रान्तों की सरकारों से, चाहे वे राष्ट्रीय सरकारें क्यों न हों, साफ़ साफ़ कहना चाहिये कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है अथवा नहीं, वह प्रान्त-भाषा अवश्य है, और उसे अपने प्रान्तों में राजभाषा के पद से

---

*और तो और, जब तक हिन्दी राजभाषा न होगी तब तक शिक्षित वर्ग की बोलचाल की भाषा का ही सुधार न हो सकेगा, और उसमें से राजभाषा अँगरेज़ी के ज़रिये घुसे हुये अँगरेज़ी शब्द और राजभाषा उर्दू के ज़रिये घुसे हुये अरबी फारसी के शब्द कदापि न निकल सकेंगे। फिर जो हिन्दुस्तानी प्रतिष्ठित की जायगी उसमें इसी 'बोलचाल' के नाम पर यही उर्दू शब्द धरे जायँगे और यही भाषा जनता पर लदती चली जायगी। यह कोई न पूछेगा कि जनता के लिये सुगम शब्द कौन से हैं। अर्थात् यही उर्दू सबकी बोलचाल की भाषा होती चली जायगी। जैसा पहले कहा जा चुका है, 'हिंन्दुस्तानी' नाम रहते राजभाषा उर्दू का कचहरियों, दफ़्तरों, आदि में प्रचलित कोई शब्द नहीं बदला जा सकता, और किसी भी उर्दू शब्द के स्थान में हिन्दी का नया शब्द नहीं रक्खा जा सकता।

किसी भी शत्रु का मुकाबला करने के लिये पहले एक 'बेस' (base) की, या कहिये एक क़िले की, आवश्यकता होती है। हिन्दी को भी हिन्दुस्तानी का मुक़ाबला करने के लिये एक गढ़ की ज़रूरत है। यह गढ़ हिन्दी का अपना घर ही हो सकता है। हिन्दी को पहले अपने घर पर पूर्ण रूप से अधिकार करना चाहिये। यदि हिन्दी अपने घर में ही अपने पैर न जमा सकी, तो किसी बाहरी शत्रु का मुक़ाबला कैसे करेगी? हिन्दी का घर मध्य-देश है जिसमें युक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार और राजस्थान स्थित हैं। हिन्दी के साम्राज्य की यही राजधानी है, यहीं से हिन्दी के कार्य का संचालन हो सकता है। साम्राज्य की सीमाओं पर कुछ भी हो जाय, जब तक राजधानी सुरक्षित है तब तक आशा है। यदि हिन्दी अपनी राजधानी में से ही निकाल दी गई, तो समझ लीजिये इस संसार से हिन्दी उठ गई। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, हिन्दी को अपने घर में ही अपदस्थ करने का पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। हिन्दी को पहले इस प्रयत्न को विफल करना होगा, हिन्दुस्तानी की परछाँई तक को अपने घर से दूर भगाना होगा। पहले हिन्दी का अपने घर में अखण्ड राज्य स्थापित होना चाहिये। यह कार्य भी साधारण नहीं रह गया, और जितनी देर की जायगी उतना ही कठिनतर होता जायगा। एक पल भी देर करने का समय नहीं है। सबसे पहले हिन्दी को हिन्दी प्रान्तों में राजभाषा अर्थात् असेम्बली की, दफ्तरों, कचहरियों, पुलिस, म्युनिसपेल्टी, आदि की भाषा बनाना होगा—व्यवहार में और कानून में। हम कानून में 'हिन्दुस्तानी' शब्द तक नहीं रहने दे सकते। यह सब करना हमारे हाथ में है, और हमें करना ही होगा। हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के लिये राज्याश्रय प्राप्त करना ही होगा। कुछ हिन्दी-प्रेमी कहते हुये सुने जाते हैं कि हिन्दी बिना राज्याश्रय के आगे बढ़ी है और उसे राज्याश्रय की आवश्यकता नहीं, परन्तु शायद इससे बढ़कर कोई दूसरी मूर्खता की और हिन्दी के हित में घातक बात नहीं हो सकती। क्या हम उस उन्नति से

संतुष्ट हैं जो आज तक हिन्दी ने की है ? क्या उसकी जड़ें इतनी गहरी हो गई हैं कि वह बिना राज्याश्रय के फल फूल सके ? जैसा पहले बतलाया जा चुका है, राज्याश्रय साधारण बात नहीं। अब तक हिन्दी ने जो उन्नति की है वह भी बहुत कुछ राज-कृपा के ही कारण। आज राज्याश्रय पर ही दारो-मदार है। बिना राज्याश्रय के हिन्दी मिट जायगी, उसका विकास बिलकुल रुक जायगा। आजकल भरपूर राज्याश्रय न होते हुये भी हिन्दी राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण बढ़ी, परन्तु जब राष्ट्रीय सरकार स्थापित होने पर भी हिन्दी को राज्याश्रय न मिलेगा, तब हिन्दी को किसका सहारा रह जायगा ? जिस शक्ति ने आज तक हिन्दी को आगे बढ़ाया, जब वही राज-काज में हिन्दी के स्थान में हिन्दुस्तानी की प्रतिष्ठा करेगी, तब हिन्दी कैसे जीवित रह सकेगी ?* और वह स्वराज्य ही किस काम का, जिसमें स्वभाषा का स्वदेश में राज्य न हुआ ? हमें अपने घर में हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना ही होगा। हमें हिन्दी प्रान्तों की सरकारों से, चाहे वे राष्ट्रीय सरकारें क्यों न हों, साफ़ साफ़ कहना चाहिये कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है अथवा नहीं, वह प्रान्त-भाषा अवश्य है, और उसे अपने प्रान्तों में राजभाषा के पद से

*और तो और, जब तक हिन्दी राजभाषा न होगी तब तक शिक्षित वर्ग की बोलचाल की भाषा का ही सुधार न हो सकेगा, और उसमें से राजभाषा अँगरेज़ी के ज़रिये घुसे हुये अँगरेज़ी शब्द और राजभाषा उर्दू के ज़रिये घुसे हुये अरबी फारसी के शब्द कदापि न निकल सकेंगे। फिर जो हिन्दुस्तानी प्रतिष्ठित की जायगी उसमें इसी 'बोलचाल' के नाम पर यही उर्दू शब्द धरे जायँगे और यही भाषा जनता पर लदती चली जायगी। यह कोई न पूछेगा कि जनता के लिये सुगम शब्द कौन से हैं। अर्थात् यही उर्दू सबकी बोलचाल की भाषा होती चली जायगी। जैसा पहले कहा जा चुका है, 'हिन्दुस्तानी' नाम रहते राजभाषा उर्दू का कचहरियों, दफ़्तरों, आदि में प्रचलित कोई शब्द नहीं बदला जा सकता, और किसी भी उर्दू शब्द के स्थान में हिन्दी का नया शब्द नहीं रक्खा जा सकता।

वंचित नहीं किया जा सकता। जब तक हिन्दी-प्रान्तों में अधिकांश जनता की भाषा हिन्दी है, तब तक राज-व्यवहार में उसका स्थान किसी दूसरी भाषा या शैली को नहीं दिया जा सकता। किसी सरकार को एक नई भाषा या शैली गढ़कर जनता पर लादने का अधिकार नहीं, और न वह एक नई लिपि लाद सकती है। आगे चलकर जनता हिन्दी शैली को चाहे बिगाड़े चाहे बनावे, उसमें चाहे जो परिवर्तन करे, परन्तु इस समय जनता ने हिन्दी को जो शैली निश्चित कर रक्खी है अर्थात् जिस शैली में अधिकांश लेखक लिखते हैं, आज वही शैली राजभाषा की शैली हो सकती है। कोई सरकार उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। जो 'हिन्दुस्तानी' शैली की रूप-रेखा निश्चित करने की बात कहते हैं, उन्हें बता देना चाहिये कि जनता आज तक बैठी नहीं रही, उसने अपनी हिन्दुस्तानी की शैली या शैलियाँ निश्चित कर ली हैं—और वे हैं हिन्दी और उर्दू। आज एक दर्जन आदमियों की गढ़ी हुई 'हिन्दुस्तानी' शैली आधे दर्जन आदमियों की ज़िद के कारण किसी भी प्रकरण में इन दो शैलियों को अपदस्थ नहीं कर सकती। हिन्दी प्रान्तों में उर्दू शैली को भी स्थान मिल सकता है, परन्तु कोई 'हिन्दुस्तानी' शैली हिन्दी का स्थान नहीं ले सकती।

यह बात याद रखनी चाहिये कि यदि हिन्दी-प्रान्तों में हिंन्दी का बोल-बाला रहा, और वह राजभाषा हुई (अकेली या उर्दू के साथ साथ), तो राष्ट्र-भाषा भी 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो सकती। इस तथ्य पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। राष्ट्र-भाषा की शैली प्रान्त-भाषा की शैली से भिन्न रह ही नहीं सकती। 'हिन्दुस्तानी' का जन्म ही न होगा। अहिन्दी लोग हिन्दुस्तानी को गढ़ कर उसे जीवित रख ही नहीं सकते। जो खड़ी बोली हिन्दी प्रान्तों में चलेगी, अन्त में वही राष्ट्र-भाषा होगी। यदि हम हिन्दी वाले अपने प्रान्तों में हिन्दुस्तानी को ठुकरा कर हिन्दी को प्रतिष्ठित कर लेते हैं, तो उससे भिन्न हिन्दी राष्ट्र में चल ही नहीं सकेगी (आज तक

लिये गान्धीजी अपनी गुजराती पर) अपने राजनीतिक प्रयोग करें। यदि उन्होंने हमारी हिन्दी को बिगाड़ने का प्रयत्न किया ही, तो गहरा झगड़ा होगा। किसी भी भाषा को विकृत करने या उसे अपने अधिकारों से वञ्चित करने का प्रयत्न मज़ाक नहीं है। हम राष्ट्र-भाषा की वेदी पर अपनी हिन्दी की बलि देने के लिये तैयार नहीं। हम 'हिंदुस्तानी' की ख़ातिर किसी भी प्रान्तीय या केन्द्रीय प्रकरण में हिन्दी—जैसी भी हमारी हिन्दी आज है अर्थात् जिस भाषा का आज 'हिन्दी' नाम से बोध होता है—छोड़ नहीं सकते। यदि अहिन्दियों को हिन्दी की किसी भी शैली को गढ़कर राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने का अधिकार है, तो हमें भी अधिकार है कि हम उसे राष्ट्र-भाषा न मानें, अपने घर में उसे न घुसने दें, उसे न पढ़ें और न अपने बच्चों को पढ़ने दें और उसका भरपूर विरोध भी करें। रक्खें वे अपनी 'हिन्दुस्तानी' अपने पास, और यदि रख मिले तो उसे जीवित रक्खें। (परंतु उन्हें जीवित रख नहीं मिलेगी* ।) हिन्दी केवल हिन्दीवालों के हाथ में है।

*** अगर उन्हें अपनी 'हिन्दुस्तानी' जीवित रख भी मिली, तो कमसे कम अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान हमारी अपनी विशिष्ट संस्कृति का प्रतीक हिन्दी भी तो अपने क्षेत्र में रहेगी। यदि हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती, तो अन्य प्रान्तीय संस्कृतियों और भाषाओं की भाँति हमारी विशिष्ट संस्कृति और उसका प्रतीक हमारी विशिष्ट भाषा हिन्दी तो रहनी ही चाहिये, और उसे अन्य प्रान्तीय संस्कृतियों और भाषाओं के समान अपने क्षेत्र में और केन्द्र में वही स्थान तो मिलना ही चाहिये।**

यदि आज कोई 'किंग्स इङ्गलिश' छोड़कर एक संसार-भाषा गढ़नेके निमित्त संसार की पाँच छै तरह की अङ्गरेज़ियों जैसे अङ्गरेज़ों की अङ्गरेज़ी, अमरीकन अङ्गरेज़ी, बाबू अङ्गरेज़ी, पिजिन (Pidgin) अङ्गरेज़ी, आदि को मिला कर तुर्की, चीनी और जापानी का छौंक देकर और अङ्गरेज़ी के आधे ग्रीक और लैटिन शब्द निकाल कर उनके स्थान में संस्कृत और अरबी शब्द धरकर एक 'मिली जुली' अङ्गरेज़ी शैली गढ़े (और उसे पाँच छै लिपियों में लिखे), तो कम से कम अंग्रेज़ तो उसे संसार-भाषा न मानेंगे, उसे इङ्गलैंड में किसी रूप

वे ही उसे बिगाड़ सकते हैं। दूसरा कोई उसे अधिक समय तक बिगाड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। सब हिन्दीवाले दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें कि वे सदैव शुद्ध हिन्दी में लिखेंगे और बोलेंगे। उदाहरण के लिये, यदि युक्त-प्रान्त की असेम्बली में या युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में या केन्द्रीय असेम्बली में या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में या सभा सोसाइटियों में सब हिन्दीवाले शुद्ध हिन्दी में बोलें, तो क्या कोई उनकी ज़बान पकड़ लेगा ? यदि विधान में शब्द 'हिन्दुस्तानी' ही धरा हो, तो क्या हिन्दी हिन्दुस्तानी नहीं है ? उस पर आपत्ति करने का कौन साहस कर सकता है ? क्यों नहीं हिन्दीवाले हिंदी में बोलते ? वे इस मामले में मुसलमानों से ही सबक़ क्यों नहीं लेते ? वे क्यों हिंदुस्तानी में बोलने का प्रयत्न करके अपने हाथों अपनी भाषा की छीछालेदर करते हैं, और हास्यास्पद बनते हैं ? जो जाति अपनी भाषा नहीं छोड़ती, उसी की भाषा जीवित रहती है। उसकी भाषा को कोई नहीं मार सकता। हाँ, यदि हिन्दी वाले ही हिन्दी नहीं बोलेंगे, और हिन्दुस्तानी के पचड़े में पड़कर हिन्दी को विकृत करेंगे, तो ब्रह्मा भी हिन्दी को नहीं बचा सकते। अतः हमें किसी दूसरे से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं, हम स्वयं सावधान हो जायँ, अपना सारा काम हिन्दी में करें, प्रत्येक अवसर पर और बोलचाल में सदैव शुद्ध हिन्दी में बोलें और लिखें, अपने घर में हिन्दुस्तानी

में न घुसने देंगे, अपने बच्चों को उसे किसी भी रूप या हैसियत में पढ़ाने को तैयार न होंगे, बी० बी० सी० से उसमें ख़बरें या अन्य कोई प्रोग्राम कदापि ब्राडकास्ट न होने देंगे और उसका भरपूर विरोध भी करेंगे, क्योंकि उसके प्रचार से अङ्गरेज़ी की स्टैंडर्ड शैली तो फिर भी विकृत होगी ही (आज भी किसी भारतीय अङ्गरेज़ी पत्र के किंग्स इङ्गलिश के प्रति ज़रा सा अपराध करते ही चिल्ल-पों मचने लग जाती है। अङ्गरेज़ी जैसी जमी हुई भाषा के विषय में जब यह होता है, तो बेचारी कल की हिंदी की तो बात ही क्या है)। 'हिन्दुस्तानी' के प्रति हिन्दियों का यही रुख़ होना चाहिये।

वालों को चाल को विफल करें और अपनी हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करें। बस, यही हिन्दुस्तानी-मारक अमोघ अस्त्र है।

अब प्रश्न उठता है कि हिन्दी प्रान्तों में उर्दू का क्या स्थान होना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं*, परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें बिलकुल स्पष्ट हैं। पहली यह कि हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को उससे अधिक स्थान कदापि नहीं मिल सकता जो अन्य प्रान्तों में अल्पमत की भाषाओं को दिया जायगा, और दूसरी यह कि वह स्थान भी उर्दू को तभी मिल सकता है जब उर्दू प्रान्तों में, ख़ास तौर से पंजाब में, हिन्दी को वही स्थान दिया जाय। पहली बात के सम्बन्ध में न्याय का तक़ाज़ा है कि व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ तक संभव हो सरकार प्रत्येक को कम से कम आरम्भिक शिक्षा अपनी मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा प्राप्त करने की सुविधा दे, परन्तु साथ ही साथ प्रान्त की एक कामन भाषा और लिपि हो (जो उस प्रान्त की मुख्य भाषा और लिपि हो) जिसे उस प्रान्त की राज-भाषा बनाया जाय और जिसका पढ़ना प्रत्येक के लिये अनिवार्य किया जाय। इन सिद्धान्तों को हिन्दी प्रान्तों पर लागू करने से यह निष्कर्ष निकलता है (जनपद आन्दोलन को ध्यान में रखते हुये)—

(१) युक्त-प्रान्त में व्रज, अवधी, बुन्देली, आदि मुख्य बोलियों में, बिहार में भोजपुरी, मैथिली और मगाही में, और मध्य-प्रान्त में कोशली में प्राथमिक शिक्षा दी जा सकती है। हिन्दी और बिहारी की सब बोलियों की लिपि केवल एक, देवनागरी, होगी।

(२) यदि किसी पर्याप्त विशाल जनपद का बहुमत जनपदीय बोली में प्राथमिक शिक्षा की माँग करता है, तो उस जनपद के उसी बोली को बोलने वाले किसी अल्पमत सम्प्रदाय को (जिसमें सम्भवतः अधिकतर

---

* देखिये 'राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन', पृष्ठ १४१-४६ और पृष्ठ १६०।

मुसलमान होंगे) किसी भिन्न भाषा के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। कारण, १. ऐसा करना अव्यावहारिक होगा; २. जहाँ एक ओर प्रत्येक को मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, वहाँ किसी को अपनी मातृ-भाषा छोड़कर भिन्न भाषा की माँग करने का भी अधिकार नहीं है (उदाहरण के लिये दक्षिण का मुसलमान नहीं कह सकता कि मैं तामिल के बजाय उर्दू के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करूँगा)। जन पद की सीमा वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थात् भाषा-विज्ञान की दृष्टि से निर्धारित की जानी चाहिये।

(३) व्यावहारिक दृष्टि से यह वांछनीय है कि प्राथमिक शिक्षा के माध्यमों की संख्या कम से कम हो। अतः यदि किसी जनपद या क्षेत्र का बहुमत जनपदीय बोली के बजाय हिन्दी या उर्दू में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना चाहे, तो उस समस्त जनपद में हिन्दी तथा उर्दू प्राथमिक शिक्षा के माध्यम बनाये जायँ। प्रत्येक स्कूल में, यदि हिन्दी या उर्दू माध्यम लेने वाले छात्रों की संख्या एक निश्चित सीमा से कम न हो, दोनों माध्यमों का प्रबन्ध होना चाहिये। हिन्दी स्कूल अलग और उर्दू स्कूल अलग भी खोले जा सकते हैं (जैसे बम्बई शहर में गुजराती स्कूल अलग और मराठी स्कूल अलग हैं)।

(४) माध्यमिक और उच्च शिक्षा के माध्यम हिन्दी और उर्दू हों। जिन स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में दोनों माध्यमों का प्रबन्ध होगा, उनमें हिन्दी माध्यम वालों के अलग और उर्दू माध्यम वालों के अलग क्लास लेना पड़ेंगे। इस व्यवस्था से छात्रों की संख्या के अनुसार प्रत्येक नगर में हिन्दी और उर्दू स्कूल या कालेज अलग अलग स्थापित करना कहीं श्रेयस्कर होगा। विश्वविद्यालयों के साथ भी यही बात लागू है। उदाहरण के लिये इस समय युक्त-प्रान्त में लखनऊ और प्रयाग विश्व-विद्यालय दोनों में दोनों माध्यमों का प्रबन्ध करने से यह कहीं अच्छा,

सुविधाजनक और सस्ता होगा कि लखनऊ विश्वविद्यालय में दोनों माध्यमों का प्रबन्ध हो और प्रयाग विश्वविद्यालय का माध्यम केवल हिन्दी हो। युक्त-प्रान्त में हिन्दी माध्यम वाले और उर्दू माध्यम वाले छात्रों में ऐसा अनुपात है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रों की संख्या लखनऊ विश्वविद्यालय के कुल छात्रों से फिर भी अधिक ही होगी। आवश्यकतानुसार प्रयाग विश्व-विद्यालय के अध्यापकों का लखनऊ विश्वविद्यालय को और लखनऊ विश्व विद्यालय के अध्यापकों का इलाहाबाद को तबादला किया जा सकता है। (आगरा विश्वविद्यालय केवल परीक्षक विश्वविद्यालय है और इसलिये उस विश्वविद्यालय की समस्या वास्तव में केवल उसके अन्तर्गत कालेजों की समस्या है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय का माध्यम उर्दू और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का माध्यम हिन्दी तो होगा ही।)*

(५) तीनों हिन्दी प्रान्तों— युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य प्रान्त—की कामन भाषा और राजभाषा इन प्रान्तों की मुख्य साहित्यिक भाषा नागरी हिन्दी होगी और इन प्रान्तों के प्रत्येक निवासी के लिये हिन्दी भाषा का विषय अनिवार्य होगा (जिस प्रकार आजकल अँगरेज़ी भाषा का विषय सबके लिये अनिवार्य है)। स्पष्ट है, हिन्दी माध्यम लेने वालों को हिन्दी विषय अलग से नहीं पढ़ना पड़ेगा, परन्तु उर्दू माध्यम वालों को पढ़ना पड़ेगा। उनके लिये हिन्दी भाषा का विषय माध्यमिक स्टेज से रक्खा जाय, और उसका स्टैंडर्ड कम से कम इतना हो कि माध्यमिक पढ़ाई समाप्त होने तक हिन्दी में इतनी योग्यता आ जाय जितनी आज प्रथम भाषा हिन्दी लेने वाले छात्र को हाई स्कूल पास करने तक आती है। पढ़ाई का बोझ सब पर समान करने के हेतु हिन्दी माध्यम वाले छात्रों के लिये माध्यमिक स्टेज

* भारत के विभाजन से जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसमें हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को भी माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकृत नहीं किया जा सकता। देखिये परिशिष्ट १७।

से प्रमुख भारतीय भाषाओं में से (जिनमें उदू भी शामिल होगी) किसी एक भाषा को पढ़ाई के लिये छाँट लेना अनिवार्य किया जा सकता है; परन्तु इसका ईमानदारी के साथ पालन करने के लिये आवश्यक होगा कि माध्यमिक स्कूलों में बँगला, तामिल, मराठी, गुजराती, आदि भाषाओं को पढ़ाने का प्रबन्ध किया जाय—यह नहीं कि सूची में तो सब भाषायें हों परन्तु प्रबन्ध हो केवल उदू का। (चूँकि हिन्दी-उदू प्रान्तों को छोड़कर अन्य प्रान्तों में प्रत्येक छात्र को माध्यमिक स्टेज से मातृ-भाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा का विषय लेना होगा, सब भारतीय छात्रों पर एक समान बोझ पड़ेगा।) इस प्रकार हिन्दी प्रान्त-वासी अन्य प्रान्तों की भाषायें भी सीख सकेंगे, और हिन्दी पर उनका जो ऋण होगा उसे चुका सकेंगे।*

(६) राजभाषा हिन्दी का अर्थ है कि सब सरकारी व्यवहार जैसे सेक्रेटेरियट, तथा अन्य दफ्तरों का काम, पुलिस, म्युनिसिपैलटी, कचहरियों, आदि का काम नागरी हिन्दी में होगा। असेम्बली, आदि में प्रत्येक वक्ता को किसी भी भारतीय भाषा में बोलने की स्वतंत्रता दे दी जाय, क्योंकि परिस्थिति अपने आप प्रत्येक वक्ता को हिन्दी में बोलने के लिये प्रेरित करेगी।

इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार उदू प्रान्तों में, जिनमें इस समय पंजाब, सीमा-प्रान्त और बलूचिस्तान शामिल हैं, और यदि सिन्धी का समुचित विकास न हुआ तो सिन्ध भी शामिल हो जायगा, हिन्दी को यह अधिकार मिलना चाहिये—

जहाँ जहाँ उदू प्राथमिक या माध्यमिक या उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकृत हो, वहाँ वहाँ हिन्दी माध्यम भी स्वीकृत हो, और वहाँ के प्रत्येक

---

* भारत के विभाजन से जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसमें हिंदी प्रांतों में हिंदी का विषय सबके लिये प्राथमिक स्टेज से अनिवार्य करना होगा। देखिये परिशिष्ट १७।

स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय में, यदि हिन्दी माध्यम वाले छात्रों की संख्या एक निश्चित सीमा से कम न हो, वास्तव में, व्यवहार में हिन्दी माध्यम का प्रबन्ध हो। (यह हो सकता है कि किसी क्षेत्र में बहुमत के माँगने पर शिक्षा का केवल एक माध्यम पंजाबी या पश्तो या सिन्धी स्वीकृत हो, तब वहाँ न उर्दू माध्यम होगा न हिन्दी माध्यम।)*

ऊपर की योजना दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से आदर्श और निर्दोष नहीं कही जा सकती। इसकी समालोचना करना आसान है। परन्तु मनुष्य का जीवन भी पूर्ण और निर्दोष नहीं है। परिस्थितियों और व्यावहारिक कठिनाइयों को देखते हुये, गहरा विचार करने के बाद लेखक निश्चित रूपसे कह सकता है कि इस योजना से मूलतः भिन्न कोई दूसरी योजना संभव नहीं×।

---

* पाकिस्तान बन जाने के बाद पाकिस्तान के अधिकारियों ने जो घोषणायें की हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि उर्दू प्रांतों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम केवल उर्दू होगी। यद्यपि सिंध के शिक्षा-मंत्री ने यह कहा है कि प्राथमिक शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से दी जायगी, इसकी कोई आशा प्रतीत नहीं होती कि पाकिस्तान सरकार पंजाब, सिंध और सीमा-प्रांत में हिंदी भाषियों के लिये हिन्दी द्वारा प्राथमिक शिक्षा ही देने का प्रबंध करेगी। देखिये परिशिष्ट १७।

× अच्छा हो यदि हिन्दी वाले और उर्दू वाले मिल कर बैठें और आपस में हिन्दी तथा उर्दू प्रान्तों के लिये एक समान व्यवस्था तय कर डालें, जिसमें हिन्दी और उर्दू के साथ, एक भाषा के दो रूप होने के नाते, समान व्यवहार किया जाय, और फिर हिन्दी तथा उर्दू प्रान्तों में ईमानदारी के साथ प्रत्येक विभाग में हिन्दी और उर्दू को अपना अपना तय पाया हुआ स्थान दे दिया जाय। हिन्दी उर्दू के व्यर्थ के झगड़े को मिटा डालने का यही एक मात्र उपाय है। यदि ऐसा कर लिया गया तो हिन्दुस्तानी वाले टापते रह जायँगे। वे हिन्दी उर्दू के झगड़े से लाभ उठाते हैं। हमें उर्दू वालों से कहना चाहिये कि इस हिन्दुस्तानी से हिन्दी और उर्दू दोनों को ख़तरा है, हम हिन्दी और

हिन्दियों को जिस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है वह यह है कि

उदू दोनों को राष्ट्रभाषा मानने को तैयार हैं, और प्रत्येक को स्वतंत्रता देना चाहते हैं कि वह इनमें से चाहे जिसको राष्ट्रभाषा के रूप में पढ़ने के लिये चुन ले, मगर शर्त यह है कि जो सुविधा हिन्दू प्रान्तों में सरकार की ओर से राष्ट्रभाषा उदू पढ़ने वालों को दी जाय, वही सुविधा मुस्लिम प्रान्तों—पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध, बलूचिस्तान और बंगाल—में ईमानदारी के साथ, राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ने वालों को दी जाय। हमारी बात व्यावहारिक होगी, उसमें सत्य होगा, धोखे की कोई गुंजाइश नहीं होगी, और संभव है हमारा उदू वालों से समझौता हो जाय। हिन्दुस्तानी वालों से उनका या हमारा समझौता होना असंभव है। हिन्दुस्तानी वालों के आधारभूत सिद्धान्त ग़लत हैं, बनावटी और दिखाऊ हैं और वास्तविकता से बहुत दूर हैं। 'हिन्दुस्तानी' धोखे की टट्टी है। हिन्दुस्तानी प्रचार से हम जितने रुष्ट और असंतुष्ट हैं, उतने ही उदू वाले उससे सशंकित हैं। हिन्दी और उदू दोनों राष्ट्रभाषा मान ली जाने पर इनमें से जिसमें अधिक जान होगी, राष्ट्रीयता की अधिक अभिव्यक्ति होगी, अधिक राष्ट्र-सुलभता होगी, वह कालान्तर में अपने आप प्रधान हो जायगी और एक समय आ सकता है जब उदू वाले भी हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कर लें। विज्ञान और यथार्थ की उपेक्षा अधिक समय तक संभव नहीं। परन्तु इस समय हिन्दी और उदू दोनों को राष्ट्रभाषा मान लेना ही राष्ट्र-भाषा की समस्या के समाधान का एकमात्र सच्चा और ईमानदारी का रास्ता है, अन्य कोई नहीं। प्रत्येक प्रान्त की एक कामन भाषा तो होगी ही, जिसके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार संभव होगा। केवल अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की और केन्द्रीय सरकार की दो भाषायें हिन्दी और उदू होंगी। जो चाहेंगे, जिन्हें फ़ुरसत होगी अथवा जिन्हें आवश्यकता पड़ेगी, वे अपने आप हिन्दी और उदू दोनों सीख लेंगे।

(भारत के विभाजन से परिस्थिति बिलकुल बदल गई है। इसमें हिन्दी वालों और उदू वालों के बीच में समझौते का प्रश्न ही नहीं उठता। भारत के विभाजन का राष्ट्र-भाषा की समस्या पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे उत्तर-परिशिष्ट ३ (पृष्ठ ६६) में देखिये, और हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे परिशिष्ट १७ में देखिये।)

यह योजना तो ठीक है, और हिन्दी प्रान्तों में इसको कार्यान्वित करना भी उनके हाथ में है, परन्तु यदि उर्दू प्रान्त इस योजना के अनुसार अपने यहाँ हिन्दी को स्थान न दें, तो क्या किया जायगा ? यह प्रान्तीय स्वायत्त शासन (प्राविंशियल आटानमी) का जमाना है, शिक्षा का विषय न केन्द्रीय सरकार के पास है और न कभी होगा, अर्थात् केन्द्रीय सरकार राष्ट्रभाषा या प्रान्तों की भाषा के मामले में अपना फैसला प्रान्तों पर लादने में असमर्थ है (केन्द्रीय सरकार अधिक से अधिक यह तय कर सकती है कि केन्द्र का सरकारी व्यवहार किस भाषा में हो), और प्रत्येक प्रान्त भाषा के विषय में अपने यहाँ मनचाही व्यवस्था करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। हिन्दियों को भूलना नहीं चाहिये कि लक्षणों से मालूम होता है कि उर्दू प्रान्त उर्दू लिपि के सिवा किसी दूसरी लिपि को, और उर्दू के सिवा किसी दूसरी हिन्दुस्तानी को, बतौर राष्ट्रभाषा के या बतौर अपने यहाँ की जनता के एक भाग की भाषा के, कोई स्थान देने को तैयार नहीं। उर्दू प्रान्तों में इस मामले में हस्तक्षेप करने में कांग्रेस भी असमर्थ है—केन्द्रीय सरकार द्वारा अथवा उर्दू प्रान्तों की प्रान्तीय सरकारों द्वारा, और असमर्थ रहेगी। कहने का मतलब यह है कि जिस प्रकार उर्दू प्रान्त गांधी जी की हिन्दुस्तानी के मार्ग में बाधक हैं, उसी प्रकार ये प्रान्त ऊपर वाली योजना के मार्ग में भी बाधक हैं। उर्दू प्रान्त इस योजना के अनुसार हिन्दी को स्थान आसानी से कभी न देंगे। इतना ही नहीं, उल्टे उर्दू वाले हिन्दी प्रान्तों में बड़े जोर शोर से यह आन्दोलन करेंगे कि उर्दू को सब जगह हिन्दी के समकक्ष स्थान दिया जाय, अर्थात् हिन्दी के साथ साथ उर्दू भी राजभाषा बनाई जाय, उर्दू माध्यम वालों के लिये हिन्दी भाषा का विषय अनिवार्य न किया जाय, और यदि किया जाय तो हिन्दी माध्यम वालों के लिये उर्दू भाषा का विषय अनिवार्य किया जाय, आदि। अपनी **'अपीजमेन्ट पालिसी' के कारण कांग्रेस इस आन्दोलन से सहयोग करेगी।** हिन्दियों को अपने रास्ते में

पड़ने वाली रुकावटों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। आज उर्दू प्रांतों की मुसलमान जनता और मुसलमान सरकारें गांधीजी की 'राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' को छूना तक नहीं चाहतीं, मगर इस कारण कांग्रेस और गांधीजी हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में अपनी हिन्दुस्तानी, या हिन्दी उर्दू दोनों, और 'दोनों लिपि' का प्रचार करने से नहीं हिचके।* उर्दू प्रान्तों की सरकारों ने हिन्दुस्तानी और देवनागरी की बात नहीं पूछी, मगर इस कारण हिन्दी प्रांतों की कांग्रेसी सरकारें हिन्दी प्रान्तों पर शिक्षा के माध्यम के रूप में और राज-भाषा के रूप में 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' लादने से बाज़ न आईं। इन बातों को देखते हुये यह आशा कैसे की जा सकती है कि यदि हिन्दी-जन हिन्दी प्रान्तों में 'हिन्दुस्तानी' का विरोध करने में सफल हो भी गये, तो कांग्रेस मुसलमानों को खुश करने के लिये हिन्दी उर्दू दोनों को हिन्दी प्रान्तों की राजभाषा न बनाएगी, उर्दू को हिन्दी के समकक्ष न रख देगी और हिन्दी वालों पर उर्दू न लादेगी—उर्दू प्रान्त चाहे अपने यहाँ से रही

* इसका परिणाम, जैसा पहले इङ्गित किया जा चुका है, यह होगा कि उर्दू और उर्दू लिपि ही वास्तविक राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि होंगी। यदि गांधीजी के हिन्दुस्तानी प्रचार ने हिन्दी उर्दू दोनों के बजाय वर्धा की हिन्दुस्तानी का ही हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में प्रचार किया, तो भी उर्दू लिपि तो सम्पूर्ण भारत की वास्तविक राष्ट्रलिपि या कामन लिपि होगी ही, वर्धा की हिन्दुस्तानी भी उर्दू से भिन्न नहीं रह सकती, क्योंकि जब तक राष्ट्र का एक भाग, अर्थात् उर्दू-प्रान्त, उर्दू के सिवा किसी दूसरी हिन्दुस्तानी को नहीं समझता, और न सीखने को तैयार है, तब पूरे राष्ट्र को एक भाषा के बन्धन में बाँधने का केवल एक ही उपाय है— राष्ट्र के शेष भाग की हिन्दुस्तानी को भी उर्दू बना दो। जान बूझ कर बनाओ या न बनाओ, यह धीरे-धीरे अपने आप उर्दू हो जायगी क्योंकि उर्दू प्रान्तों की उर्दू में कोई हिन्दी शब्द घुसने नहीं दिया जा सकता और शेष प्रान्तों की हिन्दुस्तानी में किसी उर्दू शब्द के घुसने पर रोक लगाई नहीं जा सकती, किसी उर्दू शब्द को ग़ैर-हिन्दुस्तानी करार दिया नहीं जा सकता। (देखिये उत्तर—परिशिष्ट २)

सही हिन्दी भी निकाल फेंकें ! युक्त-प्रान्त और बिहार की वर्तमान कांग्रेसी सरकारों की नीति इसी बात की सूचना देती है।*

हिन्दियों को अपने कर्तव्य का ज्ञान और अपने कार्य के गुरुत्व का अनुमान हो गया होगा। एक ओर उन्हें अपने प्रान्तों से हिंदुस्तानी को निकाल भगाना है, और दूसरी ओर उन्हें उर्दू वालों की अनुचित माँगों और उनके अन्याय का विरोध करना है। हम दोनों बातों में से किसी से मुँह मोड़ नहीं सकते। पहली बात तो बहुत साफ़ हो चुकी है, दूसरी भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हम १३ प्रतिशत× मुसलमानों के कारण, जिनमें से अधिकांश हिंदी बोलते या समझते हैं, न हिंदी की सुन्नत करने को तैयार हैं, और न हम हिंदी प्रान्तों की दो दो राजभाषायें और राजलिपियाँ बनाकर अपने प्रान्तों की भावी उन्नति पर सदैव के लिये कुठाराघात कर सकते हैं—इस कारण और भी नहीं कि उर्दू प्रान्त भी ऐसा करने को तैयार नहीं हैं। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि उर्दू प्रान्तों की एक कामन भाषा उर्दू और एक कामन लिपि फ़ारसी लिपि हो, अन्य प्रान्तों की कामन भाषायें अपनी अपनी प्रान्तीय भाषायें हों, परन्तु हिंदी प्रान्तों की या तो कामन भाषा हो 'हिंदुस्तानी', या कोई कामन भाषा न हो, और लिपि हर हालत में कोई कामन न हो। ऐसी स्थिति में हमारे हिंदी-प्रांत अन्य प्रान्तों के मुकाबले में पिछड़ जायँगे, और हमारे प्रांतीय जीवन का समुचित सांस्कृतिक विकास और संगठन न

* पंजाब के कांग्रेसी संयुक्त मन्त्रि-मंडल ने या सीमाप्रांत की कांग्रेसी सरकार ने हिन्दी के लिये न उँगली उठाई है और न उठायेगी। सिन्ध का तो ज़िक्र करना ही बेकार है। बहुत हुआ तो डा० खान साहब कह देंगे कि वे तो सीमा-प्रांत की जनता के नौकर हैं, जनता का बहुमत चाहेगा तो हिन्दी होगी। हाँ, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, श्रीकृष्ण सिन्हा और पं० रविशंकर शुक्ल वह करेंगे जो कांग्रेस हाई कमांड, मौलाना आज़ाद और गांधीजी चाहेंगे।

× युक्त-प्रांत, बिहार और मध्य-प्रांत में कुल मिलाकर ९ करोड़ ४० लाख (९४ मिलियन) हिन्दू हैं और १ करोड़ ४० लाख (१४ मिलियन) मुसलमान हैं। (देखिये उत्तर-परिशिष्ट ३)

हो सकेगा। हम हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को जो स्थान देने को तैयार हैं, वह उदारता की सीमा है, उर्दू के न्यायोचित प्राप्य से कहीं अधिक है। उससे और आगे जाना हमारे लिये अत्यन्त हानिकारक है, हमारी उन्नति में बाधक है। हिन्दी की विशुद्धता और अबाध विकास के लिये भी यह आवश्यक है कि वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान हिंदी प्रांतों में एकमात्र राजभाषा हो और कामन भाषा हो, जिसका पढ़ना प्रत्येक के लिये अनिवार्य हो (जिस प्रकार पंजाब में प्रत्येक के लिये उर्दू पढ़ना अनिवार्य है), अन्यथा वह दूषित और विकृत होती चली जायगी, हिंदुस्तानी के रोलर के नीचे दबती चली जायगी और उन अधिकारों से भी वञ्चित होती चली जायगी जो अन्य प्रांतीय भाषाओं को प्राप्त हैं। उर्दू प्रान्तों में उर्दू का अखण्ड साम्राज्य है, और वह विशुद्ध रहेगी, हिंदी चाहे अपने आपको मिटा डाले।

हिन्दियों को इससे अधिक करना है। उर्दू प्रांतों में, अन्य प्रांतों में, मुस्लिम रियासतों में और केन्द्र में 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर या बिना किसी आड़ के हिंदी के साथ जो अन्याय हो रहा है, उसका भी प्रतिकार उन्हें करना है, और हिंदी रियासतों पर ध्यान देना है। घर की राज्य-व्यवस्था सँभाल कर साम्राज्य की व्यवस्था ठीक करना है। इसके लिये हिंदीवालों को उर्दू प्रांतों, अन्य प्रांतों और रियासतों में प्रबल आन्दोलन तो करना ही पड़ेगा, एक और उपाय का अवलम्बन करना पड़ेगा। जब तक उर्दू प्रान्त अपने यहाँ हिंदी को न्यायोचित स्थान न दें, तब तक हमें भी हिन्दी-प्रान्तों में उर्दू के साथ वही व्यवहार करना पड़ेगा जो उर्दू प्रान्त हिंदी के साथ करेंगे। हम कायरों की अहिंसा और दिल-पिघलाव-योग में विश्वास नहीं कर सकते। हम उर्दू प्रांतों में मुसलमान आकाओं के सामने बहुत नाक रगड़ चुके, परन्तु बदले में मिला केवल तिरस्कार और अवज्ञा। मुसलमान केवल एक ही तर्क समझते हैं, और वह है शक्ति का। उर्दू प्रान्तों ने यदि अपनी हिन्दी-द्रोही नीति न त्यागी, तो हम भी युक्त-प्रान्त और बिहार से उर्दू को

मिटा देंगे। हम नहीं चाहते कि उर्दू, यद्यपि वह विदेशियत से ओत-प्रोत है, के साथ अन्याय हो, हम उर्दू के साथ न्याय से नहीं, उदारता से पेश आना चाहते हैं, परन्तु हिंदी के साथ अन्याय हो, यह हमें असह्य है। हिंदी-प्रांतों में उर्दू को अपने प्राप्य से कहीं अधिक स्थान प्राप्त है, अब यदि कलह और संघर्ष होता है तो उसकी कुल ज़िम्मेदारी उर्दू प्रान्तों पर और उनके पृष्ठ-पोषकों पर होगी। मुस्लिम रियासतों जैसे काश्मीर (काश्मीर में हिन्दू राजा के होते हुये भी चलती श्रीगुलामसैयदेन की ही है*) भोपाल और हैदराबाद, आदि में हिन्दी के साथ जो घोर अन्याय हो रहा है, और हिन्दू जनता के रुपये से उर्दू का जो अनर्गल पोषण हो रहा है उसका भी यही इलाज है। हिन्दी प्रान्तों की भाँति हिन्दी रियासतों में हिन्दियों को हिन्दी की प्रतिष्ठा करनी चाहिये, और जब तक मुस्लिम रियासतें हिन्दी के साथ न्याय न करें, तब तक उर्दू के साथ वही व्यवहार करना चाहिये जो मुस्लिम रियासतों में हिन्दी के साथ किया जाय। अन्य हिन्दू प्रान्तों में यद्यपि उर्दू के साथ वही व्यवहार करना हमारे हाथ में नहीं है जैसा बंगाल में लीगी-सरकार हिन्दी के साथ करती है,×

---

*देखिये 'राष्ट्रभाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन परिशिष्ट ४।

×बंगाल की लीगी सरकार के सेकंडरी एजूकेशन बिल का असली उद्देश्य बंगाल में उर्दू और 'मुस्लिम बंगला' प्रचार के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू प्रान्तों में मुसलमान जो चाहते थे सो कर चुके, सिन्ध में भी जो चाहते थे सो कर चुके (सिन्धी का अरबीकरण), अब केवल बंगाल बाकी है, इस लिये वहाँ भी भाषा को एकदम उर्दू में बदल देने का या कम से कम उसका मुस्लिम संस्करण बनाने का आयोजन लीगी सरकार कर रही है। बंगाल की समस्त हिन्दू जनता, जो वहाँ ४५ प्रतिशत से अधिक है, के विरोध के बावजूद लीगी सरकार अपनी चन्द अधिक वोटों के बल पर सेकंडरी एजूकेशन बिल पास कराने पर तुली हुई है। ऐसा क्यों न हो! मुसलमान भाषा का महत्व समझते हैं, वे जानते हैं कि मुस्लिम-संस्कृति-प्रचार की पहली सीढ़ी भाषा का इस्लामी करण है। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह सब देख सुनकर भी

परन्तु हम कम से कम हिन्दी के लिये उतना स्थान माँग सकते हैं जितना उन्होंने उर्दू को दिया है अथवा देंगे। बम्बई सरकार महाराष्ट्र में मराठी भाषी मुसलमानों को, गुजरात में गुजराती भाषी मुसलमानों को, और उड़ीसा सरकार उड़िया-भाषी मुसलमानों को अपनी अपनी मातृ-भाषा छोड़कर उर्दू पढ़ने की छूट देकर (जैसा सुनने में आया है कि उन्होंने किया है) अपने यहाँ भाषा की समस्या उत्पन्न करें या न करें, यह उनके सोचने की बात है, परन्तु यदि वे ऐसा करती हैं तो उन्हें हिन्दी चाहने वालों को हिन्दी पढ़ने की छूट भी देनी पड़ेगी। केन्द्र* में यद्यपि हिन्दुस्तानी के प्रयोग को बन्द कराना हमारे हाथ में नहीं है, परन्तु फिर भी दो बातें हमारे हाथ में हैं—(१) हम केन्द्रीय असेम्बली से ऐसे प्रतिनिधि चुन कर भेजें जो हिन्दुस्तानी का विरोध करें, और हिन्दी को उसका प्राप्य अधिकार दिलायें, अर्थात् हमें हिन्दी को केन्द्रीय चुनाव का एक मुद्दा (issue) बना देना चाहिये; (२) हिन्दी प्रान्तों की सरकारें केन्द्र से कहें कि वह हिन्दुस्तानी में जो चाहे सो करे, परन्तु वह जो कुछ अन्य प्रान्तीय भाषाओं में करेगा उसे उनकी प्रान्तीय भाषा हिन्दी में भी करना पड़ेगा। केन्द्र के लिये इस माँग का विरोध करना संभव न होगा। उदाहरण के लिये, यदि आज हिन्दी प्रान्तों की सरकारें केन्द्रीय सरकार के पास यह मेमोरेंडम भेजें कि रेडियो से खबरें तथा अन्य सरकारी प्रोग्राम अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति हमारी प्रान्तीय भाषा हिन्दी में भी होने चाहिये, 'हिन्दुस्तानी' से हमें कोई मतलब नहीं, तो क्या केन्द्रीय सरकार इनकार करने का साहस कर सकती है ? जिस प्रकार हम रेडियो में

हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों की कांग्रेस सरकारें नहीं चेततीं। उल्टे वे हिन्दी प्रांतों में उर्दू को स्वीकृत भाषा करार दे रही हैं।

***केन्द्र से अभिप्राय केन्द्रीय सरकार से है। दिल्ली-प्रान्त हिन्दी प्रांतों में शामिल है।**

उर्दू का विरोध नहीं करते, केवल हिन्दी का स्थान माँगते हैं, उसी प्रकार यदि हम रेडियो में हिन्दुस्तानी के प्रयोग का सफल विरोध करने में असमर्थ हैं, तो भी हम अपनी प्रान्तीय भाषा हिन्दी की माँग तो कर ही सकते हैं*। फिर 'हिन्दुस्तानी' किसके लिये हो, यह केन्द्र सोचे—हम 'हिन्दुस्तानी' के लिये जिम्मेवार नहीं। यदि आज युक्त-प्रांत की सरकार केन्द्रीय सरकार को यह लिख कर भेजे कि लखनऊ से प्रोग्राम केवल युक्त-प्रान्त की जनता के लिये होते हैं, उनसे किसी दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिये कम से कम लखनऊ स्टेशन की भाषा-नीति युक्त-प्रान्त की सरकार के सलाह मशविरे से तय होनी चाहिये, तो क्या केन्द्रीय सरकार इन्कार कर सकती है?

सारांश यह कि सब प्रकार से हिन्दी की रक्षा और हिन्दी का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि हिन्दी-जन स्वयं अपने प्रान्तों में हिन्दी की कैसी प्रतिष्ठा करते हैं, और हिन्दी प्रान्तों की सरकारें भाषा के विषय में हिन्दियों की भावना का किस हद तक प्रतिनिधित्व करती हैं और हिन्दी के लिये क्या कुछ करने को तैयार हैं। अतः हमारा कार्यक्रम क्या होना चाहिये, यह स्पष्ट है। हमें हिन्दियों को जाग्रत करना चाहिये, उनमें हिन्दुस्तानी-वाद के विरुद्ध ऐसे तीव्र विरोध का संचार करना चाहिये कि हिन्दुस्तानी वालों की अकल ठिकाने आ जाय। हमें हिन्दी प्रान्तों में आग लगा देनी चाहिये। हमें हिन्दियों को खोलकर स्पष्ट शब्दों में बताना चाहिये कि हिन्दुस्तानी हिन्दी और केवल हिन्दी के अस्तित्व पर कुठाराघात है। इतिहास में किसी भी भाषा को नष्ट या विकृत करने के प्रयत्न से उस भाषा-भाषी जाति में सदैव घोर असन्तोष फैला है। हिन्दुस्तानी से हिन्दी को क्या ख़तरा है, हिन्दियों को यह बताना हमारा काम है। हिन्दी में हमारा क्या है, यह भी हमें सोई हुई जनता को बताना होगा। हम सूर और तुलसी की देन को छोड़ नहीं सकते। हम भारतेन्दु का उपदेश "निज भाषा उन्नति अहै, सब

*देखिये उत्तर—परिशिष्ट २।

उन्नति को मूल" भूल नहीं सकते। यदि हमारे मुकाबले में कांग्रेस अपनी समस्त शक्ति से डट जाय तो भी हमें ख़म ठोंक कर भिड़ जाना चाहिये। इस संघर्ष में यदि हम सफल हुये, तो हम केवल अपनी मातृ भाषा के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे, और यदि हम पीस डाले गये तो आने वाली पीढ़ियाँ हमें कापुरुष न ठहरा सकेंगी—यह न कह सकेंगी कि उन्होंने बुद्धि होते हुये, भविष्य को जानते हुये भी बाप दादों की दी हुई भाषा को नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न नहीं किया। हो सकता है, हमें अन्त में गांधीजी के विरुद्ध उन्हीं के दिये हुये हथियार सत्याग्रह का प्रयोग करना पड़े। हमें इसके लिये भी तैयार हो जाना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि यदि अबकी हिन्दी डूबी तो फिर नहीं उबरने की। पीछे पछताने से कुछ हाथ न आवेगा। यह समय चुप बैठे रहने का नहीं, मर मिटने का है। हमें वर्त्तमान कांग्रेसी सरकारों से आशा त्याग देनी चाहिये। शायद हमें इन्हीं का मुकाबला करना पड़े। अपनी भाषा की रक्षा स्वयं अपने हाथों से करनी होगी।

कुछ और कहने से पहले 'हम' से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट करना उचित होगा। 'हम' से अभिप्राय समस्त हिन्दी प्रेमियों से है। विशेष रूप से 'हम' से अभिप्राय हिन्दी लेखकों और साहित्यिकों से है। हिन्दी का नेतृत्व सदैव हिन्दी के साहित्यिकों ही ने किया है। अब भी उन्हें ही करना है। अब तक उन्हें विदेशी सरकार के उर्दू-प्रचार से लड़ना पड़ा, अब उन्हें कांग्रेस के 'हिन्दुस्तानी'-प्रचार से लड़ना है। हिन्दी को राजनीतिक नेताओं से न कभी सहायता मिली, और न अब मिल सकती है। वास्तव में 'हिन्दुस्तानी' की जड़ में राजनीतिक नेता ही हैं जो हिन्दी को अपनी हिन्दू-मुस्लिम राजनीतिक दाँव-पेंचों का शिकार बनाना चाहते हैं। 'हम' में अगर कोई शामिल नहीं है, तो बस यही राजनीतिक नेता।

हिन्दी प्रान्तों में कुछ ख़ास काम जो हमें तुरंत करने चाहियें ये हैं—

(१) प्रत्येक जिले में एक हिन्दी-रक्षा-संघ स्थापित किया जाय, जिसका उद्देश्य बिहार (मुजफ्फरपुर) के सुहृत-संघ की भाँति सब उपायों से 'हिन्दुस्तानी' का विरोध और हिन्दी की रक्षा करना हो। एक शब्द में, ये हिन्दी-रक्षा-संघ ही हमारे हिन्दी आन्दोलन के हाथ पैर होंगे। इन संघों की नीति को संगठित रूप से संचालित करने के लिये प्रत्येक हिन्दी प्रान्त में एक प्रान्तीय हिन्दी-रक्षा-संघ स्थापित किया जाय जिसमें प्रान्त के सब संघों के प्रतिनिधि हों।

(२) हिन्दी जनता में प्रबल आन्दोलन किया जाय कि वह अपने बच्चों को 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू और उर्दू लिपि पढ़ाने से साफ इन्कार कर दे। जिन सरकारी स्कूलों में माध्यम 'हिन्दुस्तानी' हो, उनमें हिन्दी जनता अपने बच्चों को न भेजे। यदि सरकार 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू की शिक्षा अनिवार्य करे, तो उसके विरुद्ध सत्याग्रह करने के लिये हिन्दी जनता को तैयार किया जाय। हम न अपने बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर किसी को उर्दू का अतिरिक्त और अनावश्यक बोझ डालने दे सकते हैं (अँगरेज़ बच्चों को देखिये—उन्हें एक ही भाषा और लिपि सीखनी पड़ती है) और न उन्हें 'हिन्दुस्तानी' पढ़ने दे सकते हैं।

(३) अगले प्रांतीय चुनाव के लिये हिंदी जनता को अभी से तैयार करना आरम्भ कर देना चाहिये। हिंदी को चुनाव का एक मुद्दा (issue) बना देना चाहिये। हमें हिंदी जनता में ऐसी भावना भरनी चाहिये कि वह अगले चुनाव में प्रांतीय असेम्बलियों में ऐसे प्रतिनिधियों को चुनकर भेजे जो हिंदी प्रांतों से 'हिंदुस्तानी' को समूल निकालने की प्रतिज्ञा करें, हिंदी को हिंदी-प्रांतों की एकमात्र राजभाषा एवं कामन भाषा और देवनागरी को एकमात्र राजलिपि एवं कामन लिपि बनाये, उर्दू को उससे अधिक स्थान न दे जो उर्दू प्रांतों में हिंदी को दिया जाय, और दफ्तरों, पुलिस, कचहरियों आदि में अँगरेज़ी के साथ उर्दू को भी निकाल कर शीघ्र से

शीघ्र हिंदी की प्रतिष्ठा करें। इसके लिये युक्त-प्रांत की जनता में विशेष रूप से आंदोलन करना पड़ेगा।*

(४) अगले केंद्रीय चुनाव के लिये भी हिंदी जनता को तैयार करना चाहिये। केंद्र के लिये कैसे प्रतिनिधि चुने जाँय, यह पहले बताया जा चुका है।

(५) हमें इसका प्रयत्न करना चाहिये कि म्यूनिसिपेलटियों तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं के जो चुनाव समय समय पर होते हैं, उनमें ऐसे ही आदमी चुनकर भेजे जायँ जो, वर्त्तमान विधान के अन्तर्गत ही, हिन्दी का प्रवेश कराने की प्रतिज्ञा करें।

(६) वकीलों तथा अदालती लोगों में आन्दोलन किया जाय कि वे अपना सारा काम यथाशक्ति (अर्थात् जब तक हिन्दी के रास्ते की व्यावहारिक बाधाओं को सरकार दूर नहीं करती) शुद्ध हिन्दी और देवनागरी में करें। कानूनी पुस्तकों, फार्मों, आदि का हिंदी में स्टैंडर्ड अनुवाद किया जाय, सरकार से उसे स्वीकृत कराया जाय और अदालतों में सम्मेलन की टाइपराइटर योजना चालू की जाय। इस सिलसिले में प्रत्येक नगर में स्थानीय वकीलों की एक सभा स्थापित करना सहायक होगा ×।

(७) एक हिंदी प्रचारक मंडल स्थापित किया जाय जो हिंदी जनता से यथेष्ट धन एकत्र करे और हिंदी प्रचारक तैयार करे जो हिंदी प्रांतों में

---

* जैसा श्रीसम्पूर्णानंदजी ने कहा है, हिंदी वालों को सरकारी कागज़ों की जांच करके एक पुस्तक भी प्रकाशित करनी चाहिये जिसमें यह बतलाया जाय कि राजभाषाओं के विषय में सन् १८३७ की सरकारी आज्ञा क्या थी, उसके अनुसार युक्त-प्रांत में किस भाषा और लिपि को कचहरियों, आदि की भाषा और लिपि होना चाहिये था और उस आज्ञा का उल्लंघन करने के लिये कौन ज़िम्मेदार था। इस पुस्तक से हिंदी आन्दोलन को बड़ी सहायता मिलेगी।

× परिशिष्ट १६ भी देखिये।

दौरा करके सर्वत्र हिंदी का प्रचार करें। इन प्रचारकों के कुछ विशेष काम ये होंगे:—१. जनता में यह आन्दोलन करना कि जनता अपने दैनिक जीवन में हिंदी का व्यवहार करे, अपना कुल निजी काम, वही-खाते, कारोबारी काम, पत्र-व्यवहार, आदि हिंदी में करे और व्यापारी-गण अपनी दूकानों पर साइनबोर्ड केवल हिंदी में लगावें, मोटरों और लारियों पर केवल हिंदी में लिखवावें, सिनेमा के इश्तिहार, साइनबोर्ड हिंदी में निकालें आदि, आदि; २. शिक्षित समाज में यह आन्दोलन करना कि प्रत्येक शिक्षित परिवार में कम से कम हिंदी का एक पत्र या पत्रिका अवश्य आवे; ३. सरकार ने इस समय भी हिंदी के लिये जो सुविधायें दे रक्खी हैं उनसे पूरा लाभ उठाने के हेतु पुलिस, म्यूनिसिपेलटी, रेलवे, मालगुज़ारी के दफ्तर, कोर्ट आफ़ वार्डस् के दफ्तर तथा अन्य दफ्तरों और महकमों में हिंदी की स्थिति की पूरी जानकारी प्राप्त करके उसे प्रमाण सहित अधिकारियों के सामने पेश करना और उन पर उचित कार्रवाई करने के लिये ज़ोर डालना (हमारा उद्देश्य यह है कि केवल लिपि ही देवनागरी न हो वरन् भाषा भी हिंदी हो), ४. वकीलों में यह आन्दोलन करना कि वे सब अदालती काम हिंदी में करें, और उनकी सुविधा के लिये हिंदी का अदालती शब्द-कोष, फ़ारम, आदि प्रस्तुत करना; ५. धारा सभाओं के सदस्यों से मिलकर उनसे धारा-सभाओं में हिंदी के विषय में प्रश्न पुछवाना और सरकार पर यह ज़ोर डलवाना कि वह एक हिंदी जाँच-कमेटी की नियुक्ति करे जो राज-व्यवहार और राज-काज में हिंदी की स्थिति की जाँच करके यह बतावे कि हिंदी को उचित स्थान देने के लिये सरकार को क्या क्या करना उचित है, और इस विषय में अपनी सिफ़ारिशें पेश करे; ६. शिष्ट-मण्डल बनाकर सरकारी अधिकारियों से मिलना और उन पर हिंदी के रास्ते की रुकावटें दूर करने के लिये और हिंदी को सर्वत्र उचित स्थान देने के लिये ज़ोर डालना; ७. सार्वजनिक सभाओं में हिंदी के समर्थन में प्रस्ताव पास कराना और उनकी नक़लें तथा अख़बारों की कतरनें

सरकारी अधिकारियों के पास भेजना; ८. जनता में और विशेष रूप से सरकारी अधिकारियों, धारा-सभाओं के सदस्यों और नेताओं में 'हिंदी बोलो' प्रचार करना (देखिये पृष्ठ ६६-८१); ९. जनता में, विशेष रूप से कायस्थों और काश्मीरियों में, यह आन्दोलन करना कि वह अपने बच्चों को स्कूलों में हिंदी ('वर्नाक्यूलर' के रूप में) दिलावे; १०. जनता में ज़ोरदार आन्दोलन करना कि वह केवल हिंदी के चित्र देखे और उर्दू तथा 'हिंदुस्तानी' के चित्रों का, जो अधिकतर गन्दे और अश्लील भी होते हैं, बहिष्कार करे; आदि ।

हिंदी प्रान्तों के बाहर अन्य प्रान्तों में भी हिंदुस्तानी प्रचार के विरुद्ध नेतृत्व हिंदियों को ही ग्रहण करना पड़ेगा, क्योंकि हिंदुस्तानी से सबसे अधिक हानि हिंदियों को ही है । इस सम्बन्ध में कुछ ख़ास ख़ास बातें जो हमें करनी चाहिये ये हैं:—

(१) अहिंदियों को 'हिंदुस्तानी' का ऊँच-नीच समझाया जाय, यह बतलाया जाय कि जैसा हिंदुस्तानी-प्रचार हो रहा है उसका परिणाम केवल यह होगा कि उर्दू और उर्दू लिपि वास्तविक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि बन जायँगी । ऐसा होने पर हमसे कहीं अधिक असुविधा उन्हीं को होगी । उससे राष्ट्र का कल्याण कदापि न होगा ।*

(२) *अहिन्दियों को समझाया जाय कि ऐसी बात नहीं है कि हिन्दुस्तानी से केवल हिंदी को ख़तरा है । 'हिंदुस्तानी' से अन्य संस्कृत-निष्ठ प्रांतीय भाषाओं को भी घोर हानि पहुँचेगी । परस्पर सम्पर्क होने पर दो भाषाओं का एक दूसरे की शब्दावली को प्रभावित करना अनिवार्य है । कालान्तर में राष्ट्र-भाषा का भारत की सबसे प्रमुख, शक्तिशाली और प्रभावशाली भाषा हो जाना भी अनिवार्य है । सब से ज्यादा साहित्य राष्ट्र-भाषा का ही होगा, और देश के सब बड़े बड़े काम राष्ट्र-भाषा में ही होंगे और उसका पढ़ना व्यवहार में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के लिये अनिवार्य होगा (जैसे आज कल

---

* उत्तर-परिशिष्ट ३ भी देखिये ।

अँगरेज़ी का है)। ऐसी अवस्था में यदि राष्ट्र-भाषा यह 'हिंदुस्तानी' हुई, तो जिस प्रकार आज सार्वदेशिक भाषा अँगरेज़ी के सैकड़ों अनावश्यक शब्द प्रांतीय भाषाओं में घुसते चले जा रहे हैं, प्रांतीय भाषाओं और अँगरेज़ी के मेल से खिचड़ी भाषाओं की ('बाबू हिन्दुस्तानी' या इङ्गलिस्तानी की भाँति) सृष्टि हो रही है, और ये खिचड़ी भाषायें ही शिक्षित समाज की बोलचाल की भाषायें होती जा रही हैं और अँगरेज़ी शब्दों का निकालना अत्यन्त कठिन साबित हो रहा है, उसी प्रकार सार्वदेशिक भाषा 'हिन्दुस्तानी' के प्रभाव के कारण 'हिन्दुस्तानी' द्वारा 'हिन्दुस्तानी' के सैकड़ों अनावश्यक अरबी फारसी शब्द प्रांतीय भाषाओं में उनके अपने शब्दों को निकाल कर उनके स्थान में जा बैठेंगे (मुसलमान आग्रह के साथ बैठायँगे), और इस प्रकार हिन्दी के समान संस्कृत-निष्ठ अन्य भाषायें जैसे बँगला, असमी, उड़िया, गुजराती, मराठी, तेलगू, तामिल, कन्नड़ और मलयालम, आदि भी विकृत होती चली जायँगी, और उनका पुराना साहित्य आने वाली पीढ़ियों के लिये अपरिचित और दुरूह होता चला जायगा। राजभाषा फारसी के समय में छोर की भाषाओं बँगला और तामिल तक में अनेक अरबी फारसी शब्द घुसे; राजभाषा अँगरेज़ी के प्रभाव के कारण प्रांतीय भाषाओं की दुर्दशा आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं, आगे राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' के समय में प्रांतीय भाषाओं में हज़ारों अनावश्यक विदेशी अरबी फारसी शब्दों का घुसना अनिवार्य है। इसी आने वाले ख़तरे की कल्पना करके श्रीयुत के० एम० मुंशी ने कहा है कि 'हिन्दुस्तानी' से गुजराती को हानि पहुँचेगी, और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा है कि 'हिन्दुस्तानी' का बँगला पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। अहिन्दी लोग ज़रा सोच समझ कर काम करें। गांधी जी के कहने से भावावेश में आकर अपने पैर में अपने हाथों से कुल्हाड़ी न मारें। (देखिये परिशिष्ट ११)

'हिन्दुस्तानी' और हिन्दुस्तानी-वाद से प्रांतीय भाषाओं को एक ओर

बड़ा भारी खतरा है। राष्ट्रभाषा 'हिन्दुस्तानी', या हिन्दुस्तानी की एक शैली उर्दू, और उसकी एक लिपि फारसी सीखने के बाद विभिन्न प्रांतों के मुसलमान अपनी अपनी मातृ-भाषायें छोड़ कर उर्दू अपनायँगे, उर्दू को ही अपनी मातृ-भाषा बनाने की चेष्टा करेंगे और माँग करेंगे कि प्रत्येक प्रांत में उर्दू को प्रांतीय जीवन में भी प्रांतीय भाषा के समक्ष स्थान दिया जाय। युक्त-प्रांत, बिहार और मध्य-प्रांत में ऐसा हो चुका है, बम्बई, गुजरात और उड़ीसा में आज ऐसा हो रहा है, बंगाल में शीघ्र ही होने वाला है, और यदि दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा अपने हिन्दुस्तानी प्रचार में सफल हो गई, तो दक्षिण में भी होकर रहेगा *। इस प्रकार प्रत्येक प्रांत की एकता खण्ड खण्ड हो जायगी, प्रत्येक प्रांत में हिन्दी-उर्दू का सा झगड़ा उठ खड़ा होगा, प्रत्येक प्रांत में भाषा की समस्या वही रूप धारण कर लेगी जो आज युक्त-प्रांत और बिहार में है—बल्कि इससे भी भीषण क्योंकि हिन्दी और उर्दू की आधार-भूत मूल भाषा तो एक ही है परन्तु उर्दू और प्रांतीय भाषायें सर्वथा भिन्न भाषायें होंगी। इसके लिये जिम्मेदार होंगे स्वयं अहिन्दी जन जो आज हिन्दुस्तानी के जोश में अपने मुसलमान भाइयों को अपने पैसे से उर्दू या 'हिन्दुस्तानी' और उर्दू लिपि सिखाना पुण्यकार्य समझते हैं। फिर जब उर्दू प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय भाषा के समान ही जम जायगी, तो उसके सम्पर्क में आकर प्रान्तीय भाषा के विकृत होने की गति और भी बढ़ जायगी—उसी प्रकार जिस प्रकार आज हिन्दी प्रांतों में हिन्दी उर्दू से प्रभावित हो रही है, और पंजाब में पंजाबी उर्दू से प्रभावित हो रही है

---

* अभी हाल का (अक्तूबर, १९४६) का समाचार है कि आंध्र के मुसलमानों ने माँग की है कि उनकी शिक्षा का माध्यम तेलगू के बजाय उर्दू हो। वस्तुत: इस समाचार ने यहाँ जो कुछ कहा गया है उसकी पुष्टि कर दी है। इस माँग से अहिन्दी प्रांतों के मुसलमानों की मनोवृत्ति स्पष्ट है। (देखिये उत्तर—परिशिष्ट ३)।

(यहाँ तक कि आधुनिक पंजाबी ने अपना प्राचीन संस्कृत-बहुल स्वरूप बिलकुल त्याग कर अपने को अरबी फारसी के रंग में रँग लिया है)।

यदि मुसलमानों ने मातृ-भाषा छोड़ कर उर्दू को न अपनाया, तो भी इतना तो निश्चित है कि वे राष्ट्र-लिपि फारसी सीखने के बाद अपनी अपनी मातृ-भाषायें प्रांतीय लिपियाँ छोड़ कर फारसी लिपि में लिखना आरम्भ करेंगे, प्रत्येक प्रांतीय भाषा की दो दो लिपियाँ हो जायँगी (एक 'हिन्दू लिपि' और एक 'मुस्लिम लिपि') और प्रत्येक प्रांत में हिन्दी लिपि-उर्दू लिपि जैसा झगड़ा पैदा हो जायगा* । मुसलमानों को कहने का बहाना मिलेगा कि इससे एक राष्ट्र-लिपि फारसी का प्रचार बढ़ता ही तो है, क्यों न हिन्दू भी अपनी अपनी मातृ-भाषा देवनागरी में लिखें जिससे देश में केवल दो लिपियाँ देवनागरी और फारसी लिपि रह जायँ ? अहिन्दी स्वयं सोच देखें, वे अपनी अपनी मातृ-लिपि छोड़ना चाहते हैं या नहीं, और प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की दो दो लिपियों का हो जाना चाहते हैं या नहीं । लिपि-विभाजन के बाद यह निश्चित

---

* यह कोरी कल्पना नहीं है । सिन्ध में मुसलमानों ने सिन्धी को देवनागरी छोड़कर फारसी लिपि में लिखना आरम्भ किया, और जब सिन्ध में उनका बहुमत हो गया तो उन्होंने हिंदू सिन्धियों को भी देवनागरी छोड़कर फारसी लिपि ग्रहण करने पर मजबूर किया । इसको केवल सौ वर्ष बीते हैं । फलतः सिन्धी की लिपि फारसी हो गई, और किसी को अब याद भी न रहा कि उसकी पुरानी लिपि क्या थी, यद्यपि पुरानी सिन्धी पुस्तकें देवनागरी में अब भी मिलती हैं । विभिन्न हिन्दू प्रान्तों में चूँकि मुसलमानों का अल्पमत होगा, प्रान्तीय भाषाओं की लिपि अकेली फारसी लिपि तो नहीं होगी वरन् दो दो लिपियाँ होंगी—एक वर्तमान लिपि और एक फारसी लिपि । पंजाब में मुसलमान पंजाबी फारसी लिपि में लिखते हैं, यद्यपि सिख अपने धर्म के कारण अभी तक गुरुमुखी से चिपके हुये हैं । पंजाब विश्वविद्यालय ने पंजाबी की दोनों लिपियों को स्वीकार कर लिया है । गुरुमुखी आज ही केवल सिक्खों की धार्मिक लिपि कहलाती है, आश्चर्य नहीं यदि कुछ समय बाद पंजाबी की सांसारिक लिपि केवल एक, फारसी लिपि, मानी जाय । (देखिये उत्तर—परिशिष्ट ३)।

है कि मुसलमान माँग करेंगे कि प्रान्तीय जीवन में भी प्रान्तीय भाषा की दोनों लिपियों को एक सा स्थान दिया जाय (जैसा आज मुसलमान हिन्दी प्रान्तों में कहते हैं, और दयालु कांग्रेसी सरकार इस माँग को ही पूरा नहीं करती, वरन् हिन्दुओं को भी 'अपनी मातृ-भाषा की दोनों लिपियाँ' सीखने के लिये मजबूर करती है)। इस सबके लिये भी स्वयं अहिन्दी जन ज़िम्मेदार होंगे जो आज गांधीजी के इशारे से अपने पैसे से उर्दू लिपि का प्रचार करना परम राष्ट्रीय कार्य समझते हैं। उर्दू लिपि के कारण प्रान्तीय भाषाओं में उच्चारण की भी जो दुर्दशा होगी, वह हम हिन्दी वाले प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं।

प्रान्तीय भाषाओं की लिपि का विभाजन होने के बाद उनकी शैली का विभाजन होना भी अनिवार्य है। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की दो दो शैलियाँ हो जायँगी—एक 'हिन्दू शैली' और एक 'मुस्लिम शैली'—बिलकुल हिन्दी उर्दू की तरह (फिर क्या गांधीजी प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की 'सरस्वती' प्रकट करने का भगीरथ प्रयत्न करेंगे ?)। उर्दू शैली हिन्दी शैली से लिपि भिन्न होने के कारण ही भिन्न हुई ; 'मुस्लिम बँगला' का आन्दोलन अब तक लिपि एक रहने के कारण ही सफल न हो सका है (आगे की राम जाने—संभवतः बंगाल की लीगी सरकार अब 'मुस्लिम बँगला' फारसी लिपि में लिखेगी)। पारसियों की गुजराती रोमन लिपि में लिखी जाने के कारण ही हिन्दुओं की गुजराती से सर्वथा भिन्न है,-और गोआ के ईसाइयों की कोंकणी रोमन लिपि में लिखी जाने के कारण ही हिन्दुओं की कोंकणी (देवनागरी में लिखित) से सर्वथा भिन्न है। लिपि और भाषा का अटूट सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार रोमन लिपि के प्रभाव से अँगरेज़ी शब्द पारसी गुजराती और ईसाई कोंकणी में अनायास घर करते चले जाते हैं, उसी प्रकार फारसी लिपि के प्रभाव से उर्दू शब्द प्रान्तीय भाषाओं की मुस्लिम शैली में (फारसी लिपि में लिखित) अनायास घर करते चले जायँगे*। 'हिन्दुस्तानी' की शब्दावली

*फारसी लिपि के प्रभाव से सिन्धी अरबी फारसी में ऐसी रँगी है और

इसमें सहायक होगी। मुस्लिम शैलियों के बनने के बाद प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में हिन्दी उर्दू का सा कलह आरम्भ होगा, और मुसलमान माँग करेंगे कि प्रान्तीय जीवन में उनकी शैली हिन्दू शैली के समकक्ष रक्खी जाय। (उस समय गांधीजी हिन्दुओं के आँसू पोछेंगे, और काका कालेलकरजी कहेंगे कि भारत में मुसलमान भी तो हैं, उनकी भाषा और संस्कृति को कैसे छोड़ा जा सकता है!)

अहिन्दयों को ये सब बातें खोलकर समझानी चाहिये। उन्हें दूसरी ओर हिन्दी का महत्व भी समझा देना चाहिये। हिन्दी और देवनागरी के प्रचार से किसी प्रान्तीय भाषा को कोई ख़तरा नहीं, हिंन्दी और देवनागरी के राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि होने पर प्रान्तीय भाषाओं को उल्टे और मदद मिलेगी। क्यों? हिन्दी और देवनागरी पर मुसलमान मोहित नहीं, विभिन्न प्रान्तों के मुसलमान अपनी अपनी मातृ-भाषा छोड़कर हिन्दी अपनाना कभी न चाहेंगे, और न कभी अपनी अपनी मातृ-लिपि छोड़कर अपनी अपनी मातृ-भाषा देवनागरी में लिखना पसन्द करेंगे, और हिन्दुओं को तो अपनी अपनी मातृ-भाषा और मातृ-लिपि से अगाध प्रेम है ही (होना ही चाहिये), हिन्दुओं का कोई भाग तो अपनी मातृ-भाषा या मातृ-लिपि छोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकता। हिन्दी का किसी प्रांतीय भाषा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता, यह भी स्पष्ट है। हिन्दी और विभिन्न प्रांतीय भाषाओं का हृदय एक है, आत्मा एक है और संस्कृति एक है। सब संस्कृत के वातावरण में

रँगती जा रही है कि न जाननेवाले समझने लगे हैं कि वह संस्कृत परिवार की भाषा ही नहीं है। फारसी लिपि के प्रभाव से मुस्लिम पंजाबी और उर्दू में केवल क्रियाओं और विभक्तियों का अन्तर रह गया है। सिन्ध में सिन्धी की हिन्दू शैली हिन्दुओं के अल्पमत में होने के कारण ग़र्क़ हो गई, सिक्खों की पंजाबी अभी तक जीवित है, विभिन्न प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं की हिंदू शैलियाँ ग़र्क़ तो न होंगी, बस प्रत्येक प्रान्तीय भाषा की दो दो शैलियाँ हो जायँगी। (देखिये उत्तर—परिशिष्ट ३)।

हज़ारों साल तक बढ़ी हैं, सबने एक ही माता का दूध पिया है। हिन्दी तो किसी संस्कृत-निष्ठ या संस्कृत-बहुल प्रांतीय भाषा को विकृत कर ही नहीं सकती। यही कारण है कि श्रीयुत मुंशी जो हिन्दुस्तानी-प्रचार में गुजराती का अनिष्ट देखते हैं, और डा. सुनीतिकुमार चटर्जी जो हिन्दुस्तानी-प्रचार में बँगला का अनिष्ट देखते हैं, दोनों ही राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी के प्रबल समर्थक हैं। प्रांतीय भाषाओं को हिन्दी से मदद क्यों मिलेगी, यह भी स्पष्ट कर देना चाहिये। प्राचीन काल में मध्य-देश की भाषा संस्कृत ने जो किया वह आज मध्य-देश की भाषा हिन्दी ही कर सकती है। 'हिन्दी संस्कृत की अखण्ड पीढ़ी में उतर आती है'। हिन्दी ही सांस्कृतिक एकता स्थापित कर सकती है। हिन्दी ही विभिन्न संस्कृत-निष्ठ और संस्कृत-बहुल प्रांतीय भाषाओं के पारस्परिक आदान प्रदान का साधन और माध्यम बन सकती है। हिन्दी ही परम शक्तिशालिनी, समृद्ध और विकसित सार्वदेशिक भाषा होकर प्राचीन काल में संस्कृत की भाँति और आधुनिक काल में अँगरेज़ी की भाँति विभिन्न प्रांतीय भाषाओं का एक प्रधान सम्बल बन सकती है। इस सम्बन्ध में संस्कृत का महत्व कम न होगा, किन्तु स्पष्ट है कि आज संस्कृत वह काम नहीं कर सकती जो उसने पहले किया है। आज हिन्दी ही विभिन्न प्रांतीय भाषाओं को एक सूत्र में पिरो सकती है। हिन्दी के अभाव में प्रांतीय भाषायें अलग अलग हो जायँगी, छिन्न भिन्न हो जायँगी, और उनकी सांस्कृतिक एकता नष्ट हो जायगी। दूसरे शब्दों में, अहिन्दी जन 'हिन्दुस्तानी' द्वारा हिन्दी को जो हानि पहुँचायँगे, वह लौट कर उन्हीं के सिर हो जायगी। "यदि हिन्दी टूट गई तो हिन्दू संस्कृति, आर्य संस्कृति, भारतीय संस्कृति टूट जायगी"—ये शब्द प्रत्येक अहिन्दी के मानस-पटल पर अंकित कर देने चाहिये।

(२) हिन्दियों को अन्य प्रांतीय भाषाओं का गहरा अध्ययन करना चाहिये, उनकी समृद्धि, शक्ति और सौन्दर्य हिन्दी में लाना चाहिये, उनके

उत्तमोत्तम ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करना चाहिये, उन से मनोहर और हिन्दी की व्यंजना-शक्ति के पूरक शब्द ग्रहण करना चाहिये, और इस प्रकार हिन्दी को वास्तविक राष्ट्र-भाषा बनाना चाहिये। हिन्दी वाले कहते फिरते हैं कि हिन्दी अन्य प्रांतीय भाषाओं के निकट है, इसलिये वही राष्ट्र-भाषा है, परन्तु इन भाषाओं के रत्न अपनी हिन्दी के खजाने में लाकर नहीं भरते। वे औरों से अपनी भाषा हिन्दी पढ़ने के लिये कहते हैं, परन्तु स्वयं उर्दू के सिवा कोई अन्य प्रांतीय भाषा नहीं पढ़ते। जिस प्रकार हिन्दी के साहित्यिक उर्दू पढ़ते हैं, उर्दू की अच्छी बातें, आवश्यक शब्द और प्रवृत्तियाँ हिन्दी में लाते हैं, उसी प्रकार क्यों न वे अन्य प्रांतीय भाषायें भी पढ़ें और उनकी दौलत से हिन्दी के ख़ज़ाने को भरें? हिन्दी अन्य प्रांतीय भाषाओं के निकट है, वही उन्हें एक सूत्र में पिरो सकती है, वही सांस्कृतिक एकता स्थापित कर सकती है—ये बातें कहने की नहीं, कर दिखाने की हैं। जिस प्रकार यदि आज कोई केवल एक भाषा सीख कर संसार की सब भाषाओं के अमर साहित्य का अनुशीलन करना चाहे, तो वह अँगरेज़ी सीखेगा, उसी प्रकार हिन्दी में कम से कम समस्त भारतीय—प्राचीन अथवा अर्वाचीन, संस्कृत और प्राकृत का, अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओं का—साहित्य तो लभ्य हो जिस से एक भारतीय अथवा अभारतीय केवल हिंदी पढ़ कर समस्त भारतीय साहित्य की उत्तमोत्तम कृतियों का रसास्वादन कर सके। ऐसा होने से हिन्दी का लाभ ही लाभ है। क्षोभ का विषय है कि हिन्दी वाले अँगरेज़ी की उत्तम पुस्तकों का तो हिन्दी में अनुवाद करते हैं, परन्तु प्रांतीय भाषाओं की उत्तम पुस्तकों का अनुवाद नहीं करते। वे प्रांतीय भाषायें जानते ही नहीं। यदि हिन्दी-जन प्रान्तीय भाषाओं की ओर ध्यान देंगे, तो एक और लाभ होगा—अन्य प्रान्तीय भाषा-भाषी भी जब अपनी भाषा के दायरे से बाहर अपनी सुनवाई करना चाहेंगे, तो अँगरेज़ी के बजाय (जिसमें वे आज लिखते हैं) हिन्दी में लिखेंगे। इस प्रकार हिन्दी वाङ्मय उत्तरोत्तर समृद्ध और भारतीय

साहित्य का सच्चा दिग्दर्शक होता चला जायगा। शुरुआत हिन्दी वालों को करनी है। उन्हें प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिकों से सम्पर्क बढ़ाना चाहिये, उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिये। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में उन्हें 'साहित्यिक सगाइयाँ' करनी चाहिये। हर्ष का विषय है कि हिन्दी साहित्य सभा, नई दिल्ली ने इस दिशा में क़दम उठाया है। परन्तु काम बहुत बड़ा है। सब हिन्दीवालों को मिलकर प्रान्तीय भाषाओं से साहित्यिक मेलजोल बढ़ाने की योजना बनानी चाहिये। एक काम जो हिन्दी वाले तुरन्त कर सकते हैं वह है भारतीय साहित्य परिषद की पुनः स्थापना और 'हंस' जैसे पत्र का पुनः संचालन। हमारी हार्दिक अभिलाषा है कि श्रीमुन्शी की 'सर्व-भाषा-मंदिर योजना' शीघ्र कार्य रूप में परिणत हो।

ऊपर के काम से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा-पद प्राप्त करने में भी वह सहायता मिलेगी जो किसी अन्य उपाय द्वारा संभव नहीं। अन्य भाषा-भाषियों पर हिन्दी का महत्व अपने आप प्रकट हो जायगा। 'हाथ कंगन को आरसी क्या'? वे देख लेंगे कि जो काम हिन्दी कर सकती है, वह न उर्दू कर सकती है और न 'दोनों लिपि' वाली 'हिन्दुस्तानी'।

(४) एक हिन्दी प्रचार विद्यालय खोलना चाहिये जो हिन्दी प्रचारक तैयार करे। इस विद्यालय में केवल वे ही लिये जायँ जिनकी मातृ-भाषा हिंदी हो। इस विद्यालय की परीक्षा पास करके प्रचारक विभिन्न अहिन्दी प्रान्तों में जाकर राष्ट्र-भाषा हिंदी का संगठित रूप से प्रचार करें। अच्छा हो यदि यह विद्यालय सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के तत्वावधान में खोला जाय। (हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा भी हिन्दुस्तानी प्रचारक तैयार करने के लिये वर्धा में एक विद्यालय खोल रही है)। इस समय हिन्दियों का कर्त्तव्य है कि वे विभिन्न प्रांतों में राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रचार के काम में हाथ बटावें। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के संगठन पर हिन्दुस्तानी वालों के जो प्रहार हो रहे हैं, उनका प्रतिकार हिन्दियों को करना होगा। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति

की शाखाओं की गिरती हुई हालत को उन्हें सुधारना होगा। यदि अहिन्दी गांधी की आँधी में पथ-भ्रष्ट हो गये हैं, तो हिन्दियों का कर्त्तव्य है कि वे इस आँधी के वेग को सँभालें, और अपने पथ-भ्रष्ट भाइयों के रिक्त स्थान की पूर्ति करें। उन्हीं को हिन्दी को सबसे अधिक ख़तरा है, इसलिये उन्हीं को सबसे अधिक क्रियाशील होना चाहिये। आँधी निकल जाने के बाद सत्य की विजय निश्चित है, परन्तु हिन्दी वाले मैदान में डटे रहें तब तो। यदि मैदान में हिन्दी का झण्डा फहराता रहेगा तभी तो आशा है कि सेना उसके तले फिर एकत्र हो सकेगी। हिन्दी प्रचार का क्षेत्र कितना ही संकुचित क्यों न हो जाय, हिन्दी के अहिन्दी प्रचारक कितने ही कम क्यों न हो जायँ, परन्तु "न दैन्यम् न पलायनम्"। हम राजनीति में गांधी जी के अनुयायी ही तो हैं न? हमें लड़ाई के समय उन्हीं की मिसाल सामने रखनी चाहिये। यदि हमने सत्य का बल दिखाया तो, श्रीयुत मुंशी के शब्दों में, "हमें गांधी जी को जीत लेने में देर न लगेगी"। उदयपुर में श्री मुंशी ने हिन्दी वालों से पूछा था, "क्या सम्मेलन इन शक्तियों को प्राप्त करेगा?"। हमें हिन्दियों के इस प्रचारक विद्यालय को एक हिन्दी प्रांत में खोलकर उन्हें इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। यदि हमने अपने आलस्य या प्रमाद के कारण राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के भवन को गिरने दिया, तो हमसे बढ़कर अभागा और पापी कोई दूसरा न होगा। हम टंडन जी के सामने मुँह दिखाने योग्य न रहेंगे। अहिन्दी प्रांतों के हिन्दी-प्रेमी जन इस गाढ़े समय में हमारी ओर निहार रहे हैं, हमसे सहायता की आस लगाये बैठे हैं। क्या हम उन्हें निराश करेंगे और वह भी अपनी ही भाषा के प्रचार के विषय में?

(५) रेडियो और सिनेमा पर अधिकार करना चाहिए। रेडियो के विषय में पहले कहा जा चुका है। रेडियो स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी हिन्दी-प्रचार का कितना ज़बर्दस्त साधन हो सकता है, यह बताने की ज़रूरत नहीं। विदेशों तक तो रेडियो ही हिंदी और हिंदी संस्कृति का संदेश पहुँचा

सकता है। रेडियो हमारे पैसे से उर्दू या 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार करे, स्वदेश और विदेश में प्रचार करे कि यही हिन्दुस्तान की सबसे प्रमुख भाषा है, हिन्दी शब्दों और नामों की दुर्गति करके सबके सम्मुख हमें हास्यास्पद बनावे, हमारे बीच, हमारे बालकों और स्त्रियों के बीच उर्दू और विदेशी संस्कृति का प्रचार करे, हमारी संस्कृति को हमारी नज़रों में गिरावे, यह सब हमें असह्य है। हमें रेडियो में हिन्दी और हिन्दी-संस्कृति का प्राप्य प्राप्त करने के लिये सिर धड़ की बाज़ी लगानी पड़ेगी। हम रेडियो को छोड़ नहीं सकते। रेडियो हिन्दी का सर्वनाश करने में समर्थ है। हमें रेडियो को अनुचित रूप से हिंदी प्रचार का साधन नहीं बनाना है, हमें केवल रेडियो में हिन्दी का वही अधिकार और वही स्थान प्राप्त करना है जो उसे प्रान्तीय और राष्ट्रीय जीवन में प्राप्त है। हमें किसी दूसरी भाषा से मतलब नहीं—, द्वेष नहीं 'हिन्दुस्तानी' से भी नहीं। परन्तु हिन्दी नहीं छोड़ सकते*।

रेडियो की नीति के विरुद्ध सम्मेलन का आन्दोलन चल रहा है। हमें इसमें अपना पूरा ज़ोर लगाना पड़ेगा। राष्ट्रीय सरकार से कोई आशा नहीं। वह भी बिना विकट आन्दोलन के हिन्दी को उसका प्राप्य नहीं देगी। श्री बोख़ारी ने हिन्दी का भाग छीनकर उर्दू को दिया है, राष्ट्रीय सरकार हिन्दी का भाग छीन कर वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' को देना चाहेगी। हमें राष्ट्रीय सरकार से भी लड़ना पड़ेगा। हमें उसके विरुद्ध सत्याग्रह के लिये तैयार हो जाना चाहिये*।

* भारतीय रेडियो में हिन्दी की प्रतिष्ठा होने के बाद ही बी. बी. सी. और अन्य विदेशों के रेडियो में हिन्दी के प्रतिष्ठित होने की आशा की जा सकती है। जब तक भारतीय रेडियो 'हिन्दुस्तानी' नाम की ओट में हिन्दी का बहिष्कार कर उर्दू अपनाये हुये है, तब तक यह आशा करना कि बी. बी. सी. की 'हिन्दुस्तानी' बदली जा सकती है, दुराशा मात्र है। हाँ, भारतीय रेडियो को रास्ते पर लाने के बाद बी.बी.सी., आदि को मेमोरैन्डम भेजना उचित होगा।

* देखिये उत्तर—परिशिष्ट २।

रेडियो-आन्दोलन के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देनी चाहिये। सम्मेलन ने रेडियो से सहयोग करनेवाले साहित्यिकों का बहिष्कार किया सो तो ठीक, परन्तु इससे भी अधिक आवश्यकता उन हिन्दी साहित्यिकों का बहिष्कार करने की है जो रेडियो में जाकर रेडियो वालों के समझाने फुसलाने से, डराने धमकाने से या पैसे के लालच से या रेडियो वालों को खुश करने के इरादे से अपनी स्वाभाविक हिन्दी शैली छोड़कर रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' बूँकने लगते हैं। वे हिन्दी पर शर्म का ऐसा बोझ लादते हैं जो किसी के उठाये नहीं उठ सकता। जिन स्वाभिमानी हिन्दी वक्ताओं या लेखकों से रेडियो वाले अपनी शैली में परिवर्त्तन करने के लिये कहें, उन्हें उचित है कि वे पांडुलिपि रेडियो वालों के सिर पर पटक कर पत्रों में ख़बर दें, और रेडियो वालों की नीति का भण्डाफोड़ करें। किसी अँगरेज़ी वाले से तो रेडियो वाले कुछ कहने का साहस न करेंगे। हमारे ही देश में हमारी भाषा का यह अपमान!

रेडियो के बाद सिनेमा का नम्बर है। जो जो बातें रेडियो के लिये कही जा सकती हैं, वही सिनेमा के लिये कही जा सकती हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ रेडियो सरकार द्वारा संचालित है, वहाँ सिनेमा आदर्शहीन पूँजीपतियों द्वारा संचालित है, जहाँ हिन्दी पत्र रेडियो की नीति का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वहाँ वे सिनेमा की भाषा-नीति के विरुद्ध एक शब्द कहना नहीं चाहते। क्यों, यह राम जाने।

यदि हिन्दी पत्र पैसे और विज्ञापन के लालच में न आकर चित्रों की भाषा की निष्पक्ष और मुँहफट समालोचना करें, तो कोई कारण नहीं उनकी भाषा क्यों न सुधरे। ऐसा करने के बजाय वे बँधे हुये लेखकों की समालोचनाएँ छाप देते हैं जिन्हें 'हिन्दुस्तानी' के सिवा कोई दूसरा शब्द नहीं मालूम, जो चित्र की भाषा की ओर ध्यान देना आवश्यक ही नहीं समझते, और यदि ध्यान देते हैं, तो 'हुमायूँ' की भाषा को भी 'हिन्दुस्तानी' लिख

देते हैं, जनता बेचारी जाकर उस 'हिन्दुस्तानी' को समझे चाहे न समझे। अब तक जितने तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' चित्र बने हैं, उनमें से अधिकांश की भाषा 'अच्छी उर्दू, ख़राब उर्दू, भद्दी उर्दू, खराब हिन्दी या भद्दी हिन्दी' है, अच्छी हिन्दी के चित्र शायद ही कुछ बने हैं। यदि चित्र-समालोचक सब चित्रों की भाषा को इस 'हिन्दुस्तानी' का पासपोर्ट न देकर चित्र की भाषा को इन्हीं विशेषणों से सम्बोधित करें, तो जनता का भी लाभ हो और फ़िल्म निर्माताओं का भी। हिन्दी जनता या तो एक 'उर्दू' चित्र देखने ही न जायगी (वे ही जायँगे जो उर्दू समझ सकते हैं), और यदि जायगी भी तो उसे मालूम रहेगा कि वह किस भाषा का चित्र देख रही है। हिन्दी जनता को भी सभायें करके चित्रों की भाषा के विरुद्ध अपना असंतोष प्रकट करना चाहिये। यह सब होने पर सिनेमा के मालिक पूँजीपतियों को हवा का रुख पहचानते देर न लगेगी। जब वे हमारे पैसे से ही मोटे होते हैं, तो उन्हें वह देना पड़ेगा जो हम चाहते हैं। हम क्या चाहते हैं, यह हम बतलावें तो।

हिन्दी वालों को अधिकाधिक संख्या में सिनेमा कम्पनियाँ खोलनी चाहिये, जो चित्रों में हिन्दी और हिन्दी संस्कृति की रक्षा करें और सुरुचि का पूरा ध्यान रक्खें। जनता का सांस्कृतिक स्तर उठने वाला है, जनता शीघ्र ऐसे चित्रों की माँग करेगी। हिन्दी साहित्यिकों और लेखकों को भी अधिकाधिक संख्या में सिनेमा में प्रवेश करना चाहिये, और सिनेमा की दुनिया पर अधिकार करना चाहिये। सिनेमा दुरदुराने से नहीं, अपनाने से सुधरेगा। सिनेमा का राष्ट्र की शिक्षा और सांस्कृतिक उत्थान के कार्य-क्रम में इतना ऊँचा स्थान है कि वह अच्छे से अच्छे साहित्यिक के सर्वथा योग्य है, और यदि इस समय नहीं है तो अब हमें बनाना है। परन्तु सिनेमा के वर्त्तमान या भविष्य के हिन्दी लेखकों से हमारा एक नम्र निवेदन है। वे अपनी कला को सिनेमा की टेकनीक के अनुकूल अवश्य बनावें,

परन्तु कृपा करके वे अपनी भाषा की हत्या न करें। उन्हें सदैव अच्छी हिन्दी में लिखने का प्रयत्न करना चाहिये। जब उनकी हिन्दी हिंन्दी-प्रदेश की बहुसंख्यक जनता की भाषा और वास्तविक राष्ट्र-भाषा है तो उन्हें डर क्या, हिन्दी लिखने में संकोच क्यों? उन्हें किसी भी परिस्थिति में अपनी हिन्दी बिगाड़ना स्वीकार न करना चाहिये। उन पर बहुत कुछ हद तक हिन्दी का भविष्य निर्भर है, फिर वे हिन्दी की अवहेलना कैसे कर सकते हैं? चित्रों में हिन्दी शब्दों के साथ-साथ लगे हुये क्लिष्ट कर्ण-कटु अरबी फारसी शब्दों को सुनकर हृदय में शूल सा चुभता है। 'रामशास्त्री', 'चित्रा-वली', 'हमराही' जैसे चित्रों की भाषा सुनकर अत्यन्त क्लेश होता है। यह बात नहीं है कि हिन्दी लेखकों को अपनी भाषा से प्रेम न हो, परन्तु वे बहुत जल्दी, ज़रा से इशारे पर अपने शब्द छोड़ देते हैं और विदेशी शब्द झट अपना लेते हैं—लिखने में भी और बोलचाल में भी। उन्हें इस मामले में उर्दू लेखकों से शिक्षा लेनी चाहिये जो सरल से सरल उर्दू लिखना मंजूर कर लेंगे, परन्तु लिखेंगे उर्दू ही—एक भी हिन्दी शब्द नहीं अपना सकते।

(६) हिन्दी प्रान्तों के अथवा अहिन्दी प्रान्तों के हिन्दी पत्रों को हिन्दुस्तानी प्रचार और हिन्दुस्तानी वालों के विचारों के प्रचार का साधन कदापि न बनने देना चाहिये। हिन्दुस्तानी वालों के पास वैसे ही अपरिमित साधन हैं, कम से कम हिन्दी पत्र तो उन्हें योग न दें और हिन्दी का ध्यान रक्खें। उन्हें हिन्दुस्तानी-प्रचार से सम्बन्धित सब समाचार तो निष्पक्ष होकर देना चाहिये (यह समाचार पत्रों का प्रथम कर्त्तव्य है), परन्तु उन्हें 'हिन्दुस्तानी' की वकालत न करना चाहिये, और 'हिंदुस्तानी' को वकालत करने वाले लेख, 'हिंदुस्तानी' में लिखे हुये लेख, सूचनायें, आदि न छापना चाहिये। महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों ने सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के समाचार ही छापना बन्द कर दिया; इतना ही नहीं,

उन्होंने उसे बदनाम करने का प्रयत्न किया (देखिये परिशिष्ट १०)। हिंदी पत्रों को इसका कम से कम इतना जबाब तो देना चाहिये। हिन्दी पत्रों को अपने हाथ से अपने गले में मौत का फन्दा न डालना चाहिये।*

हिंदी पत्रों को इससे अधिक करना है। उन्हें हिंदी की वकालत करना चाहिये, हिंदुस्तानी-वाद का विरोध करना चाहिये (इस प्रकार नहीं कि उसका और विज्ञापन हो), हिंदुस्तानी वालों की कारगुज़ारी से, उनके हथकंडों से और कार्यकलाप से हिंदी जनता को परिचित कराना चाहिये, हिंदी जनता को 'हिंदुस्तानी' के ख़तरे से सूचित करना चाहिये, हिंदी की रक्षा में पूर्ण सहयोग देना चाहिये, 'हरिजनसेवक'× और 'नया हिन्द'+ जैसे 'हिन्दुस्तानी' के पत्रों से हिन्दी जनता को सावधान करना चाहिये, और हिन्दी प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की 'हिंदुस्तानी' विषयक नीति का तीव्र विरोध करना चाहिये। आधुनिक युग में प्रेस की बहुत बड़ी शक्ति है। हमें हिंदी प्रेस से पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिये।

हिन्दियो, उठो, जागो, अपनी शक्ति एकत्र करो और हिन्दी की रक्षा में, हिन्दी की सेवा में जुट जाओ। तुम हिंदी माता की उपेक्षा करके एक शताब्दी तक अपमानित हुये, लज्जित हुये और पतन के गर्त में और

---

* यदि अँगरेज़ी पत्रों को कोई ख़राब अँगरेज़ी में लेख या सूचना लिख कर भेजे, तो अँगरेज़ी पत्र तो उसे न छापेंगे, औ यदि छापेंगे तो उसकी भाषा शुद्ध करके छापेंगे। हिन्दी पत्र ही ख़राब हिन्दी, जानबूझ कर ख़राब की हुई हिन्दी अर्थात् 'हिन्दुस्तानी' के लेख, आदि क्यों छापें? हिन्दी पत्रों को भी अपनी भाषा का उतना ही ध्यान रखना चाहिये। चूँकि उस ख़राब हिन्दी के लिखने वाले कोई पं० सुन्दरलाल या डा० ताराचंद हैं, इस कारण वह ग्राह्य थोड़े ही हो जायगी। (देखिये पृष्ठ २६-२७)

× देखिये परिशिष्ट १४।

+ पं० सुन्दरलाल और डा० ताराचंद द्वारा सम्पादित 'हिन्दुस्तानी' का एक नया मासिक (देखिये पृष्ठ १५१)।

गहरे गिरते गये। अब तुम फिर हिंदी नहीं छोड़ सकते, उसकी हिंदुस्तानी नहीं कर सकते। प्राचीन काल में संस्कृत ने तुम्हें सर्वोच्च स्थान पर बैठायाथा, आज तुम हिन्दी को भी विकृत नहीं होने दे सकते। "संस्कृत के स्वर्ग का संचय आज गिरते गिरते तुम्हारी हिंदी की आधार-शिला पर रुका है।" हिंदी, शुद्ध हिंदी तुम्हारी कम से कम आवश्यकता है—तुम शुद्ध हिंदी से कम कुछ स्वीकार नहीं कर सकते। यदि तुमने हिंदी को विकृत होने दिया, तो अन्य प्रान्तों के वासी तो अपनी अपनी शुद्ध संस्कारी भाषाओं से प्रेरणा प्राप्त करेंगे, केवल तुम्हीं एक अभागे होगे। तुम हिंदी की गोद में पलकर बड़े हुये हो, हिंदी के अंचल में तुम्हारे पूर्वजों के वैभव का शृंगार छिपा हुआ है, तुम उसे भुलाकर जीवित नहीं रह सकते। इतना ही नहीं, हिंदी के साथ, उसकी शुद्धता के साथ सम्पूर्ण भारत की, विशेष रूप से सम्पूर्ण हिंदू भारत की संस्कृति जुड़ी हुई है। हिंदी पर हिंदुत्व और हिंदुस्तान का भविष्य निर्भर है। यदि आज कुछ अहिंदी भाई इसे भूल बैठे हैं तो तुम्हें तो न भूलना चाहिये, तुम्हें तो अपने और अपनी भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व का ध्यान रखना चाहिये।

× × ×

हिंदी पर ख़तरा आना चाहता है और वह भी राष्ट्रीयता का जामा पहन कर। ख़तरे की घंटी बज रही है। शिकोहाबाद में युक्तप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का उद्घाटन करते हुये श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने व्यर्थ ही नहीं कहा, "हिंदी ख़तरे में है। वह सहायता के लिये पुकार रही है।" हिन्दी वालो, सावधान!

———

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

हिन्दी की कृतियों में मुसलमान पात्रों का उर्दू में कथोपकथन

(लेखक—श्री शान्तिकुमार एम० एस० सी०)

हिन्दी में कहानियों, उपन्यासों, इत्यादि में मुसलमान पात्रों से उर्दू में बातचीत कराने की एक परिपाटी सी हो गई है। हिन्दी के कितने ही प्रतिष्ठित लेखक ऐसा करते हैं। प्रेमचन्द को जाने दीजिये। आजकल के लेखकों में उदाहरण के लिये राय कृष्णदास के कहानी-संग्रह "आँखों की थाह" की 'नई दुनिया' शीर्षक कहानी को लीजिये। इस कहानी में दो ही पात्र हैं—चिरागी और गजरा। दोनों मुसलमान हैं। कहानी के आरम्भ से लेकर अंत तक उन दोनों का कथोपकथन चलता रहता है। एक प्रकार से यह कथोपकथन ही कहानी का विषय है। लेखक बीच बीच में वर्णन, टीका टिप्पणी, इत्यादि तो शुद्ध हिन्दी में करता है, परन्तु चिरागी और गजरा की बातचीत ठेठ उर्दू में होती है। इस बातचीत में प्रयुक्त शब्दों के कुछ नमूने ये हैं—

"निसार, रहमत, ख़सलत, इज़हार, मुब्तिला, तलब, दोज़खी, मेज़बानी, मिन्नत, ज़हमत, गुमराह, बेखुदी, दयानतदारी, आमालनामा", इत्यादि इत्यादि। चिरागी और गजरा के कथोपकथन को छोड़ कर कहानी में बहुत कम बच रहता है। ऐसी अवस्था में यह सोचने की बात है कि इस कहानी को हिन्दी की कहानियों के संग्रह में क्यों स्थान दिया गया। केवल हिन्दी लिपि में छाप देने से तो कहानी हिन्दी की हो नहीं जायगी। किसी भी पत्र,

पत्रिका या पुस्तक को उठा कर देखिये, जहाँ कहीं भी मुसलमान पात्र आ जाते हैं, वहाँ उनका वार्तालाप प्रायः उर्दू में कराया जाता है। कहीं कहीं तो ऐसा मालूम होता है कि लेखक अपना उर्दू का पांडित्य दिखाने के लिये ही ऐसा कर रहा है, क्योंकि सुगम, मुसलमानों में भी प्रचलित हिन्दी शब्दों के होते हुये भी अरबी फारसी शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है।

इस परिपाटी के बचाव में लेखक ने केवल एक ही उक्ति सुनी है। वह यह कि ऐसा स्वाभाविकता और वास्तविकता (local colour) लाने के लिये किया जाता है। यह उक्ति बिलकुल सारहीन है। इसका मतलब तो यह होगा कि हिन्दी की कृतियों में अँगरेज़ी पात्रों से अँगरेज़ी में बातचीत कराई जाय, चीनी पात्रों से चीनी में, अरबों से अरबी में, या कम से कम हिन्दी में क्रमशः अँगरेज़ी, चीनी, और अरबी के खूब शब्द घुसेड़े जाँय। किन्तु वास्तविकता के ये भक्त ऐसा करते तो नहीं देखे जाते। इन्होंने तो केवल मुसलमानों के लिये ही वास्तविकता रिजर्व कर रक्खी है, मानों सब मुसलमान उर्दू ही बोलते हैं, और कोई हिन्दू उर्दू नहीं बोलता। इस उक्ति का मतलब यह भी होगा कि या तो हिन्दी के पाठक और लेखक दोनों ही संसार भर की भाषाओं के पंडित हों या हिन्दी वाले हिन्दी प्रदेशों और हिन्दी भाषियों को छोड़कर संसार के किसी अन्य देश या जाति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की आशा ही छोड़ दें। कम से कम मुसलमानों को तो तभी लाया जा सकेगा जब हिन्दी के पाठक और लेखक दोनों उर्दू के भी पंडित हों। और, बंगाली हिन्दुओं को भी तभी रक्खा जा सकेगा जब बँगला का पूरा ज्ञान हो, और मद्रासी हिन्दुओं को रखने के लिये तामिल और तेलगू के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। ऐतिहासिक पात्रों से कथोपकथन कराना तो बिलकुल असंभव हो जायगा, क्योंकि अभाग्यवश यह मालूम करने का कोई साधन नहीं है कि ये पात्र उर्दू-ए-मुअल्ला बोलते थे, या खड़ी बोली हिन्दी या कुछ और।

आश्चर्य तो इस बात का है कि इस 'लोकल-कलर' का सबसे अधिक ख्याल हिन्दी वालों को है। आज तक कोई अँगरेज़ी का लेखक अँगरेज़ी की कृतियों में अँगरेज़ी को छोड़कर हिन्दुस्तानी पात्रों से किसी भारतीय भाषा में या चीनियों से चीनी भाषा में बातचीत कराता हुआ देखने में नहीं आया। यही बात संसार की अन्य भाषाओं के विषय में कही जा सकती है। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, उर्दू के लेखक भी ऐसी ग़लती नहीं करते कि हिन्दू पात्रों से हिन्दी में बातचीत करावें। कुछ ऐसे शब्दों की बात दूसरी है जो एक देश विशेष अथवा जाति विशेष से ही सम्बन्ध रखते हैं और किसी विशेष गुण या वस्तु को जताने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं और जिनका उनकी ध्वनि नष्ट किये बिना सरलता से अनुवाद नहीं हो सकता। ऐसे शब्दों का अर्थ प्रायः कोष्ठकों में या पाद-टिप्पणियों में स्पष्ट कर दिया जाता है, और अँगरेज़ी में प्रायः ऐसे शब्दों को इटैलिक्स (italics) में यह जताने के लिये लिखा जाता है कि ये विदेशी शब्द हैं, और किसी विशेष कारण से ही प्रयुक्त किये गये हैं। लेकिन हिन्दी की कृतियों में मुसलमानों की बातचीत उर्दू में बेखटके और बेरोकटोक कराई जाती है, और उर्दू शब्दों के अर्थ को भी स्पष्ट नहीं किया जाता, बल्कि यह समझा जाता है कि यह तो हिन्दी ही है और हिन्दी-पाठक इसे समझते ही होंगे, और यह लेखक की मेहरबानी है कि उसने आदि से अन्त तक सब जगह ऐसी हिन्दी नहीं लिखी !

इस सम्बन्ध में दो एक बातें और विचारणीय हैं। 'नई दुनिया' शीर्षक कहानी में चिराग़ी और गजरा समाज की बहुत ही निम्न श्रेणी के व्यक्ति हैं। इन निम्न श्रेणियों में शुद्ध, साहित्यिक, खड़ी बोली उर्दू नहीं बोली जाती, फिर इनका साहित्यिक उर्दू में बोलना ही कहाँ तक स्वाभाविक है और कहाँ तक वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है? ये दोनों व्यक्ति बनारस के रहनेवाले दिखाये गये हैं। तो क्या इनसे पूर्वी या किसी और देहाती बोली में बुलवाना कहीं

ज्यादा स्वाभाविक न होता ? खड़ी बोली बोली ही कितने क्षेत्र में जाती है ? यदि 'लोकल कलर' देने के यही माने हैं कि पात्र वास्तविक भाषा में बोले तो खड़ी बोली के प्रदेश के बाहर के सब पात्रों का कथोपकथन खड़ी बोली में न होकर देहाती बोलियों में होना चाहिये। ऐसा क्यों नहीं किया जाता ? अप्रैल, १९४४ की 'माधुरी' में श्रीयुत शैल लिखित एक कहानी 'मिलन' छपी है। इस कहानी के पात्र युनिवर्सिटी के तीन छात्र सुरेश, जमीला और रफ़ीक हैं। जमीला और रफ़ीक की बातें ठेठ उर्दू में होती हैं। युनिवर्सिटी के छात्र कहीं ठेठ उर्दू या ठेठ हिन्दी में बात करते नहीं देखे जाते। इनके कथोपकथन में तो 'लोकल कलर' तब होता जब श्रीयुत शैलजी इनसे बातचीत आधी अँगरेज़ी आधी हिन्दी यानी 'इङ्गलिस्तानी' नामक भाषा में कराते। आजकल के शिक्षित वर्ग की तो यही भाषा है।

यह तर्क भी कि उर्दू हिन्दी की एक शैली विशेष ही है और इसलिये हिन्दी की कृतियों में मुसलमान पात्रों से उर्दू का प्रयोग कराना क्षम्य है, कुछ माने नहीं रखता। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से चाहे यह ठीक हो, परन्तु व्यवहार में आज उर्दू हिन्दी की शैली विशेष नहीं कही जा सकती। एक भाषा की दो शैलियाँ संसार के किसी देश में दो लिपियों में नहीं लिखी जातीं और न उनकी आपस में गुटबन्दी होती है, न उनके लेखक अलग-अलग होते हैं और न उनकी पढ़ाई की व्यवस्था अलग-अलग होती है, और न ऐसा होता है कि जो पाठक भाषा की एक शैली समझ सकता हो वह कोई दूसरी शैली न समझे। आज हिन्दी और उर्दू में तो इतना अन्तर है (लिपि-भेद तथा कुछ अन्य छोटी बातों को छोड़कर भी) कि क्रियाओं, क्रिया-विशेषणों, विभक्तियों तथा थोड़े से अन्य शब्दों को छोड़कर हिन्दी और उर्दू की शब्दावलियाँ बिलकुल भिन्न हैं। एक भाषा की दो शैलियों में कहीं ऐसा अन्तर नहीं होता, और न दो शैलियों में इस प्रकार धर्म की भित्ति पर भेद किया जाता है। मुसलमानों से उर्दू और हिन्दुओं से हिन्दी बुलवाने

के माने तो यही हैं कि ये दो शैलियाँ दो धर्मों के अनुयायियों के लिये रिज़र्व हैं, और हम सहमत है कि हिन्दी केवल हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की, और हिन्दी के पाठक तथा लेखक हिन्दी और उर्दू दोनों जानते और समझते हैं।

एक विकट कठिनाई और है। अगर एक हिन्दू पात्र की मुसलमान पात्र से बातचीत कराना पड़े तो किस भाषा में कराई जाय ? अगर हिन्दू पात्र हिन्दी में बोले और मुसलमान पात्र उर्दू में जवाब दे तब तो अत्यन्त हास्यास्पद होगा। पढ़ने वाले या सुनने वाले को अत्यन्त भद्दा भी लगेगा। दुनिया भर में सब जगह दो मनुष्य एक ही भाषा में बात करते हैं और एक ही शब्दावली प्रयुक्त करते हैं। भाषा है ही आपस में भाव प्रकट करने के माध्यम का नाम। यदि यही माध्यम दो व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न है, तो उनकी आपस में बातचीत कैसी ? गलत सिद्धान्त पर चलने से यह कठिनाई अवश्य पड़ेगी। इस सिद्धान्त को माननेवाले कुछ लेखकों ने इस कठिनाई को ऐसे अवसरों पर हिन्दू पात्र और मुसलमान पात्र दोनों से उर्दू बुलवा कर हल किया है ! 'मिलन' कहानी में सुरेश जमीला या रफीक से उर्दू में बात करता है। इसके माने यह हुये कि हिन्दू जब आपस में बात करें तब तो हिन्दी में, लेकिन जब मुसलमानों से बात करें तब उर्दू में, और मुसलमान आपस में भी उर्दू में बात करें, अर्थात् उर्दू ही राष्ट्र-भाषा या कामन भाषा है क्योंकि इसे हिन्दू भी बोल सकते हैं, मुसलमान तो बोलते ही हैं और हिन्दी को मुसलमान बोल नहीं सकते ! ऐसी दशा में राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर हिन्दी उर्दू को लेकर हाय तोबा मचाना व्यर्थ है, क्योंकि हिन्दी उर्दू एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं जिनमें से उर्दू शैली हिन्दू मुसलमान दोनों ही समझते हैं ! आश्चर्य तो यह है कि फिर भी हिन्दी उर्दू का अलग-अलग ढोल पीटा जाता है, यू० पी० शिक्षा-विभाग द्वारा लड़कियों के लिये उर्दू अनिवार्य रूप से द्वितीय भाषा बनाये जाने पर हिन्दी पत्रों में बवंडर उठाया

जाता है, और महासभा डेढ़ हज़ार वालंटियर उर्दू का विरोध करने के लिये जयपुर भेजती है।

हिन्दी के ऐतिहासिक लेखों तथा पुस्तकों में भी यही बात देखने में आती है। हिन्दू या भारतीय पात्र तो हिन्दी में बोलते हैं लेकिन सब विदेशी पात्र, वे चाहे यूनानी हों, चाहे हूण चाहे अँगरेज़, उर्दू में बोलते हैं। उदाहरण-स्वरूप श्रीशुकदेवबिहारी मिश्र कृत 'पुष्य मित्र' का नाम लेना काफ़ी होगा। ऐसे लेखों तथा पुस्तकों में भी जब हिन्दू या भारतीय पात्र किसी विदेशी पात्र से बात करता है तो दोनों उर्दू में बोलते हैं। यह भी भुला दिया जाता है कि सदैव विजित विजेता की भाषा अपनाता है, विजेता विजित की नहीं। हिन्दी में तो ऐसा अन्धेर है कि जब यूनानी सेनापति सेल्यूकस चन्द्रगुप्त के दर्बार में पकड़ कर लाया जाता है तब चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस का संवाद उर्दू में होता है—दोनों उर्दू बोलते हैं। हद हो गई! सारांश यह कि हिन्दी के ऐतिहासिक विषयों (मुसलमान पात्रों से रहित अथवा सहित) पर लिखने के लिये और उन्हें समझने के लिये भी हिन्दी के लेखकों तथा पाठकों को उर्दू का पंडित होना आवश्यक है। ये सब बातें करके हिन्दी वाले सबके सामने अपनी मूर्खता तो प्रकट करते ही हैं, अपने मुँह से हिन्दी के मुक़ाबले उर्दू को महानता देते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी तो केवल हिन्दू भारतीयों की भाषा है, उर्दू दुनिया भर के सब विदेशियों की भाषा है, और भारतीयों तथा विदेशियों की 'कामन भाषा' भी है (जिसे हिन्दी के सब पाठक और लेखक सदैव जानते और समझते रहे हैं और अब भी जानते और समझते हैं!)।

मैं समझता हूँ कि जिन कारणों का ऊपर निर्देश किया गया है, वे यह दिखलाने के लिये पर्याप्त हैं कि हिन्दी कृतियों में मुसलमान या विदेशी पात्रों से आपस में, या हिन्दुओं और मुसलमानों, अथवा भारतीयों और विदेशियों के बीच में उर्दू में वार्तालाप कराना बिलकुल अनुचित, मूर्खता-

पूर्ण और संसार की सभी भाषाओं के नियमों के विरुद्ध है। भाषा विचारों को प्रकट करने का एक साधन है, और भाषा यह तभी कर सकती है जब उसका एक प्रचलित, सर्वमान्य और निश्चित स्वरूप हो। जब हम किसी भाषा में अपने विचार प्रकट करने बैठते हैं तो हम काल के अनुसार या व्यक्ति के अनुसार भाषा नहीं बदलते चल सकते। बात चाहे आज की हो, चाहे हज़ार वर्ष पहले की, व्यक्ति चाहे किसी भी देश, जाति या धर्म का हो, भाषा का स्वरूप वही रहता है। फिर हिन्दी में ही मुसलमानों से या विदेशियों से उर्दू में कथोपकथन क्यों कराये जाते हैं? आशा है विद्वान लेखक इस ओर ध्यान देंगे, और हिन्दी को इस दोष से बचायँगे। कम से कम पत्रों के सम्पादक यह कर सकते हैं कि इस दोष से दूषित लेखों को लौटाने का कारण बताते हुये वापस कर दें, या उनके उर्दू संवादों को हिन्दी में अनुवाद करके छापें।

(सितम्बर, १९४५ की 'माधुरी' से)

परिशिष्ट २

THE 'VERNACULAR' OF UNITED PROVINCES

(*By Ravi Shankar Shukla*)

The Government of the United Provinces has reminded its subordinates of the order that the use of the obnoxious term 'vernacular' should be abandoned. So far so good. But what is the 'vernacular' of the U. P., i.e., which name is to take the place of the term 'vernacular' when applied to the language of this province ? The Government has suggested the name 'Hindustani'. But 'Hindustani' is not the vernacular or the mass language of the U.P. The vernacular or the mass language of this province can only be called by the name 'Hindi'—a name which Muslims gave to it many centuries ago and which has superseded its old name 'Bhasha' or 'Bhakha'. Hindustani, also called by the names 'Dehlavi' and 'Khariboli', is a dialect of Western Hindi and is spoken in the Upper Gangetic Doab. Hindustani is thus the vernacular or mass language of only a few districts round Delhi. In other districts of the U. P., various dialects of Western Hindi like Braj, Bundeli, Kanauji and Eastern Hindi, Avadhi or Kosali, are spoken. The vernacular or the mass language of the province is therefore Hindi. Any linguist will say that. In the Language Survey of India the language of this province has

been identified as Western and Eastern Hindi and these terms have since been consistently used in the census reports for the indigenous mass language of this province. It is indeed preposterous to call the vernacular of this province by the name 'Hindustani', the name of a single spoken dialect of the U. P. and itself a dialect of Hindi.

URDU NOT INDEPENDENT LANGUAGE

As for Urdu, it is only a literary form of Khariboli Hindi. It is not an independent language and cannot be said to be the mass language of any district. The name 'Urdu' does not appear anywhere on the language map of India. At the most it can claim as its own the Khariboli Hindi districts, and there too it will have to share its place with High Hindi, i.e., modern literary Khariboli Hindi. Speakers of Hindustani or Khariboli can indeed be found all over the province, specially in the towns and cities, but so can also the speakers of other dialects of Hindi. It is only a consequence of the modern means of communication and economic forces. In our polygot towns speakers of even extra-provincial languages like Bengali, Punjabi, English, etc., can also be found. All this does not alter the mass language or the vernacular of any place. Hindustani is the mother tongue or home language, i.e., the vernacular of very few families outside Khariboli districts. No doubt High Hindi and Urdu are used as literary languages for purposes of education, public life and administration all over the province, but this fact has nothing to do with the mass language or the vernacular of the province. English

also is used as a literary language for purposes of education, public life and administration all over the province. The Bengàli, Marathi and Punjabi communities residing in the province use their own literary languages for many of their purposes. High Hindi and Urdu are used as literary languages for many purposes even in such provinces as Bombay, Punjab, Bengal, etc., where they cannot be described as vernaculars of the area by any stretch of the imagination. High Hindi and Urdu are exclusively used as literary languages for purposes of education, public life and administration in Bihar, C. P. and Rajasthan, but it will be preposterous to call the vernacular of Bihar, C. P. or of Rajasthan by the name 'Hindustani'. A literary language in use at any place does not necessarily become the vernacular of that place. In the context of literary languages in the U.P., the fact that has, however, to be noted is that several spoken dialects of Hindi, notably Braj and Avadhi, have led centuries of rich literary existence and possess very considerable literatures of great beauty and richness. All these literatures have very close affinities in respect of culture, construction and vocabulary with modern Hindi literature, i.e., High Hindi literature, and not with Urdu literature. These literatures in fact have the same affinities and likenesses with modern Hindi literature as the literature of a dialect is bound to have with the literature of another dialect of the same language, and they are part and parcel of 'Hindi' literature and not of Urdu literature or of any 'Hindustani' literature. Similarly, folk literature of

this province in the various dialects bears close affinities with modern Hindi literature and is a part and parcel of 'Hindi' literature and not of Urdu literature or of any 'Hindustani' literature.

HIND AND HINDUSTAN

All the provinces or, more correctly, territorial divisions of India with the exception of U.P., C.P. and N. W. F. P. have got their distinctive names which signify the spoken, indigenous mass language or 'vernacular' of the area as also the indigenous people inhabiting the area. For the Madras province has been recognised, particularly by the Congress, as consisting of Andhra, i. e. the Telegu speaking part, Tamil Nad i. e., the Tamil speaking part and Carnatic i. e., the Kannada speaking part. Bombay province is similarly regarded as consisting of Gujarat i. e., the Gujarati speaking part and Maharashtra i. e., the Marathi speaking part. Even in C. P., thanks to the efforts of Pt. Dwarka Prasad Misra, a Minister in the present as well as in the last Congress Ministry of C. P., the old name of the Hindi speaking part, viz, Mahakoshal (Koshali or Eastern Hindi is the mass language of the Hindi speaking C. P.) has been officially recognised. The Marathi speaking part of the C. P. is, linguistically speaking, a part of Maharashtra. 'N. W. F. P.' is more a political phrase than a name, and is bound to be appropriately renamed soon. So the U. P. is the only province which has no name signifying the distinctive language, culture and the people of the province. During the previous Congress regime the name 'Hind' was

proposed for this province (whether officially or non-officially I cannot say). This name is not only most appropriate but has actually been in use to a greater or lesser extent since the old name, Madhyadesha, of this part of India fell into disuse. The vernacular of the province is Hindi; the name of the province will be 'Hind', and its people will be known as 'Hindis'—so it is all right. The same cannot be said for 'Hindustani', for 'Hindustan' is to-day in much greater use than 'Hind' for the whole of India; the name 'Hindustani' is sought to be applied to the language of Hindustan, i. e., to the *lingua franca* of India (whatever shape it might ultimately take) rather than to the language of any particular province, and surely the people of the U. P. cannot reserve the name 'Hindustanis' for themselves. The name 'Hindi' alone can and does signify the distinctive language, culture and the people of this province.

EVERYTHING IN A NAME

There is one more reason why the term 'Hindustani' must not be used for the language of this province. Some might be inclined to ask: What is there in a name? But often there is everything in a name, as in this case. To-day the term 'Hindustani' is the subject of a great controversy which is more political than linguistic in nature. This term is sometimes applied to High Hindi, sometimes to Urdu, sometimes to High Hindi plus Urdu (as, for example, by the Hindustani Academy, U. P. and the Lucknow University), and now it is increasingly sought to be applied to a curious (or political) mixture of Hindi and Urdu,

the veritable 'third stream', being evolved by some bodies. The vernacular of this province has never been, is not and can never be so ambiguous, dual, and shifty as the name 'Hindustani' would imply. The name of the vernacular of the U. P. cannot be made the subject of a controversy, as it is not controversial. It is quite definite. It is 'Hindi'. The result of the substitution of the true name 'Hindi' by the name 'Hindustani' would be that the artificial mixture of Hindi and Urdu (and possibly of other Indian languages) called 'Hindustani', which is being made to suit various tastes—the tastes of the different provinces and of the different communities—so as to be acceptable as lingua Indica to the 400 millions of India speaking widely different languages, will automatically be thrust upon this province as the 'vernacular', *the* language of the province, and will be used, in the name of 'unity' and so forth, as the language of education and administration of the province, so that the real vernacular of the province Hindi, as also Urdu, will greatly suffer and may even be swamped by 'Hindustani'.

WHAT OF HINDI ?

Hindi is the indigenous language, the vernacular, of U. P. and U. P. alone (barring a part of C. P. and of Punjab). When U. P. will be described as 'Hindustani speaking area' (as has already been started in certain so called nationalist contexts; to make confusion worse confounded, even Bihar and C. P. are often included in this 'Hindustani speaking area'), which province, which region of India will be des-

cribed as 'Hindi speaking'? When the people of U. P. will be described as 'Hindustani speaking', who in India will be described as 'Hindi speaking'? Will a language as old as Hindi disappear overnight by a mere stroke of the pen of the U. P. Government? Will the territory that has so long been marked 'Hindi' in the language map of India be now marked 'Hindustani', and Hindi, of all Indian languages, become conspicuous by absence after having been there for the past so many centuries? It is a pity that while the Marathi speaking people of India are holding Maharashtra Unity Conferences with a view to unite together the Marathi speaking parts, and are giving a mandate to the Marathi speaking members of the Constituent Assembly to work for an united Maharashtra, the Hindi speaking Ministers of the U. P. Government should think of effacing Hindi from Hind whose undisputed vernacular it has been for the past thousand years. One might have rather thought that they would convene a Hind Unity Conference to agitate for cession of the Hindi speaking parts of the Punjab and C. P. to U. P. But strange things happen in this province where everybody, from Congress Ministers downwards, seems to view everything through a haze of politics-cum-communalism.

UNITY THROUGH HINDI

It must be made absolutely clear that there is no intention to harm the interests of Urdu in U. P. Urdu is a form of Hindi, and the U. P. Government is at liberty to allow those in U. P. who want Urdu and its script to cultivate Urdu and to give facilities for

the teaching of Urdu. It may even grant the same facilities to other language groups in the province, but let the vernacular of the province remain what it is, i. e. Hindi. Truth must not be sacrificed. Urdu or Hindustani is certainly not the vernacular of this province. A time may come when those who want Urdu and its script to-day may take kindly to the vernacular of this province, i. e., their real mother tongue, and to its natural script, thus ushering in the era of complete linguistic unity in this province; just as in the Punjab where Urdu too is medium of instruction, language of administration, etc., a time may come when adherents of Urdu, despite late Sir Sikandar Hayat Khan's frantic declaration regarding Urdu being the 'national language of Punjab', may take kindly to and adopt Punjabi, their mother tongue and the vernacular of Punjab, provided that Punjab remains 'Punjab' and Punjabi is not renamed 'Hindustani' or something like that. Thus 'Hindi' has got seeds of unity in it. But 'Hindustani', besides being an untruth, will, with its shifty and shifting meaning and its concomitant, the 'two scripts' clause, never allow this province to be one in the matter of language and script, will be a permanent obstacle on the way of progress and thus defeat the very purpose for which this untruth is (probably) sought to be imposed on this province. We appeal to the Congress that plumes itself in truth to do away with this palpable untruth, which seems to be inspired by political opportunism but which has infinite potentialities for permanent wrong-doing and injustice. It must give up its attempt to give a habitation to its concoction 'Hindustani' at the cost of

Hindi. It must desist from dealing a death blow to the existence of Hindi even as a provincial language in its mad desire to appease reactionaries and communalists, if it attaches any importance to the solemn pledges given in its election manifesto regarding the protection of the language and culture of every linguistic group and of every linguistic area. No Government, popular or unpopular, Congress or non-Congress, has a right to alter the old name of the vernacular of this province, specially when the new name suggested for it has already a definite meaning, denotes a definite and a mere spoken dialect of the province and has unfortunately gathered and is gathering about it new associations which are not only unpleasant but positively dangerous to the unity and welfare of the province.

APPEAL TO HINDIS

Lovers of the language and culture of this province, the various literary and cultural institutions of the province, specially the premier literary institution of the province, the All India Hindi Sahitya Sammelan, the Hindi speaking people generally, specially those who have been returned to the provincial Assembly by the votes of the masses, who know no 'Hindustani', nothing, except their rustic Hindi, are requested to take up the matter with the Government, and to see that the vernacular of this province is called by its proper name Hindi in official papers, correspondence, census reports and other official publications, etc.. The mischief must be nipped in the bud. It will be a poor consolation if this hated term 'vernacular' is

replaced by the controversial, wrong, misleading and dangerous term 'Hindustani', wiping Hindi off the language map of India. Agitation should also be started for securing official recognition for the name 'Hind' for this province in the place of 'United Provinces' which is no name at all. Unofficial bodies and nationalist newspapers should invariably refer to the vernacular of this province by the name 'Hindi', and they should also start using the name 'Hind' for U.P. without waiting for its official recognition.

परिशिष्ट ३

हम हिन्दी वाले !

(लेखक—श्रीमदनगोपाल मिश्र)

ब्रिटिश सरकार और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दोनों का ही यह घोषित सिद्धांत रहा है कि उनके प्रभुत्व में प्रत्येक भारतीय जन-समुदाय की भाषा सुरक्षित रहेगी। लेकिन इधर कुछ समय से ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी, जो हमारे देश की सबसे बड़ी जन-संख्या की भाषा है और जो प्रत्येक दृष्टिकोण से निष्पक्ष विचार करने पर राष्ट्र-भाषा बनने के योग्य एक मात्र भाषा सिद्ध होती है, इस सिद्धांत का अपवाद हो गई है। इधर लगभग दस वर्षों से हिन्दी पर अनेक कठोर प्रहार हुये हैं। सीमा-प्रदेश, पंजाब, काश्मीर, सिन्ध और हैदराबाद में हिन्दी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ है, वह पाठकों को विदित ही होगा। लेकिन हिन्दी पर इधर जो सबसे भयानक आक्रमण हो रहा है वह है 'ऑल इंडिया रेडियो' का। 'हिन्दुस्तानी' शब्द की ढाल की आड़ में वह हिन्दी की हस्ती तक को संसार की आँखों के सामने से मिटा देना चाहता है। हिन्दीवालों की ओर से आल इंडिया रेडियो की इस नीति का विरोध हुआ, यहाँ तक कि पंडित रविशंकर शुक्ल ने जहाँ एक ओर 'लैंग्वेज पालिसी आफ आल इंडिया रेडियो' नामक पुस्तक लिख कर आल इंडिया रेडियो की धींगा-धींगी पर से परदा उठाया, वहाँ दूसरी ओर 'राष्ट्र-भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी आन्दोलन' नामक पुस्तक लिख

कर बड़े बड़े भारतीय नेताओं और विद्वानों तक को भ्रांति में डाल देनेवाले 'हिन्दुस्तानी' शब्द के छद्म रूप का भण्डाफोड़ किया, लेकिन आल इंडिया रेडियो की नीति अब भी जहाँ की तहाँ है—उसके अधिकारियों ने हिन्दी-भाषा को बहिष्कृत करने का बीड़ा सा उठा लिया है। हिन्दुस्तानी के जाल में फँसे हुए लोग अभी स्वतंत्र हुये हैं कि नहीं, यह हमें अभी देखना है। उससे मुक्त होने का सबसे अच्छा उपाय है कि वे पण्डित रविशंकरजी की पुस्तकों को पढ़ लें। मैं तो प्रत्येक हिन्दी प्रेमी और देश-भक्त का यह कर्तव्य समझता हूँ कि वह इन पुस्तकों को पढ़े और हिन्दुस्तानी के धोखे से शीघ्र से शीघ्र सावधान हो जाय।

परन्तु, क्या हम हिन्दीवालों ने कभी यह भी सोचा है कि हमारी भाषा पर होनेवाले इन अत्याचारों के लिये स्वयं हमारा उत्तरदायित्व कहाँ तक है ? हमारे किन अपराधों और हमारी किन त्रुटियों और निर्बलताओं के कारण हिन्दी इस अपमानित स्थिति में आ पड़ी है ? हमने हिन्दी का मस्तक ऊँचा करने के लिये अभी तक क्या किया है ? इन प्रश्नों का उत्तर हिन्दी प्रदेशों के केंद्र संयुक्त-प्रान्त पर ही नज़र डालने से मिल जायगा—

(१) पाँच प्रचलित अँगरेज़ी के समाचार-पत्र—लेकिन क्या इनमें से किसी का भी सम्पादक हिन्दी की गोद में तुतलाया और पला हुआ व्यक्ति है ? यदि होता तो आल इंडिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति एक पग भी आगे न बढ़ सकती। इनमें से किस समाचार-पत्र ने किसी हिन्दी-विरोधी नीति के विरुद्ध आन्दोलन किया है ? यह विश्वास करने को मेरा जी नहीं चाहता कि अब तक अँगरेज़ी समाचार-पत्रों के सम्पादन की योग्यता रखनेवाला कोई हिन्दी का लाड़ला पैदा ही नहीं हुआ।

(२) हमारे प्रांत के सबसे बड़े जगद्विख्यात नेता को हमारी प्रमुख प्रान्तीय भाषा हिन्दी के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं—शायद वह टूटी फूटी ही हिन्दी लिख सकता हो। और उसकी इस उदासीनता ने हमारे अन्य

प्रान्तीय नेताओं को अपनी भाषा के प्रति कहाँ तक उदासीन न बना दिया होगा ? फिर हिन्दी को क्यों न ठोकरें लगाई जायँ ?

(३) हमारी कचहरियों और पुलीस के विभागों में हिन्दी पढ़े-लिखे वकील और अफ़सर अपनी और जनता की भाषा को छोड़कर एक ऐसी भाषा को निस्संकोच अपना लेते हैं जिसे सुनकर किसी भी साधारण नागरिक को आश्चर्य हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'प्रथम', 'द्वितीय' और 'तृतीय' तो दूर रहे, 'पहले', 'दूसरे' और 'तीसरे' के स्थान पर जब तक वे 'अव्वल', 'दोयम' और 'सोयम' नहीं लिख लेते, उन्हें चैन नहीं पड़ता—कितना करुण दृश्य !

(४) हमारे प्रान्त के सबसे बड़े बैरिस्टर, जो अपनी योग्यता के लिये इसी प्रान्त में नहीं, सारे भारतवर्ष में और लन्दन में भी विख्यात हैं, एक बार एक महाशय से एक सभा में, जिसके वे सभापति थे, 'सभापति' शब्द से सम्बोधित किये जाने पर बेतरह बिगड़ उठे थे ! संस्कृत और हिन्दी उनके लिये कितनी असहनीय है ! प्रान्त की जनता की भाषा के प्रति उनका यह व्यवहार ! इस प्रान्त के एक दूसरे नेता और ऐडवोकेट गान्धीजी के शब्दों में हिन्दी कठिनता से लिख सकते हैं। तो फिर हिन्दी का तिरस्कार क्यों न हो ? यद्यपि हम गांधीजी को यह सूचित कर देना चाहते हैं कि हमारे बाप-दादों ने प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रभाव में भले ही हिन्दी न पढ़ी हो, परन्तु उनके बच्चे अपने जीवन और देश से सामंजस्य रखने वाली हिन्दी ही पढ़ते हैं और पढ़ेंगे। चारों ओर से हिन्दी पर किये जाने वाले प्रहार उनकी आँखें और भी खोल देंगे।

(५) भारतवर्ष में सिनेमा-कम्पनियाँ एक बड़ी संख्या में खुल गई हैं, लेकिन हिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी वालों द्वारा कोई कम्पनी क्या अभी तक खुली है ? यदि नहीं, तो क्यों ? और यही कारण है कि हिन्दी की आत्मा की पूर्णतः रक्षा करने वाले चित्र बहुत कम बने हैं, यद्यपि सबसे उत्कृष्ट चित्र वे ही

समझे गये हैं जिनमें इस रक्षा का ध्यान रक्खा गया है। ग्रामोफोनरिकार्ड-कम्पनियों के साथ भी यही बात लागू है।

(६) हमारे प्रान्त के बड़े-बड़े शहरों में सिनेमा-भवनों के मालिक शायद ही कोई हिन्दी वाले मिलें। सिनेमा के पोस्टरों, आदि की भाषा अथवा उनमें किया जाने वाला हिन्दी का तिरस्कार हमें बराबर इसी बात का स्मरण दिलाते हैं। इस तिरस्कार की ओर हम टुकुर-टुकुर देखते हैं—उसका विरोध करने का भी बल हममें नहीं रह गया है।

(७) इस प्रान्त की शिक्षा-संस्थाओं तथा अन्य विभागों में हमारे अन्य प्रान्तीय भाई विभिन्न पदों पर एक बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। इनमें से कुछ ने हिन्दी की बहुमूल्य सेवा की है और अब भी कर रहे हैं, इस बात का हमें गर्व है। हिन्दी अब हमारी ही नहीं, प्रत्येक सच्चे भारतीय की है, और फिर उन व्यक्तियों के, जिनकी भाषा हिन्दी की ही सगी बहिन हो और जो हिन्दी प्रान्तों में जीवकोपार्जन करते हों, हिंदी के प्रति अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से विशेष कर्त्तव्य हैं—(१) हिन्दी पर संकट का अर्थ है संस्कृत पर घोर संकट, फिर क्या संस्कृत की पुत्रियाँ—हिन्दी की अन्य बहनें—उससे बच सकती हैं ? (२) हिन्दी प्रान्त में, हिन्दी वालों के बीच, उन्हीं के निमित्त, और उन्हीं के सहयोग से रह कर उनका यह धर्म हो जाता है कि वे अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी को भी अपनायें। (३) केवल यही नहीं, भारतीयता के नाते उनका यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वे हिन्दी के सन्देश को अपने अपने प्रान्तों में पहुँचायें और उसके प्रति जनमत को जाग्रत करें। हमें खेद है, उनमें से बहुतों का पूर्ण सहयोग हिन्दी को प्राप्त नहीं है, बहुत से उसके प्रति उदासीन हैं, कुछ उससे स्पर्धा भी रखते हैं, यहाँ तक कि कुछ हिन्दी वालों को ही हिन्दी के प्रति निरुत्साहित करने में भी संकोच नहीं करते। हिन्दी वालों का कर्त्तव्य है कि वे अपने इन पथ-भ्रष्ट भाइयों को रास्ते पर लावें, और उन्हें हिन्दी के सन्देश की सत्यता में विश्वास

दिलावें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उन्हीं का अपराध है। अन्य प्रान्तों की कोई भी भाषा अपने ही घर में इस प्रकार की अपमानित परिस्थिति में नहीं है। घर फूँक तमाशा देखने की नीति हिन्दी वालों को ही सह्य हो सकती है, औरों को नहीं।

(८) इस प्रान्त के अनेक ईसाइयों और अँग्रेज़ों की शिक्षा-संस्थाओं में केवल उर्दू ही पढ़ाई जाती है, हिन्दी को उनमें स्थान नहीं। फिर भी हिन्दी वाले अपने बच्चों को उनमें पढ़ाते हैं, बिना इस बात का आन्दोलन किये हुये कि वहाँ हिन्दी पढ़ाने का भी प्रबन्ध होना चाहिये। इस प्रकार हिन्दी वालों के ही बच्चे अपनी मातृ-भाषा और अपनी संस्कृति से वंचित हो जाते हैं। आगे चलकर इन्हीं बच्चों के कर्मों पर मैंने उनके माता-पिताओं को झींकते हुये भी देखा है—परन्तु अपराध किनका ?

अब कुछ आँखों देखे दृश्यों पर भी विचार कीजिये—

(१) जनता की सरकार के समय की संयुक्त-प्रान्तीय असेम्बली के अधिवेशन का एक बैठक। एक सदस्य जी उठे, हिन्दी में बोलना चाहा, हिन्दी के विरोधियों ने आपत्ति की और उनकी भाषा बिगड़ गई। एक हिन्दी वाले ही 'पार्लामेंटरी' सचिव उठे और उन्होंने बड़े जोश के साथ फारसी से लदा हुआ एक ऐसा भाषण दे डाला कि अधिकतर श्रोता मुँह बाए ही रह गये। हिन्दी के विरोधी तो अपनी भाषा में बोले ही—किसका साहस था कि चूँ कर जाय। उनके हिन्दी के विरोध का शायद सम्मान हुआ, और यदि कोई हिन्दी वाला आपत्ति कर देता तो उसी क्षण उस पर शायद साम्प्रदायिकता, अराष्ट्रीयता, आदि के अपराध लगा दिये जाते। उर्दू तो ठीक, अंगरेज़ी तो भी ठीक, और हिन्दी तो राम राम !—क्या खूब !!

(२) साक्षरता-दिवस (कांग्रेस सरकार के समय में)—एक पार्क में एकत्र नगर की सारी शिक्षा संस्थाओं के विद्यार्थी। अधिकतर हिन्दी वाले।

कुछ मुसलमान सज्जनों ने भाषण दिये—उर्दू में, ठीक है ऐसा तो होता ही। अब उठे एक एक करके हमारे दो नेता—दोनों हिन्दी के यशस्वी विद्वान् और लेखक। कुछ मनचले साहसी छोकरों ने आवाज़ लगाई 'उर्दू, उर्दू'—और यह लीजिये उर्दू। फिर क्या था, वे छोकरे विजय से फूल गए और हिन्दी वाले विद्यार्थी मुँह बाये, मुँह ताकते रह गये। हमने मौलाना अबुलकलाम आजाद, श्री रफी अहमद किदवई, आदि किसी भारतीय मुस्लिम नेता को हिन्दी में लिखते-बोलते न देखा है और न सुना है। क्यो? क्योंकि उर्दू अपने नाम से अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से उर्दू ही रहना चाहती है, हिन्दी अपने को चाहे नष्ट कर डाले।

(३) लखनऊ की बड़ी प्रदर्शिनी (१६३६)—एक पंडाल के नीचे 'हिन्दुस्तानी ऐकेडमी' की एक बैठक में हिन्दुस्तानी की समस्या हल हो रही थी। जा बैठा। देखता क्या हूँ कि 'आमफ़हम ज़ुबान' हिन्दुस्तानी का ही समर्थन करते हुए उर्दू वाले बड़े जोश खरोश से फारसी बूँक रहे थे—और ढिलमिल हिन्दी वाले भी, जिनमें हिन्दी के कुछ दिग्गज विद्वान भी थे, (कदाचित तकल्लुफ में आकर) उर्दू में ही भाषण देने का प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दुस्तानी तो कुछ थी ही नहीं, हिन्दी भी न रही, रह गई केवल कोरी उर्दू—न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। उठा, और इन हिन्दी वालों से कुछ कुपित, कुछ निराश, कुछ इन पर हँसता और कुछ इन अशुभ लक्षणों से हिन्दी पर आगे आने वाले संकट का अनुमान करता अपने घर चल दिया।

सारांश यह कि जब तक हिन्दी वाले स्वयं अपने ही इन अपराधों से मुक्त न होंगे, तब तक हिन्दी-माता अपने ऊपर दूसरों द्वारा किए हुये अत्याचारों पर कम रोवेगी, अपने ही पूतों की निष्क्रियता और कर्त्तव्यहीनता पर सिर पटकती रहेगी। यदि उसके ही बेटे ऐसे न होते तो कैसे कोई उसका अपमान कर सकता? अभी बहुत देर नहीं हुई है—क्या हम अपने

हिन्दी वाले भाइयों और भारत-भक्तों से आशा करें कि वे अपनी मातृ-भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा का मस्तक ऊँचा उठाने में अपना तन, मन, धन अर्पित कर देंगे !

(मई, १६४६ की 'सरस्वती' से)

परिशिष्ट ४

वर्धा की हिन्दुस्तानी

(लेखक—श्रीभूदेव विद्यालंकार)

हिन्दी की राष्ट्रीयता पर इस समय दो ओर से प्रबल आक्रमण हो रहे हैं। एक आक्रमण बाहर की ओर से हो रहा है, और उस समुदाय की ओर से होरहा है जो हिंदू संस्कृति, हिंदू सभ्यता तथा हिंदू आचार-विचार का विद्वेषी है और जिसे हिंदुओं की उन्नति फूटी आँखों भी नहीं सुहाती है। इस आक्रमण का करनेवाला ऐंग्लो-मुस्लिम सरकारी गुट्ट है जिसकी एक शाखा केन्द्रीय भारत सरकार का सूचना तथा प्रचार विभाग है। इसके सर्वेसर्वा वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य सर अकबर हैदरी हैं। इनसे पहले सर सुलतान अहमद थे। यह विभाग अपने लेखों, तथा प्रचार के सर्वाधिक शक्तिशाली साधन आकाश-वाणी (रेडियो) द्वारा अरबी-फ़ारसी-बहुल उर्दू भाषा को 'हिंदुस्तानी' का नाम देकर उसके प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटा हुआ है। सरकारी विभाग की इस उर्दू पक्षपातिनी तथा हिन्दी विरोधिनी नीति के विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन हिंदी साहित्य सम्मेलन तथा हिंदी साहित्य सेवियों द्वारा कई वर्षों से चल रहा है। यह आन्दोलन अब तक सफल होगया होता यदि 'हिंदुस्तानी' का पोषक एक दूसरा आन्दोलन हिंदुओं के ही भीतर खड़ा न होगया होता। इस दूसरे आन्दोलन के कारण हिंदी विरोधी सरकारी दल के काँपते हुये हाथ और लड़खड़ाते हुये पैर फिर से

दृढ़ होगये हैं, और हिंदी की राष्ट्रीयता के प्रचार में कुछ समय के लिये बाधायें और बढ़ गई हैं।

यह खेद और दुःख की बात है कि यह दूसरा हिन्दी विरोधी हिन्दुस्तानी का आन्दोलन एक ऐसे व्यक्ति द्वारा उठाया जा रहा है जो किसी समय हिन्दी की राष्ट्रीयता का प्रबल समर्थक, प्रचारक और पोषक था। इस हिन्दुस्तानी का केन्द्र है वर्धा और वहाँ के महात्मा ही इसके प्रवर्त्तक, पोषक, प्रचारक, प्रसारक और प्रेरक हैं। वर्धा से होने वाला हिन्दी पर यह आक्रमण सरकारी गुट्ट के आक्रमण से कहीं अधिक घातक है क्योंकि यह प्राथमिक और माध्यमिक श्रेणियों से ही हिन्दुस्तानी का प्रचार हमारे बालक-बालिकाओं में करने का उपक्रम कर रहा है। सरकारी विभाग की 'हिन्दुस्तानी' और वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' में केवल नाम साम्य ही नहीं है, प्रत्युत हिन्दी में प्रचलित सरल और सुबोध संस्कृत शब्दों के भी बहिष्कार तथा अरबी फारसी बहुल उर्दू शब्दों के विशेष व्यवहार और प्रयोग में भी दोनों में आश्चर्यजनक साम्य है।

वर्धा की हिन्दुस्तानी क्या है? कैसी है? इसे समझने के लिये वर्धा-शिक्षा-योजना से सम्बन्ध रखने वाली तथा वहाँ से प्रकाशित पुस्तकों में से दो-चार का अध्ययन ही पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में १–शिक्षा में अहिंसक क्रांति, २–एक कदम आगे, ३–बुनियादी तालीम के दो साल, ४–गत्ते का काम, भाग पहला, ५–खेती शिक्षा, ६–ओटना, तुनना व धुनना, ७–नई किताब (हिन्दी), ८–कताई गणित (हिन्दी), ९–तकली (हिन्दी), १०–नई किताब (उर्दू), ११–कताई का हिसाब (उर्दू), १२–तकली (उर्दू), इन बारह पुस्तकों का अध्ययन करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यदि वर्धा की हिन्दुस्तानी का विरोध न किया गया और वह सफल हो गई तो हिन्दी का स्वरूप इतना विकृत हो जायगा कि उसे पहचानना भी कठिन हो जायगा, यहाँ तक कि हिन्दी की उपजीव्य संस्कृत के सरल और सुबोध

शब्दों का भी बहिष्कार होकर उनके स्थान पर अरबी-फारसी बहुल उर्दू शब्दों की इतनी भरमार हो जायगी कि वह वही हिन्दुस्तानी बन जायगी जो ऐंग्लो-मुस्लिम गुट्ट को अभीष्ट है।

हम यह मानते हैं कि उन्नतिशील भाषा पड़ोसी भाषाओं के ही नहीं प्रत्युत विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी अपने शब्द-भाण्डार को भरने में आगा-पीछा नहीं करती। पर इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि अपने आत्मसात किये हुये शब्दों का या उपजीव्य भाषा के शब्दों का बहिष्कार करके दूसरी भाषा के शब्दों को अपनाया जाय, उनके पीछे दौड़ा जाय।

वर्धा की हिन्दुस्तानी कैसा साहित्य निर्माण कर रही है, इसके कुछ उदारण देखिये :—

"खेती की शिक्षा"—एक सौ तीस पृष्ठों की ग्यारह अध्यायों में विभक्त यह एक पुस्तक है। यह 'खेती शिक्षण' नाम की मराठी पुस्तक का अनुवाद है। इसके प्रथम दो अध्यायों में ही उर्दू के शब्दों तथा वाक्यांशों का प्रयोग किस प्रकार किया गया है, देखिये :—बाग़ बग़ीचे, ताल्लुक, नज़दीकी सम्बन्ध, वग़ैरा, मौजू, मददगार साबित होगा, कुदरत, जिन्दगी गुजारनी, इम्तहानों, बेमज़ा, बेहद ताक़तवर, ख़ुदा की शान, ज़िन्दगी की अज़मत, गुज़रेगा, क़ुदरत के ये एलची, होशियारी, चीज़ में ख़ूबसूरती, तरक़्क़ी ज़रूर होगी, ग़ौर करने की ताक़त, हासिल, वजह, बाक़ायादा सोचने का माद्दा पैदा होगा, बयान, ख्यालों को ज़ाहिर करना, पाबन्दी, एहसास, मुसव्वरी, आवाज, बारीक, ज़्यादा मजबूत, ख़ासकर, चूँकि ज़्यादातर, कौमी फ़ायदा, शख्सी, कौमी निग़ाह, मुताबिक़, दस्तकारी के ज़रिये, वक्त, मादरी ज़बान, नज़्म, मुक़द्दम धंदे, मजनूनों की तरह, ज़रूरी, शामिल, जमातों, मक़सद, गुंजाइश, और हालात मुआफ़िक़ हों, तनख्वाह, पैदावार का सवाल, ग़ुलामी, बदनाम, नसीब, बदकिस्मती, आज़ादी की तरफ़, तालीम, शानदार, ख़ास पहलुओं, खास मरकज़, सिर्फ़, ज़रूरी पहलुओं पर खास ध्यान, काम-

याब या नाकामयाब, अहम सवाल, इन्क़लाब, सादा मिज़ाज, मेहनती, दिमाग़, दिलचस्पी, आज़ाद तबियत, लाज़मी, एतक़ाद, रोशनी पैदा करनी, पैदा-यशी, बल्कि तजरबे के मुताबिक़, हौसलों को कामयाब बनाने, काफ़ी मौक़ा, आयन्दा, इत्यादि। ये उद्धरण केवल प्रथम दस पृष्ठों से ही दिये गये हैं।

उर्दू शब्दों के प्रचार के लिये इस पुस्तक में अनेक हिन्दी के शब्दों के उर्दू पर्याय भी अनेक स्थानों पर दिये गये हैं मानों संस्कृत शब्दों के प्रयोग का प्रायश्चित किया गया हो। जैसे चित्रकला (मुसव्वरी), इन्द्रिय ज्ञान (एहसास), राष्ट्रीय (क़ौमी), गणित (हिसाब), काव्य (नज़्म), भूगोल (जुगराफ़िया), मातृभाषा (मादरी ज़बान), व्यवसाय (मुक़द्दम धन्दे), मुख्य केन्द्र (ख़ास मरकज़), महत्वपूर्ण (अहम), क्रान्तिकारक (इन्कलाबी), श्रद्धा (एतक़ाद)। ये उद्धरण भी इन्हीं दस पन्नों के भीतर के हैं।

इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय का शीर्षक 'कुछ इत्तलायें' है। अब दूसरी पुस्तक उठाइये, 'नई किताब'। यह ९० पन्नों की है। इसके प्रकाशक हैं श्रीआर्यनायकम्। पुस्तक के निवेदन में आपने लिखा है—

"बुनियादी स्कूलों के तीसरे दर्जे के बच्चों के हाथों में इस किताब को रखते हुये मुझे बड़ी प्रसन्नता है। यह किताब ख़ासकर बिहार के बुनियादी स्कूलों के बच्चों के लिये तैयार की गई है"। आगे आप फिर लिखते हैं—"भाषा सरल हिंदुस्तानी रक्खी गई है।" अब इसकी 'सरल हिंदुस्तानी' देखिये—

"बुनियादी स्कूल, किताब, बुनियादी तालीम, ख़ास साहित्य, समिति मुक़र्रर कीगई, बुनियाद सही है, दायरे, क़दम, शुरू से आख़ीर तक शौक़ पैदा करेगी, हरदम अपने दिलके अन्दर ऐसी ताक़त जो भर दे नाउम्मीदों में भी जान, हरदम, मज़बूत, कमज़ोर, वक़्त, मुताबिक़, बदन, ख़ासे बड़े, ताज्जुब, फ़ौरन, ग़ौर से, ख़जाना, साफ़, ख़ुश, ताज़ा, बदबू, बस्ती, तन्दुरुस्त,

मुसीबत, उस्ताद, एकसानियत, तारीफ़, दिक्कतें, अक्लमन्दी, काफ़ी, आदाब बन्दगी, सलाम अलै, रोज़ की तरह, आदत के मुताबिक़, रास्ता, होशियारी, ख़तम, इन्तिज़ाम, हमेशा, मेलाद की मजलिस, ज़िन्दगी के हालात, दुश्मन मेहमान हुआ, सलूक, दोस्त, दुश्मन, रुख़, वाक़या, तकलीफ़, मिज़ाज, मुहब्बत, एहसान, इन्साफ़, जनाबमन, मर्ज़, मेहरबानी।"

यह सूची और लम्बी हो सकती है पर इतने से ही पुस्तक की हिंदुस्तानी का अनुमान किया जा सकता है। अनेक हिंदी शब्दों के उर्दू पर्याय इसमें भी सिखाये गये हैं। इस पुस्तक में इनके अतिरिक्त एक दो और भी विशेषतायें हैं जिनकी ओर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पहली विशेषता तो यह है कि ३२ पाठों और १६० पृष्ठों की इस पुस्तक में "मुहम्मद साहब ने दुश्मन को दोस्त बनाया", इस नवें पाठ के अतिरिक्त और किसी ऐतिहासिक महापुरुष के चरित्र का कहीं वर्णन नहीं किया गया है। किसी ऐतिहासिक आर्य या हिंदू राजा के चरित्र के वर्णन की तो बात ही दूर है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें केवल दो कवितायें छापी गई हैं—एक प्रारम्भ में और एक अन्त में। प्रारम्भ की 'प्रार्थना' कविता 'बहारे उर्दू' से ली गई है, और अन्तिम कविता स्वर्गीय मुहम्मद इक़बाल की प्रसिद्ध "हिन्दोस्ताँ हमारा" है जिसे नागरी विषय की सूची में "राष्ट्रीय गीत" तथा उर्दू में "क़ौमी तराना" लिखा गया है। तीसरी विशेषता इस पुस्तक में वह है जो हिन्दुस्तानी के पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति के वास्तविक रूप को प्रकट कर देती है। वह है हमारी राष्ट्रीयता का रूप, यथा—

वर्धा की हिंदुस्तानी के सम्बन्ध में कुछ ऐसी धारणा फैली हुई है कि उसकी भाषा का रूप एक है और वही नागरी तथा उर्दू लिपि में छाप दी जाती है। परन्तु ऐसा है नहीं, यह केवल भ्रम है। यह सम्भव है, एक प्रकार से निश्चित भी है, कि हिन्दी का सहोदरा भाषाओं की लिपियों में इन पुस्तकों का प्रकाशन करते हुये इसी हिंदुस्तानी का प्रयोग किया जाय, परन्तु उर्दू

लिपि में जाते ही इसकी पक्की मुसलमानी हो जाती है। इस पर बुर्का पड़ जाता है और विशुद्ध उर्दू हो जाती है। इस 'नई किताब' को नागरी तथा उर्दू में प्रकाशित संस्करणों को देखने से यह बात स्पष्ट होजाती है:—

पहले पन्ने से ही देखते चलिये—

नागरी	उर्दू
१—	१—लिटरेचर कमेटी मुकर्ररशुदह मिनजानिब बेसिक एजूकेशन बोर्ड, बिहार।
२—नागरी-प्रकाशक	२—उर्दू-नासर
३—पहला संस्करण	३—तलब अव्वल
४—(नोट नहीं है)	४—(नोट) अर्ज़ अडीटर—मैं निहायत मसर्रत के साथ इस बात का अयतराफ़ करता हूँ—इत्यादि।
५—निवेदन	५—अर्ज़ हाल
६—बुनियादी स्कूलों के तीसरे दर्जे के बच्चों के हाथों में इस नई किताब को रखते हुये मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है।	६—मुझे बुनियादी स्कूलों के तीसरे दर्जह के हाथों में इस 'नई किताब' को देते हुये बेहद मसर्रत हो रही है।
७—यह किताब खास करके	७—यह किताब मख़सूस तौर पर
८—पर मुझे आशा है	८—लेकिन मुझे उम्मीद है
९—जब से बुनियादी तालीम का प्रयोग शुरू हुआ	९—जब से बुनियादी तालीम का तजरबह शुरू हुआ
१०—एक नये साहित्य की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं	१०—एक नये अदब की ज़रूरत महसूस कर रहे हैं

११—क्या बच्चों के लिये और क्या शिक्षकों के लिये	११—क्या बच्चों के लिये और क्या मौलवियों के लिये
१२—सच्चे शिक्षा साहित्य का अभाव है	१२—सच्चे तालीमी अदब का फकदान है
१३—विषय सूची	१३—फेहरिस्त मज़ामीन
१४—प्रार्थना	१४—दुआ
१५—यही चाहता हूँ मैं ईश्वर	१५—यही चाहता हूँ मैं या रब्ब
१६—बाद तुम्हारे ईश्वर, इसका ही हरदम कहलाऊँ मैं	१६—बाद तुम्हारे या रब इसका एक खादम कहलाऊँ मैं
१७—तकली की गति (चाल) के अनुसार (मुताबिक) ही सूत	१७—तकली की रफ्तार के मुताबिक ही सूत
१८—यह सूत कितना समान (एकसाँ) है	१८—यह सूत कितना एकसाँ है
१९—प्रणाम, मामाजी	१९—आदाब, मामूजान (यहाँ ध्यान देने की बात है कि कहने वाला केदार हिन्दू है और अपने मामा से कह रहा है)
२०—सूत की समानता (एकसा-नियत) पर वह ध्यान नहीं दे रहा था।	२०—सूत इसका एकसाँ नहीं हो रहा था।

ये उद्धरण 'निवेदन' या 'अर्ज़ हाल' को केवल प्रथम ८-१० पंक्तियों के हैं। बस इतने से ही समझ लीजिये कैसी 'हिन्दुस्तानी' है।

लेख का कलेवर बढ़ रहा है इसलिये इसे यहीं समाप्त करता हूँ। अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध में फिर लिखूँगा। अन्त में इतना अवश्य लिखूँगा कि

ये उद्धरण स्पष्ट कह रहे हैं कि वर्धा की हिन्दुस्तानी की भाषा एक नहीं है। नागरी लिपि में जिस प्रकार हिन्दी शब्दों के उर्दू पर्याय कोष्ठों में लिख कर उर्दू के शब्दों का परिचय, व्यवहार तथा प्रयोग बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है, उर्दू लिपि के संस्करणों में इस प्रथा को क्यों नहीं अपनाया गया ? क्यों नही उर्दू शब्दों के संस्कृत प्रयायों से उर्दू पढ़ने वालों को परिचित कराने का प्रयत्न किया गया ? क्या यह उर्दू के साथ पक्षपात तथा संस्कृत के बहिष्कार का द्योतक नहीं है ? क्या इस हिन्दुस्तानी द्वारा हिन्दी के साथ न्याय हो रहा है ? क्या यह प्रथा हिन्दी के सर्वनाश का कारण न होगी ? क्या इसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से उर्दू शब्दों का व्यवहार बढ़ाना, उर्दू का प्रचार करना नहीं है ?

(जनवरी, १६४६ को 'हिन्दी' से)

(आगे टिप्पणी देखिये)

परिशिष्ट ४ पर टिप्पणी

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

वर्धा की हिन्दुस्तानी के पीछे जो मनोवृत्ति काम कर रही है वह तो ऊपर के लेख से प्रकट है ही, इस लेख से बिहार की हिन्दुस्तानी पर भी भरपूर प्रकाश पड़ता है। यह है बिहार जैसे हिन्दी प्रान्त की उस हिन्दुस्तानी का स्वरूप जो बिहारी जनता पर 'राष्ट्रीय सरकार' द्वारा लादी जा रही है और बिहारी बालकों के मस्तिष्क में प्रारम्भ से ही पैठाई जा रही है! देवनागरी पुस्तकों में हिन्दुस्तानी के नाम पर भाषा की जो दुर्दशा की गई है उससे अधिक आश्चर्य फारसी लिपि की पुस्तकों की भाषा देख कर होता है। इन उर्दू पुस्तकों में हिन्दी के साधारण से साधारण देशज शब्द तक के लिये स्थान नहीं। उनके स्थान में भी ढूँढ़ ढूँढ कर अरबी फारसी शब्दों को ठूँसा गया है, और जहाँ यह संभव नहीं वहाँ अँगरेज़ी शब्द रक्खा गया है (जैसे 'अडीटर'—'सम्पादक' सह्य नहीं) और वस्तुतः क्रियाओं और विभक्तियों को छोड़ कर भाषा में कोई भी भारतीय तत्व न रहने दिया गया है। ऊपर से तुर्रा यह कि इस भाषा का नाम रक्खा गया है 'हिन्दुस्तानी' और उसे जनता की सरल भाषा कह कर लादा गया है बिहारी जनता पर जिसकी (हिन्दू या मुसलमान) मातृ-भाषायें भोजपुरी, मथिली और मगाही हैं और जिसने अपनी वाणी विद्यापति ऐसे कवि से पाई है! यदि पंजाब, सिन्ध या सीमा-प्रान्त का मामला होता तो वहाँ तो बेसिक स्कूलों की 'हिन्दुस्तानी' बनाई जाती उर्दू और पुस्तकों को देवनागरी लिपि में भी न

छापा जाता (उदाहरण के लिये पंजाब के बेसिक स्कूलों में प्रचलित 'हिन्दुस्तानी' की पुस्तकें देख लीजिये), परन्तु बिहार में प्राथमिक शिक्षा से भी एक दर्जा नीचे बेसिक शिक्षा के लिये मैथिली और मगाही बोलने वाले मुसलमान बालकों के हाथ में ऐसी पुस्तकें दी जाती हैं जिन की उर्दू को वे क्या, युक्त-प्रान्त और पंजाब में भी मुसलमान बालक नहीं समझ सकते। यह है 'मातृ-भाषाओं द्वारा शिक्षा' वाले नारे का व्यावहारिक रूप! जैसी उर्दू की बिहारी मुसलमान स्वयं न माँग करते उससे अधिक क्लिष्ट उर्दू उन पर थोपी जा रही है, और बिहारी जनता को भाषा और लिपि के पाकिस्तानों में बाँटा जा रहा है, और यह सब 'हिंदुस्तानी' के नाम पर! ऐसा क्यों न हो? बिहार की 'राष्ट्रीय सरकार' में डा० सैयद महमूद शिक्षा-मन्त्री क्या व्यर्थ के लिये बने थे, और इस बार शिक्षा का पोर्टफोलियो दबोचे रहने का जीतोड़ प्रयत्न उन्होंने क्या तकल्लुफ़ में आकर किया था? संसार भर में भारत ही तो एक ऐसा अभागा देश है जहाँ बिहार जैसे हिंदी प्रान्त का शिक्षा-मन्त्री एक ऐसे व्यक्ति को बनाना सम्भव है जो अपनी मातृभाषा हिंदी न बताता हो, जिसे हिंदी का ज्ञान न हो, हिंदी से प्रेम न हो वरन् जिसे हिंदी से द्वेष हो—और वह भी एक ऐसी सरकार द्वारा जो राष्ट्रीयता का दम भरती हो, जनता की सरकार होने का दावा करती हो! इंगलैंड की प्रतिगामी से प्रतिगामी सरकार भी एक ऐसे व्यक्ति को इंगलैंड का शिक्षा-मन्त्री बनाने का साहस न करेगी जो अँगरेज़ी का विद्वान न हो और जिसे अँगरेज़ी से प्रेम न हो, परन्तु भारत में तो कांग्रेसी राष्ट्र-वादियों को कांग्रेसी मुसलमानों के सहयोग का मूल्य हिंदुओं की जेब से चुकाना ही है।

क्या हम बिहार की नई सरकार से यह निवेदन कर सकते हैं कि वह बिहार में भाषा और लिपि का पाकिस्तान, जिससे वह अभी तक बचा रहा है, खड़ा करके, बिहार की जनता के टुकड़े टुकड़े न करे और उसकी भावी उन्नति

में भयंकर बाधा न डाले ? यदि उसने ऐसा किया तो बिहार की अगली पीढ़ियाँ उसे इस महान् अपराध के लिये कभी क्षमा नहीं करेंगी। बिहार प्रांत में प्रांतीय बोलियों के बाद हिंदी के सिवा किसी अन्य हिंदुस्तानी का कोई अधिकार नहीं, और देवनागरी के सिवा किसी दूसरी लिपि का कोई स्थान नहीं, चाहे मुसलमानों का मामला हो, चाहे ईसाइयों का और चाहे किसी और का। बिहार की हिंदुस्तानी हिंदी है। बिहार के १४ प्रतिशत मुसलमानों, जो हिंदी समझते हैं, के दुराग्रह के कारण बिहार में शिक्षा या राजकाज में उर्दू और उर्दू लिपि को हिंदी और देवनागरी के समकक्ष स्थान देकर या हिंदी से भिन्न किसी हिन्दुस्तानी और दोनों लिपि को स्थान देकर बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करना है। दुख की बात है कि जब पंजाब (जिसके कई ज़िलों की मातृभाषा ही हिन्दी है) की सरकार ३० प्रति शत जनता के कहने पर भी राजकाज, कचहरियों, आदि में उर्दू के सिवा किसी दूसरी हिंदुस्तानी और फारसी लिपि के सिवा किसी दूसरी लिपि को कोई स्थान देने को तैयार नहीं, बिहार की सरकार गिने चुने मुसलमानों को खुश करने के लिये अपनी राजभाषा और राजलिपि को दो दो में विभक्त चाहती है*, और हिंदी की सुन्नत करना चाहती है। क्षोभ का विषय है कि जब शारदा लिपि के देश काश्मीर और गुरुमुखी के देश पंजाब में मुसलमान केवल एक लिपि फारसी यह कहकर रखना चाहते हैं कि दो लिपियों से जनता दो भागों में बँट जायगी और मिलकर कभी एक न हो सकेगी, और

* कुछ वर्ष हुये, बिहार की इन्टरिम (मध्यकालीन) गवर्नमेंट के समय में (१९३५ के विधान के लागू होने से पूर्व) अपनी तीन महीने की सुलतानी में सर सुलतान अहमद ने मौक़ा पाकर उर्दू को भी बिहार की राजभाषा, कचहरियों की भाषा, आदि घोषित कर दिया! इस बात का कोई चिन्ह नज़र नहीं आता कि बिहार की राष्ट्रीय सरकार एक कठपुतली सरकार की इस प्रतिक्रियावादी आज्ञा को, जिसको केवल दस वर्ष हुये हैं, रद्द करके बिहार को दुभाषी भाषा से मुक्त कर देगी। उसकी 'राष्ट्रीयता' में इतना दम कहाँ ?

जब सिन्ध की सरकार सिन्ध में 'हिंदुस्तानी' की केवल एक लिपि फारसी यह कहकर रखती है कि सिन्धी लिपि से मिलती जुलती होने के कारण वही सिन्धियों के लिये उपयुक्त है, बिहार की राष्ट्रीय सरकार देवनागरी के देश बिहार में कैथी जाननेवाले बिहारियों पर देवनागरी के साथ एक दूसरी लिपि जबर्दस्ती थोपना चाहती है, और जो जनता आज एक है उसे अब दो भागों में बाँटना चाहती है। राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी की दो लिपियाँ होंगी, परन्तु बिहार की भाषा की दो लिपियाँ क्यों हों? राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी की दो शैलियाँ होंगी, वर्धा द्वारा उसका स्वरूप निश्चित किया जायगा, उसमें उर्दू प्रान्तों को रिश्वत दी जायगी आदि, परन्तु बिहार को प्रान्तीय हिंदुस्तानी हिंदी से भिन्न क्यों हो? क्या अन्य प्रान्त अपने अपने यहाँ राष्ट्र-भाषा के बजाय अपनी अपनी प्रान्त-भाषा और प्रान्त-लिपि की स्थापना न करेंगे? बिहार की ही प्रान्त-भाषा और प्रान्त-लिपि का आदर्श वर्धा की राष्ट्र-भाषा क्यों हो? जो बात बिहार के साथ लागू है, वह महाकोशल, जिसकी मातृ-भाषा ही कोशली अर्थात् पूर्वी हिंदी है, के साथ और भी दृढ़ता के साथ लागू है। वहाँ केवल ६ प्रति शत मुसलमान हैं, उनकी मातृभाषा भी हिन्दी है, परन्तु वहाँ भी हिंदुस्तानी के नाम पर भाषा और लिपि का पाकिस्तान खड़ा किया जा रहा है और हिंदी को विकृत किया जा रहा है (देखिये विद्यामन्दिर योजना)। जो प्रान्त अब तक भाषा की दृष्टि से एक रहे हैं, उनमें अब हिंदुस्तानी के नाम पर भाषा और लिपि की फूट डाली जा रही है, और अपने हाथों समस्या को जानबूझ कर जटिल बनाया जा रहा है। यह बुद्धि का दिवालियापन है। इधर युक्त-प्रान्त में 'हिन्दुस्तानी बोलचाल' नाम से हिंदुस्तानी की जो पुस्तकें स्कूलों में जारी की गई हैं, उनकी भाषा भी बिहार की राजेन्द्र सीरीज़ और महमूद सीरीज़ की 'हिन्दुस्तानी' पुस्तकों की भाषा से भिन्न नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि कामन भाषा 'हिन्दुस्तानी' चलाने की फिक्र हिन्दी प्रान्तों में की जाती है जहाँ ६० प्रतिशत

से अधिक की भाषा हिन्दी है। इन प्रान्तों को हिन्दी को बनाये रखने की सज़ा दी जाती है। पंजाब में जाकर 'हिन्दुस्तानी' चलाने की फिक्र कोई नहीं करता। वहाँ तो उर्दू ही सबकी 'हिन्दुस्तानी' होकर रहना चाहती है और कांग्रेस इससे सहमत है।

जहाँ एक ओर फारसी लिपि स्वयं राष्ट्रीय सरकारों द्वारा प्रचलित की जा रही है, वहाँ दूसरी ओर बिहार और मध्य-प्रांत में आदिवासियों, सथालों तथा अन्य पिछड़ी हुई और जंगली जातियों में मिशनरी रोमन लिपि का प्रचार कर रहे हैं जो उनके ईसाइत प्रचार का ही एक अंग है, क्योंकि इस प्रकार वे इन लोगों को अनायास भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से दूर ले जाते हैं। इन प्रान्तों में रोमन लिपि की समस्या भीषण रूप धारण करने वाली है, और लिपि का एक और पाकिस्तान बनने वाला है। परन्तु राष्ट्रीय सरकार टुकुर-टुकुर देख ही नहीं रही है, रोमन लिपि के प्रचार में सहायता दे रही है *। बृटिश सरकार चाहती है कि इस देश की भाषा बने उर्दू और लिपि हो रोमन। इसी रोमन उर्दू को वह सेना में, सरकारी दफ्तरों में, रेडियो, आदि में प्रचारित कर रही है। इसी कारण बिहार और मध्य-प्रान्त में ही नहीं, आसाम, बंगाल, आदि में भी पिछड़ी हुई जातियों में और ट्राइबल एरियाज़ में जो स्वयं वायसराय के आधीन हैं रोमन लिपि का ज़ोर शोर से प्रचार किया जा रहा है। इधर युक्त-प्रान्त की सरकार ने रोमन

---

* **बिहार के पिछले कांग्रेसी मंत्रि-मंडल के समय में बिहार प्रान्तीय निरक्षरता निवारण संघ ने सथाल बच्चों की पाठ्य पुस्तकें रोमन लिपि में छपाई। संथाल परगना में रोमन लिपि प्रचार को सरकार से पूरी सहायता मिल रही है। इधर बिहार सरकार के शिक्षा विभाग ने एक सर्कुलर निकाल कर संथाली स्कूलों की आरंभिक कक्षाओं में रोमन लिपि को अनिवार्य कर दिया है। इस सब में डा० सैयद महमूद का हाथ प्रत्यक्ष है। उनकी राय में जहाँ फारसी लिपि को अकेले या देवनागरी के साथ चलाना संभव नहीं, वहाँ रोमन लिपि का बखेड़ा खड़ा हो जाय तो अच्छा।**

परिशिष्ट ५

हिन्दुस्तानी

(लेखक—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन)

"………हिन्दुस्तानी हिन्दू-मुस्लिम पैक्ट की भाषा है, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की नहीं—एकदम बनावटी। उसका उद्देश्य है—ऐसी भाषा लिखने का प्रयत्न करना, जिसमें न संस्कृत के शब्द हों न अरबी फारसी के, और जो दोनों लिपियों में लिखी जा सके। उत्तर-भारत में काफी आर्य समाजी साहित्य प्रचलित है जो ठेठ हिन्दी है, लेकिन उसे उर्दू लिपि में लिखकर छाप दिया गया है—यहाँ तक कि आर्य समाज की संस्कृत संध्या को भी। उर्दू लिपि में लिखा होने मात्र से क्या वह सारा साहित्य "हिन्दुस्तानी" समझा जायगा? यदि नहीं, तो इधर जो कुछ साहित्य पैदा होने लगा है, जो ठेठ उर्दू है, लेकिन जिसे देवनागरी अक्षरों में भी छाप दिया जाता है वह कैसे हिन्दुस्तानी कहला सकता है? मेरे एक आदरणीय मित्र हैं। उन्होंने एक किताब लिखी है जो देवनागरी अक्षरों तथा उर्दू हरफ़ दोनों में छपी है। मैंने उस किताब को हस्तलिपि के रूप में देखा। वह उर्दू में लिखी गई थी और एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा कि अब बताओ उसमें कहाँ-कहाँ कौन-कौन शब्द काटकर बदल दिये जायँ जिससे यह देवनागरी में भी छप सके। मैंने कहा, मुझे यह अत्यन्त अस्वाभाविक मालूम होता है; इससे उर्दू शैली का प्रभाव नष्ट होता है और हिन्दी का तो आ ही

नहीं सकता। तो भी हुआ वही जो वह चाहते थे। जहाँ तहाँ कुछ शब्दों की जगह 'हिन्दी' शब्द लिख दिये गये और वह पुस्तक देवनागरी अक्षरों में भी छप गई।

एक और उदाहरण—

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा ने "हिन्दुस्तानी' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का उर्दू में लिखा हुआ एक 'दीबाचा' है जो देवनागरी अक्षरों में भी ज्यों का त्यों 'दीबाचा' ही है। 'दीबाचा' शब्द फारसी का है; उसे फारसी में जगह है और हिन्दुस्तान की उर्दू में भी; लेकिन हिन्दुस्तान ही जिनकी जन्म-भूमि है ऐसे ये दो शब्द, 'प्रस्तावना' और 'भूमिका', आप कृपया कहें कि अब कहाँ शरण ढूँढ़ें? हिन्दुस्तान में तो अब उनको शरण मिलेगी नहीं, क्योंकि वे 'हिन्दुस्तानी' नहीं हैं!

और क्या यह 'न संस्कृत, न अरबी फारसी' भाषा लिखने का प्रयत्न सफल होता है? यदि आपको सारे साहित्य में "मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ" जैसे दो दो शब्दों के वाक्यों से ही काम लेना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा आप जरा गहराई में उतरें तो आप को अपनी 'न संस्कृत, न अरबी फारसी' वाली बात तुरंत छोड़ देनी होगी। मैं इस 'हिन्दुस्तानी' किताब से ही, जो एकदम बच्चों के लिये लिखी गई है, दो उदाहरण देता हूँ। एक जगह फुटनोट है—"मुजक्कर मुवन्नस की वजह से इफआल में जो फर्क पैदा होता है उस्ताद उसे समझाये और मश्क कराये।" हिन्दुस्तानी आदर्शवादियों ने उसे देवनागरी अक्षरों में कैसे लिखा है—"पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की वजह से क्रियाओं में जो फर्क पैदा होता है उस्ताद उसे समझाये और मश्क कराये।" दोनों लिपियों में लिखी जाने योग्य भाषा बनाने के फेर में देवनागरी में भी 'कारण' न लिखकर 'वजह' लिखा गया है, 'अभ्यास' न लिखकर 'मश्क' लिखा गया है, 'अध्यापक' न लिखकर 'उस्ताद' लिखा

गया है, मानों ये शब्द पहले सब शब्दों की अपेक्षा सरल हों, 'आमफहम' हों, लेकिन तब भी क्या दोनों लिपियों में एक ही भाषा लिखी जा सकी? देवनागरी में 'क्रियाओं' है, उर्दू में 'इफ़आल' है ('फ़ेल' का बहुवचन 'फ़ेलों' हो जाता लेकिन तब तो वह हिन्दी व्याकरण के अनुसार होता!), देवनागरी में 'पुल्लिंग' है तो उर्दू में 'मुज़क्कर' है, देवनागरी में 'स्त्रीलिंग' है तो उर्दू में 'मुवन्नस' है।

दूसरा उदाहरण लें—पृष्ठ १४ पर—"मुतकल्लम-हाजिर-गायब हालतों की मश्क फ़ेले-हाल के मुजक्कर मुवन्नस की सूरतों में करा दी जाय।" दोनों लिपियों में एक ही भाषा लिखने के इच्छुकों को देवनागरी में इसे यूँ लिखना पड़ता है—"उत्तम और मध्यम पुरुष की मश्क वर्तमान-काल के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के रूपों में करा दी जाय।" दोनों वाक्यों में एक 'मश्क' शब्द को छोड़कर कौन सा विशेष शब्द समान है? यदि हम 'अभ्यास' की जगह इस 'मश्क' शब्द को ही अपनी भाषा में जगह दें और हिन्दुस्तानी की खातिर 'अभ्यास' को देश निकाला भी दे दें तब भी क्या इससे वह हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' हो जाती है?

अभी अभी दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा के १२वें-१३वें पदवी-दान के अवसर पर जनाब सैयद अब्दुल्ला बरेलवी साहब ने एक तक़रीर फ़रमाई है। उसमें आपने दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा को नेक सलाह दी कि वह अपना नाम 'हिन्दी प्रचार सभा' न रखकर 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' में तबदील कर दे। आप फ़रमाते हैं—"हिन्दी नाम से पैदा होने वाले भ्रम को हटाने के लिये मैं अपनी अपील पर ज़ोर दूँगा, ख़ास करके इसलिये कि मुझे यकीन है कि इस तबादले से मुसलमानों के मन पर अच्छा असर पड़ेगा।" कुछ लोग कहा करते हैं कि नाम में क्या रक्खा है, लेकिन बरेलवी साहब नाम के तबादले से ही मुसलमानों के मन पर बड़ा अच्छा असर पैदा करने की उम्मीद करते हैं। आपने अपनी तकरीर में फ़रमाया है कि

क़ौमी ज़बान को उसके जो तीन नाम मिले हैं—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी—वे तीनों मुसलमानों के दिये हुये हैं। यदि यह बात ठीक है तो 'हिन्दुस्तानी' नाम में वह कौन सी खासियत है जिसकी वजह से मुसलमान भाई 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों नामों पर उसे तरजीह देंगे? आज आप मुसलमानों पर 'अच्छा असर पड़ेगा' की बात कहकर राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' कहने की सलाह दे रहे हैं, कल आप उसे उर्दू ही कहने की सलाह भी दे ही सकते हैं। १६४२ में गांधीजी ने जब 'हिन्दुस्तानी सभा' की नींव डाली तब उसके ३८ बुनियादी मेम्बरों में कितने मुसलमान भाई मेम्बर बने थे? स्वयं बरेलवी साहब तो ख़ैर उसमें थे ही नहीं, कसम खाने के लिये तीन नाम दिखाई देते हैं, लेकिन ऐसे जिनमें से कोई भी भाषा सम्बन्धी शोधों के लिये प्रसिद्ध नहीं—न आज़ाद हैं, न जाकिरहुसैन हैं, न मौलाना अब्दुलहक़ हैं।

हमें क्षमा किया जाय, यह 'हिन्दुस्तानी' आन्दोलन हमारे मान्य राजनीतिक नेताओं की सूझ है और किसी राजनीतिक आवश्यकता का ही परिणाम भी। लेकिन शर्तों पर आश्रित एकता—बनावटी एकता—स्थायी नहीं होती।"

(बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव के अवसर पर १६४४ में दिये दीक्षान्त भाषण से)

परिशिष्ट ६

"हिन्दुस्तानी का प्रचार क्यों ?"

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की रिपोर्ट पर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीप्रभुदयाल मीतल, प्रधान मन्त्री, व्रज-साहित्य-मंडल)

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की ओर से पिछले वर्ष ता० २६ फरवरी, १९४५ को वर्धा में 'अखिल भारत हिन्दुस्तानी-प्रचार सम्मेलन' हुआ था। महात्मा गांधी उसके सभापति थे। इस सम्मेलन की रिपोर्ट 'हिन्दुस्तानी-प्रचार क्यों?' नाम से अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुई है। इस रिपोर्ट से हिन्दुस्तानी-प्रचार के सम्बन्ध में आवश्यक बातें ज्ञात हो सकती हैं।

इस सम्मेलन को करने का उद्देश्य बतलाते हुये मन्त्री श्री श्रीमन्नारायण जी अग्रवाल ने कहा—

"हमने यह महसूस किया कि हिन्दुस्तानी भाषा का रूप तय करने और हिन्दुस्तानी में ज़रूरी साहित्य तैयार करने के लिये सभा के मेम्बरों के अलावा हिन्दी और उर्दू के दूसरे विद्वानों और माहिरों की ज़रूरत है। इस विचार को मैंने पूज्य गान्धीजी के सामने रक्खा। उन्होंने भी उसे पसन्द किया। इसलिये यह कान्फरेंस बुलाने का फैसला किया।"

सम्मेलन के प्रथम दिन उसके सभापति महात्मा गान्धी का मौन-दिवस था, अतः उनका निश्चित संदेश पढ़ने पर कार्रवाई प्रारम्भ हुई। अपने संदेश में महात्माजी ने आगत सज्जनों की उपस्थिति पर प्रसन्नता प्रकट करते हुये दो सज्जनों की अनुपस्थिति का विशेष रूप से उल्लेख किया। पहले सज्जन

डाक्टर अब्दुल हक़ थे, जो दूसरे दिन सम्मेलन में उपस्थित हो गये थे। दूसरे सज्जन श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन थे, जो बीमार होजाने के कारण उपस्थित नहीं हो सके।

सम्मेलन की कार्रवाई आरम्भ करते हुये डा० सैयद महमूद ने हिंदुस्तानी के विषय में अपने विचार प्रकट किये। उसके नामकरण के सम्बन्ध में आपने कहा—

"मैं ख़ुद तो क़ौमी ज़बान के लिये 'हिन्दी' नाम को ही पसन्द करूँगा क्योंकि यह बड़ा आसान और ख़ूबसूरत लफ्ज है। मगर चूँकि यह नाम अब संस्कृत शब्दों से भरी हुई ज़बान के मानी रखता है, इसलिये उसको छोड़कर 'हिन्दुस्तानी' नाम को अपनाना पड़ रहा है।"

'उर्दू' शब्द की उत्पत्ति के विषय में आपने कहा—

"अँगरेज़ों ने हमको बताया है कि 'उर्दू' लफ्ज़ के मानी 'बाज़ार' या 'छावनी' के हैं और वह तुर्की लफ्ज़ है। मगर मैंने एक जगह पढ़ा है कि उर्दू संस्कृत का एक लफ्ज़ है, जिसके मानी मिले हुये या मिक्सचर या कम्पाउन्ड के हैं और यह यहीं का लफ्ज़ है। शायद ज़्यादा खोज तलाश करने के बाद यह मालूम होजायगा कि यह लफ्ज़ उर्दू इसी लफ्ज़ 'उर्दू' से निकला है।"

इस सम्मेलन में जो भी भाषण हुये उन सबमें हिन्दुस्तानी का समर्थन किया गया। भाषणकर्ता चाहे वे हिन्दू थे, चाहे मुसलमान, चाहे वे हिन्दी के विद्वान थे और चाहे उर्दू के माहिर, उन सबने उर्दू शब्दों की भरमार की थी। सभी वक्ताओं ने हिन्दुस्तानी को फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखे जाने का समर्थन किया। केवल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के प्रधान मन्त्री श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायन और धारवाड़ के श्रीसिद्धनाथ पंत ने दोनों लिपियों का विरोध करते हुये नागरी के समर्थन में अपने विचार प्रकट किये।

श्रीआनन्द कौसल्यायनजी ने कहा—

"कल और आज मैंने जो भाषण सुने, उनसे मुझे आशा की बनिस्बत निराशा ही अधिक हुई।........'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्दों से तो मेरे दिमाग़ में कुछ अर्थ निकलता है, मगर 'हिन्दुस्तानी' क्या चीज़ है ?.........मुख्य प्रश्न लिपि का है।........मेरी समझ में नहीं आता कि एकता के नाम पर हम जो बात भाषा के नाम पर कहते हैं, वही लिपियों के बारे में क्यों न कहें ? एक भाषा की तरह एक लिपि का आग्रह हम क्यों न रक्खें ?"

श्रीसिद्धनाथजी पंत ने कहा—

"लिपि के बारे में यह तय किया जाय कि जिसे जो लिपि पसन्द होजाय, उसे वह स्वीकार करे। दोनों लिपियाँ लाज़िमी करने से फ़ायदा न होगा। 'राष्ट्रभाषा एक, राष्ट्रलिपि अनेक' वाला नया नारा देश में काफ़ी गड़बड़ी करेगा।............दक्षिण भारत में हमने पिछले २५-२६ वर्षों से देवनागरी के द्वारा प्रचार करते हुये बड़ी सफलता पाई है, और हम देवनागरी के देशव्यापी प्रचार के क़ायल हो गये हैं। इसलिये हमें देवनागरी के द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार करने को आज़ादी मिलनी चाहिये।"

इस सम्मेलन में मौलाना सैयद सुलेमान नदवी, डा० जाफ़र हसन, श्रीसत्यनारायण, डा० अब्दुल हक़ और डा० ताराचन्द के बड़े लम्बे चौड़े भाषण हुये, जिनमें उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा की ज़बरदस्त वकालत की।

इस सम्मेलन में दो 'ठहराव' पास हुये थे। पहला ठहराव पं० सुन्दरलाल ने पेश किया—

"इस कान्फरेन्स की राय में हिन्दुस्तानी ज़बान को फैलाने और तरक़्क़ी देने के लिये इस बात की ज़रूरत है कि हिन्दी जाननेवाले उर्दू लिखावट को और उर्दू जाननेवाले नागरी लिखावट को जल्दी से जल्दी सीख लें और जो लोग इन दोनों में से किसी को भी नहीं जानते, वह भी दोनों ही को सीखें, ताकि सब लोग हिन्दुस्तानी के रूपों—हिन्दी और उर्दू को—पढ़

और समझ सकें और इस तरीके से हिन्दुस्तानी का विकास और प्रचार हो सके।"

इस प्रस्ताव पर बोलते हुये पं० सुन्दरलालजी ने कहा—

"मैं देख रहा हूँ कि हमारे साथ पूरे दिल से न 'अंजुमन-तरक्क़ी-ए-उर्दू' है, न 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', पर इससे मुझे अचरज नहीं होता। अचरज तो इस बात का है कि इतने लोग भी हमारे साथ कैसे हैं।"

इस प्रस्ताव के समर्थन में कई भाषण हुये। श्रीभदन्त आनन्द कौसल्यायन ने फिर इसके विरोध में अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा—

"बोली जानेवाली ज़बान में तो लिपि का सवाल ही नहीं उठता; मैं यह पूछना चाहता हूँ कि राष्ट्रभाषा सीखने के लिये यह ज़रूरी है कि दो लिपियाँ सीखनी ही चाहिये?.........मैं यह कहूँगा कि दोनों लिपियों को लाज़िमी तौर पर सीखने की बात को हटा दिया जाय तो अच्छा होगा।"

श्री सियारामशरण जी गुप्त ने दबी ज़बान से पूछा—

"इस सभा के कार्य से हिन्दी या उर्दू का विरोध तो नहीं होगा?"

इसके उत्तर में महात्मा गांधी जी ने कहा—

"इसका जवाब बाद में दूँगा। श्री आनन्द जी ने जो कहा वह मैं समझ गया। उसको भी समझाने की कोशिश करूँगा।"

अंत में राय लेने पर प्रस्ताव पास हो गया।

डा० ताराचन्द जी ने दूसरा 'ठहराव' पेश किया—

"देश के सब लोग इस बात को मानते और समझते हैं कि हमारे क़ौमी जीवन को मजबूत करने और अलग अलग सूबों के लोगों में मेल-जोल और व्यवहार की एक भाषा बनाने के लिये चाहिये कि हिन्दुस्तानी ज़बान को तरक्क़ी दी जावे और उसकी रूप-रेखा ठीक की जावे, क्योंकि इस बात के लिये यही भाषा सब से ज्यादा काम की है।

यह कान्फ्रेन्स फ़ैसला करती है कि पन्द्रह तक मेम्बरों की एक कमेटी

बनाई जावे, जो हिन्दुस्तानी भाषा की डिक्शनरियाँ तैयार करे, भाषा के कायदे तय करे, उसके लफ्जों का भण्डार बढ़ावे, उनके रूप बाँधे, और उसमें अच्छी-अच्छी और काम की किताबें लिखवावे।"

यह प्रस्ताव भी पास हो गया।

अन्त में महात्मा जी ने अपना भाषण दिया—

"मैं नहीं चाहता कि हिन्दी मिट जाय या उर्दू नष्ट हो जाय। मैं सिर्फ इतना ही चाहता हूँ कि दोनों हमारे नाम की हो जाँय। ....आनन्द जी कहते हैं कि सबको दो लिपियाँ सीखने में बड़ी मुसीबत उठानी पड़ेगी। मैं कहता हूँ कि उसमें कुछ भी मुसीबत नहीं है। और अगर हो भी तो उसे पार करना ही होगा। ... ... मैं हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये जीता हूँ। मैं जानता हूँ कि हिन्दुस्तानी के प्रचार से हिन्दू मुस्लिम एकता होगी, मगर इस वक्त मैं आपको यह लालच नहीं दे रहा हूँ। मैं कहता हूँ कि हिन्दी और उर्दू दोनों का भला हो। इन दोनों से मुझे काम लेना है।...... हिन्दी वाले चाहते हैं कि मैं हिन्दी की ही नौबत बजाता रहूँ, उर्दू का नाम न लूँ। मगर मैं तो अहिंसा का माननेवाला सत्याग्रही हूँ। मैं यह कैसे कर सकता हूँ।..........मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के खिलाफ़ कोई काम न होगा। पर दोनों लिपियाँ सीखने की तकलीफ़ तो गवारा करनी ही होगी। मैं तो आनन्द जी से भी काम लेना चाहता हूँ।"

सबके अन्त में उर्दू भाषा के प्रबल समर्थक पं० ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' ने अपनी 'नज़्म' पढ़ कर सुनाई। नज़्म का कुछ भाग इस प्रकार है—

"जो उलटी समझ है तो है काम उलटा,
कि वह सीधी बातों को उलझा रहे हैं।
नई उलझनें और पड़ती हैं आकर,
यह क्या गुत्थियाँ आप सुलझा रहे हैं।

किधर जा रहे हैं, नहीं इसकी सुध-बुध,
जो हैं अपनी धुन में चले जा रहे हैं।"

इस सम्मेलन के पश्चात् हिन्दुस्तानी प्रचार का जितना कार्य हुआ, यह तो हमको ज्ञात नहीं है, किन्तु इस सम्मेलन के बाद ही महात्मा जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्याग-पत्र दिया और उनके अनुकरण पर अन्य कई सज्जनों ने भी त्याग-पत्र देकर हिन्दी प्रचार के कार्य से वैराग्य ले लिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अंतर्गत राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, जो अहिन्दी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य कर रही थी, अब इस हिन्दुस्तानी आन्दोलन के कारण अपना कार्य सफलतापूर्वक कर सकने की स्थिति में नहीं है। दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा, जो पिछले २८ वर्ष से दक्षिण में हिन्दी प्रचार का प्रशंसनीय कार्य कर रही थी, अब अपना नाम 'दक्षिण-भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' में बदल कर दोनों लिपियों वाली हिन्दुस्तानी का कार्य करने का संकल्प कर चुकी है। अब तक हिन्दी का कार्य एक राष्ट्रीय कार्य समझा जाता था, किन्तु अब उसे साम्प्रदायिक कह कर उसका महत्व कम किया जा रहा है। समस्त हिन्दी हितैषियों को हिन्दी पर आये हुये इस महान् संकट का दूर करने का उपाय सोचना चाहिये।

(१७ फरवरी, १९४६ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट ७

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा किधर ?

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

लगभग ३० वर्ष हुए, महात्मा गांधी ने एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव की। उन्हें हिन्दी और देवनागरी क्रमशः राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि होने योग्य जँचीं। वे इस निष्कर्ष पर देश की भाषा-स्थिति पर निष्पक्ष भाव से विचार करके पहुँचे। उस समय आज जैसा साम्प्रदायिकता का दौर दौरा नहीं था। गांधीजी ने दक्षिण को उत्तर से राष्ट्र-भाषा के बन्धन में बाँधने के लिये दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य, जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट है, दक्षिण भारत में राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी का प्रचार करना था। सभा अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल रही है। अपनी रजत जयन्ती के अवसर पर आज दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा अपनी जिन्दगी के पिछले २५ वर्षों पर सन्तोष भरी दृष्टि डाल सकती है। अब सभा की जिन्दगी का दूसरा दौर—हिन्दुस्तानी वाला दौर—आरम्भ होना चाहता है, अर्थात् सभा अब गांधीजी की नई परिभाषा के अनुसार दक्षिण में हिन्दी और उर्दू दोनों और देवनागरी और फ़ारसी लिपि दोनों का प्रचार करेगी, और राष्ट्र-भाषा सीखने के इच्छुक प्रत्येक दक्षिण-वासी को हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपियाँ सीखनी पड़ेंगी। इस दूसरे दौर के आरम्भ होने के अवसर पर सभा और हिन्दी के हितैषियों के विचार सभा के कार्य-कर्त्ताओं और संचालकों के सामने रखना अनुचित न होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि गांधीजी ने राष्ट्र-भाषा की अपनी पहली परिभाषा अर्थात् हिन्दी मुसलमानों द्वारा मान्य न होने के कारण ही दूसरी परिभाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की है। परन्तु क्या यह नई परिभाषा मुसलमानों को मान्य है ? उत्तर है—'नहीं।' हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी केवल हिन्दू रट रहे हैं, हिन्दू ही आपस में हिन्दी और हिन्दुस्तानी के मसले को लेकर वाद-विवाद कर रहे हैं, और हिन्दुस्तानी प्रचारकों की फौज में सब हिन्दू ही हिन्दू हैं। मुसलमानों को इस हिन्दुस्तानी से भी कोई सरोकार नहीं। हिन्दुस्तानी की धूम हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में ही सुन पड़ती है। जहाँ जहाँ मुसलमानों के हाथ में शक्ति है, अर्थात् काश्मीर, पंजाब, सीमा-प्रान्त, सिन्ध और हैदराबाद में, वहाँ सब शान्त है, या यों कहिये, वहाँ उन्होंने उर्दू-हिन्दुस्तानी और उर्दू-लिपि को पहले से ही राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि—डीफैक्टो राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि—बना रक्खा है, और उनमें उन्हें हिन्दी और देवनागरी जोड़ने की न जरूरत है और न यह उन्हें पसन्द है। यह ध्रुव सत्य है कि इन पाकिस्तानी प्रान्तों और रियासतों में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी और देवनागरी को उर्दू और उर्दू लिपि के समकक्ष स्थान कभी नहीं मिलेगा, और न वहाँ उर्दू और उर्दू लिपि के साथ साथ हिन्दी और देवनागरी का सीखना किसी के लिये अनिवार्य किया जायगा। गांधी जी का हिन्दुस्तानी प्रचार भी महाराष्ट्र, बिहार, दक्षिण, आदि हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों तक ही सीमित है, और रहेगा।

ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तानी आन्दोलन का केवल एक ही परिणाम होगा। वह है—असलियत में अर्थात् व्यवहार में केवल उर्दू का राष्ट्र-भाषा और केवल उर्दू लिपि का राष्ट्र-लिपि हो जाना। क्योंकि जब पाकिस्तान के सब निवासी केवल उर्दू और उर्दू लिपि और 'हिन्दुस्थान' के सब निवासी हिन्दुस्तानी प्रचार की बदौलत हिंदी उर्दू दोनों और दोनों लिपियाँ जानते होंगे, तो कामन भाषा और कामन लिपि अपने आप उर्दू और उर्दू-लिपि

होगी। एक अखिल भारतीय सभा में जो वक्ता सबको अपने विचार समझाना चाहेगा वह अपने आप उर्दू में बोलेगा, और जो लेखक अपनी पुस्तक समस्त भारत के लिये सुलभ करना चाहेगा वह अपने आप उर्दू और उर्दू-लिपि में लिखेगा। एक राजनीतिक आन्दोलन के कारण उर्दू और उर्दू-लिपि का इस देश की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हो जाना कितना अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं अन्याय पूर्ण होगा यह बतलाने की जरूरत नहीं। और उर्दू के राज्य में प्रान्तीय भाषाओं की और भारतीय संस्कृति की क्या दशा होगी, यह समझने के लिये आज अँगरेजी के राज्य के कारण प्रान्तीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति पर जो गुज़र रही है, उसे जान लेना काफी होगा। यदि दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा को यही अभीष्ट है तो वह 'दक्षिण-भारत हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' (सभा का गांधी जी द्वारा प्रस्तावित नया नाम) बने, और हिन्दी के प्रचारक हिन्दी का बाना उतार कर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करें, और दक्षिण वालों को उन्हीं के रुपये से उर्दू और उर्दू लिपि सिखावें।

ताली एक हाथ से नहीं बजती। एकता और मेल दो व्यक्तियों में होता है। जब तक मुसलमानों को एकता अभीष्ट नहीं, तब तक केवल हिन्दुओं के हिन्दी और हिन्दुस्तानी वाले दो दलों का आपस में कोई समझौता कुछ अर्थ नहीं रखता। जब तक उर्दू प्रान्तों की सरकारें उर्दू के स्थान में अपनी दो लिपियों सहित 'हिन्दुस्तानी' को प्रतिष्ठित करने के लिये तैयार नहीं, तब तक हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी उर्दू के समन्वय का अर्थ है केवल हिन्दी का नाश और उसका उर्दू में परिवर्तित हो जाना, और जब तक मुसलमानों को हिन्दुस्तानी का मूल मंत्र—दोनों 'शैलियाँ' और दोनों लिपियाँ—मान्य नहीं, तब तक हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में दोनों शैलियों और दोनों लिपियों के प्रचार का अर्थ है उर्दू और उर्दू लिपि को डीफैक्टो राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि बनाना।

गांधीजी की नई परिभाषा कितनी अव्यावहारिक—विशेषकर इस निरक्षर देश के लिये—और अवैज्ञानिक भी है, इसके विषय में कुछ नहीं कहूँगा। यह कहने की भी जरूरत नहीं कि दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा दक्षिण वालों पर हिन्दी और देवनागरी, जो उनके लिये अपेक्षाकृत सुगम हैं, के साथ साथ उर्दू और उर्दू लिपि का बोझ डालकर उनके साथ विशेष अन्याय करेगी, और उतनी सफलता भी कदापि प्राप्त न कर सकेगी जो उसने गत २५ वर्षों में प्राप्त की है। वह कदाचित् उतनी लोक-प्रिय भी न रहेगी। एक बहुत बड़े नेता की बात भी प्रकृति से ज्यादा देर तक नहीं लड़ सकती। दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा अपना कलेवर बदलने से पहले एक बार ठंडे दिल से फिर विचार कर ले।

परिशिष्ट ८

महाराष्ट्र में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का संघर्ष क्यों ?

(लेखक—ग० स० आपटे)

पिछले दिनों महात्मा गांधी के पूना में निवास करने तथा समय समय पर नेताओं के आगमन से राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्य में कुछ सरगर्मी दिखाई देने लगी है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा संचालित राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के हिन्दी प्रचार का कार्य यहाँ काफी अरसे से हो रहा है और पूना तो उसका एक गढ़ सा बन गया है। राष्ट्रभाषा प्रचार की शिक्षाओं में महाराष्ट्र प्रांत के काफ़ी विद्यार्थी परीक्षा देते और उत्तीर्ण होते आये हैं। महाराष्ट्र के अच्छे से अच्छे विद्वानों का इस कार्य में बराबर सहयोग रहा है, किन्तु जब से गांधी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अलग हुए हैं तब से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का भी काम यहाँ जोरों से शुरू हो गया है। महाराष्ट्र के कांग्रेस नेता श्री शंकरराव देव तथा बंबई के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री बी० जी० खेर, श्री दत्तो वामन पोद्दार, आदि नेता और विद्वान हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के काम में पूरा सहयोग दे रहे हैं, इससे इस ओर काफी प्रगति दिखाई दे रही है। पहले तो हिन्दुस्तानी प्रचार का काम यहाँ एकदम ठप्प सा हो गया था क्योंकि अकेले काका साहब कालेलकर कहाँ तक इसका भार वहन कर सकते थे, किन्तु जब से उसे देश की कुछ महान् शक्तियों का बल मिला है तब से हिंदुस्तानी प्रचार के काम में चेतना आई है। इसका यह मतलब नहीं है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के काम में किसी तरह की शिथिलता आ गई हो, किन्तु आज के वातावरण से यह

साफ़ ज़ाहिर हो गया है कि महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा प्रचार आन्दोलन के कार्य में एक किस्म का संघर्ष आरम्भ हो गया है। एक ओर हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और दूसरी ओर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति अपने अपने उसूलों के अनुसार राष्ट्रभाषा के काम में लगी हुई हैं। पूना में अब दो दल स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। एक हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्यों में सहयोग देने लगा है, और दूसरा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य कर रहा है।

मुझे तो आश्चर्य होता है कि हिन्दी के पत्रकारों को यह पता भी नहीं है कि महाराष्ट्र में इस समय राष्ट्रभाषा संबंधी प्रगति किधर जा रही है। हिन्दी पत्रकार केवल हिन्दी के नाम पर धारोधार आँसू बहा सकते हैं या आपसी तू-तू मैं-मैं में पत्रों के कालम रँग सकते हैं, किन्तु वे शायद यह नहीं जानते हैं कि इस वक्त महाराष्ट्र में हिन्दी आन्दोलन का मुहड़ा थामने की बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी वालों को यह पता नहीं है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परीक्षाओं के समान ही हिन्दुस्तानी प्रचार सभा ने भी महाराष्ट्र में प्रचारक परीक्षायें प्रारम्भ कर दी हैं। दोनों की परीक्षाओं के नाम भी एक ही से हैं। हाँ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की परीक्षाओं के फार्मों के नामों में परिवर्त्तन है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा संगठित महाराष्ट्र की प्रचार समिति के कई विद्वान् और प्रचारक हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्य में शरीक हो गये हैं। आचार्य दत्तो वामन पोद्दार इसके प्रधान हैं।

पिछले दिनों श्री भदन्त कौसल्यायन पूना आये थे और एक समान परीक्षाओं की प्रतिद्वंद्विता देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पुरानी की जगह एक नई समिति संगठित की है जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा होने वाली परीक्षाओं का संचालन और सम्मेलन की नीति के अनुसार राष्ट्र-भाषा-प्रचार का काम करेगी। श्रीयुत नने पहले राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से काम करते थे, किन्तु अब वह हिन्दुस्तानी प्रचार समिति में

शरीक हो गये हैं। उनके स्थान पर श्री सोनू ताई काले की नियुक्ति हुई है। नूतन मराठी विद्यालय के कुछ प्रमुख अधिकारी भी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्य में सहयोग दे रहे हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी प्रचार समिति के आदर्शों में चूँकि भिन्नता है, इसलिये संघर्ष होना अनिवार्य भी है। हिन्दुस्तानी प्रचार समिति के पास धन की कमी नहीं, और राष्ट्र तथा महाराष्ट्र के नेता उसके साथ हैं। दूसरी ओर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के पास धन तो नहीं है, किन्तु श्रेष्ठ कार्य-कर्त्ताओं का उसमें अभाव नहीं है। इन संस्थाओं के वर्त्तमान संघर्ष का क्या फल होगा, इस पर कोई भविष्यवाणी तो नहीं की जा सकती, किन्तु हिन्दी-पत्रकार और हिन्दी के धनी-धोरी अगर अपनी कुल्हड़ में गुड़ फोड़ने की नीति को त्याग कर सचेत न हुए तो एक न एक दिन मद्रास की भाँति महाराष्ट्र भी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रचार-क्षेत्र से अपने को स्वतन्त्र बना लेगा। क्योंकि बेचारे भदंत जी अकेले कहाँ कहाँ प्राण देते फिरेंगे ?

मैंने यह विचार आपके पत्र द्वारा इसलिये व्यक्त किये हैं कि 'देशदूत' हिन्दी जनता में हिन्दी का प्रबल समर्थन और व्यापक प्रचार करता आया है। उसके द्वारा हिन्दी संसार को यह ज्ञात हो कि महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा की प्रगति आज किधर जा रही है, हिन्दी वालों के कानों तक यह समाचार पहुँचे तो!

(२ दिसम्बर, १९४५ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट ६

महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा का प्रचार

(लेखक—श्री सूर्यप्रकाश एम० ए०)

गत १६ दिसम्बर के 'देशदूत' में श्रीयुत श्रीपाद जोशी का पत्र पढ़कर खेद भी हुआ और ग्लानि भी। न मालूम बेचारे सम्मेलन ने क्या अपराध किया है कि हर किसी ने उसे गाली सुनाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझ लिया है। जोशी जी पूछते हैं, "हिन्दी साहित्य सम्मेलन राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में अपनी टाँग क्यों अड़ाता है ?" जोशी जी को टाँग अड़ाने का अधिकार है, उनकी महाराष्ट्र प्रचार समिति को अधिकार है, परन्तु करोड़ों हिन्दी भाषी जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन को नहीं ! मानों हिन्दी का क्षेत्र देश में है ही नहीं, और उस क्षेत्र के निवासियों का राष्ट्रभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं ! हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम केवल 'हिन्दुस्तानी साहित्य' की उन्नति और विकास करना न होकर राष्ट्र-भाषा के मामले में हस्तक्षेप करना हो सकता है, परन्तु हिन्दी साहित्य सम्मे-लन अपना वर्तमान नाम रहते इस मामले में नहीं बोल सकता ! हिन्दुस्तानी प्रचार सभा अपनी परिभाषा की राष्ट्रभाषा का प्रचार सम्पूर्ण भारत में कर सकती है, परन्तु सम्मेलन को अपनी परिभाषा की राष्ट्रभाषा का अहिन्दी प्रान्तों में प्रचार करने का अधिकार नहीं ! ऐसा करना उसके लिये 'जिद' है !

सम्मेलन आज भी वही कर रहा है जो २५ वर्षों से करता आ रहा है। महात्मा गांधी को भी उसकी नीति मान्य रही है। गांधी जी के सम्मेलन से त्याग-पत्र देते ही गांधीजी के भक्तों की दुनिया एकदम बदल गई, और सम्मेलन

अराष्ट्रीय हो गया ! उनकी हिन्दुस्तानी की परिभाषा भी 'कांग्रेस की परिभाषा' हो गई ! क्या जोशीजी बतलाने की कृपा करेंगे कि कांग्रेस ने किस प्रस्ताव में राष्ट्रभाषा की परिभाषा दी है, और क्या देश के पाकिस्तानी प्रान्त भी अब तक गांधी जी के कारण सम्मेलन को 'खिराज' देते रहे हैं और अब गांधी जी के हट जाने के कारण हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को खिराज देने लगे हैं ? क्या जोशी जी को विश्वास है कि हिन्दुस्तानी की परिभाषा को पाकिस्तानी प्रान्तों ने मान लिया है, अथवा क्या उनके 'सारे देश' में ये प्रान्त और ये लोग शामिल हैं ही नहीं ?

जोशी जी कहते हैं कि महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बन्ध नहीं है और उसकी परिभाषा भी अलग है। सम्बन्ध नहीं है तो हो जायगा। परिभाषा भी शीघ्र वही हो जायगी। इसीलिये तो वह सम्मेलन से अलग हुई है। परिभाषा में और पाठ्य-क्रम में परिवर्तन करते करते ही तो होगा। अभी तो पाठ आरम्भ हुआ है।

विभिन्न प्रान्तों की राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ अलग अलग होकर अलग अलग परिभाषा को मानकर चाहे जिस भाषा का अपने अपने प्रान्त में प्रचार करें, परन्तु वे उन्हें 'राष्ट्रभाषा' कैसे कह सकती हैं ? महाराष्ट्र की जोशी जी वाली राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ही अपने आपको इस नाम से क्यों सम्बोधित करती है ? क्या उसे विश्वास है कि देश के हिन्दी प्रान्तों तथा अन्य प्रान्तों ने भी उसकी परिभाषा को मान लिया है ? जोशी जी के महाराष्ट्र ने यह कैसे समझ लिया कि हिन्दी प्रान्तों को अहिन्दी प्रान्त पर अपनी राष्ट्रभाषा लादने का अधिकार नहीं है लेकिन अहिन्दी प्रान्तों को हिन्दी प्रान्तों तथा अन्य प्रान्तों पर अपनी परिभाषा लादने का अधिकार है ?

हिन्दुस्तानी आन्दोलन से जो होना था सो हो रहा है। प्रत्येक प्रान्त की अलग अलग परिभाषा होगी, एक एक प्रान्त में दो-दो राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ हो जायँगी, और 'हिन्दुस्थान' की राष्ट्रभाषा खटाई में पड़ जायगी।

इसके बरक्स ज़रा पाकिस्तान पर नज़र डालिये। उसने अपनी राष्ट्रभाषा उर्दू पहले से ही बना ली है। वहाँ न किसी ने उर्दू के मामले में चीं-चपड़ की (बल्कि कहिये उन्होंने आग्रह दिखलाया), और न पाकिस्तानियों में आपस में राष्ट्रभाषा के मसले को लेकर झगड़ा हुआ। पाकिस्तानियों ने न गांधी जी की पहले वाली राष्ट्रभाषा को माना था और न उन्हें गांधी जी की नई परिभाषा से कोई सरोकार है और न होगा—उन्हें जरूरत ही क्या है? (यदि जोशीजी को इसमें सन्देह है तो वे पंजाब, सीमा-प्रान्त और सिंध की सरकारों से अब या कभी भविष्य में देवनागरी लिपि भी, और अपनी ५०-५० प्रतिशत वाली अथवा 'आमफहम' हिन्दुस्तानी मनवा देखें)। 'हिन्दुस्थान' में अलबत्ता 'राष्ट्रवादी' राष्ट्र-भाषा के टुकड़े टुकड़े कर डालें, उर्दू और उर्दू-लिपि की प्रतिष्ठा करें, 'कांग्रेस परिभाषा में निवास करने वाले' मराठे प्रतिवर्ष हज़ारों रुपये देकर महाराष्ट्र में उर्दू और उर्दू-लिपि का प्रचार करें, और 'हिन्दुस्थान' की राष्ट्रभाषा भी उर्दू बनावें, क्योंकि वह तभी पाकिस्तान और 'हिन्दुस्थान' दोनों की कामन 'आमफहम' हिन्दुस्तानी होगी, अन्य कोई उपाय नहीं। ईश्वर हिन्दुओं को शीघ्र सद्बुद्धि प्रदान करे!

जोशीजी अच्छी तरह समझ लें कि महाराष्ट्र के जिन व्यक्तियों ने गांधीजी के पीछे आँख मूँद कर, राष्ट्रीयता की दुहाई देते हुये चलना ही अपना धर्म नहीं समझ लिया है, उन्हें सम्मेलन से सहयोग पाने का अधिकार है, और उन व्यक्तियों को अपना सहयोग देना सम्मेलन तथा हिन्दी भाषी जनता का कर्त्तव्य है। जोशीजी यह भी समझ लें कि यदि उनकी प्रचार-समिति को भी खड़ी बोली, जिसको वे हिन्दुस्तानी कहते हैं, के ही आधार पर राष्ट्रभाषा बनाना है तो उसे भी झख मार कर हिन्दी भाषियों की भाषा और साहित्य को आदर्श मानना पड़ेगा—यदि उसे एक जीवित राष्ट्रभाषा और एक जीवित साहित्य अभीष्ट हैं तो। जोशीजी यह विश्वास रक्खें कि महाराष्ट्र में सम्मेलन की परिभाषा वाली राष्ट्रभाषा का प्रचार पहले भी

महाराष्ट्रों ने किया था और अब भी वे ही करेंगे। सभावाद और कांग्रेसवाद का भेद करना व्यर्थ है। 'राष्ट्रीयता' केवल जोशीजी और उनकी प्रचार-समिति के ही पल्ले नहीं पड़ी है। यदि मौलाना आज़ाद सरीखे नेता अंजुमन-तरक्की-उर्दू, जो उर्दू को राष्ट्रभाषा मानता है, के सदस्य होते हुये कांग्रेस में रह सकते हैं तो परम राष्ट्रीय वृत्ति के व्यक्ति सम्मेलन में रह सकते हैं। 'राष्ट्रीयता' हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वालों की बपौती नहीं है। गांधीजी ने भी सम्मेलन को अराष्ट्रीय बतलाने का साहस नहीं किया है। श्री मुंशी के कथनानुसार जिसके सिद्धान्त में सत्य होगा अन्त में उसी की विजय होगी। श्री जोशीजी धैर्य धारण करें। उन्हें जो अच्छा लगे, वह अवश्य करें, परन्तु दूसरे जो करना चाहें उसे यदि वे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अराष्ट्रीय कहकर स्वयं बड़े बनने का लोभ संवरण कर सकें तो अच्छा हो। वे यह भी याद रक्खें कि वे जिस ओज और शक्ति से बातें करते हैं वह उनकी अपनी नहीं बल्कि उधार ली हुई है।

अन्त में हम जोशीजी से इतना और पूछना चाहेंगे कि जिस भाषा में उन्होंने अपना पत्र लिखा है वह 'साहित्यिक हिन्दी' है अथवा 'आमफहम हिन्दुस्तानी'? यदि वह 'आमफहम हिन्दुस्तानी' है, तो उनकी और हमारी परिभाषा में कोई अन्तर नहीं, केवल नाम का भेद है जो कोई बड़ी बात नहीं, इसलिये महाराष्ट्र की दोनों प्रचार समितियों को हाथ मिला लेना चाहिये। यदि वह 'साहित्यिक हिन्दी' है, तो अच्छा होता यदि वे उसे 'आमफहम हिन्दुस्तानी' में लिखते। 'सारे देश' को मालूम तो हो जाता कि वह अब किस 'आमफहम हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा मानने लगा है, देश के ४० करोड़ में से कितनों के लिये वह 'आमफहम' है, अथवा 'साहित्यिक हिन्दी' समझने वालों से कितने अधिक नर नारियों के लिये वह 'आमफहम' है, और वह किस लायक है? (परन्तु गांधीजी तो कहते हैं कि 'सरस्वती' अभी प्रकट होने को है। प्रकट होने से पहले ही वह 'आमफहम' कैसे हो गई?)

खैर, कोई बात नहीं, अगला पत्र 'आमफहम हिन्दुस्तानी' में भेजें, और यदि कोई और पत्र नहीं भेजना है तो इसी पत्र का 'आमफहम हिन्दुस्तानी' में अनुवाद करके भेजें। हमें विश्वास है 'देशदूत' के सम्पादकजी उसे छाप देंगे परन्तु शर्त यह है कि वह छपेगा केवल एक लिपि देवनागरी में ही।

(३० दिसम्बर, १९४५ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट १०

महाराष्ट्र की राष्ट्रभाषा समस्या

(लेखक—श्रीगङ्गाधर इन्दूरकर)

"........हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्यालय मन्त्री श्री श्रीपाद जोशी का एक पत्र 'देशदूत' के पिछले एक अंक में प्रकाशित हुआ था। उसमें जोशी जी ने महाराष्ट्र में इस समय होनेवाले राष्ट्रभाषा सम्बन्धी मतभेद की चर्चा करते हुये सम्मेलन को साम्प्रदायिकतापूर्ण कहने का प्रयत्न किया है। आपने जिस ढंग से सम्मेलन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे उसके संबंध में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता। हाल ही में मैं अपने निजी काम से पूना गया था। रास्ते में वर्धा में भी रुका था। जब वर्धा में जोशीजी से मेरी मुलाकात हुई तब आपने कहा था कि हम लोगों ने अब यह निश्चय कर लिया है कि 'सम्मेलन साम्प्रदायिक संस्था है' इस बात का प्रचार किया जाय। क्या हम पूछ सकते हैं कि आप का यह निश्चय हिंदुस्तानी प्रचार सभा के किसी जिम्मेदार अधिकारी की अनुमति से हुआ है, या स्वयं उनके दिमाग की उपज है? आपके इस निश्चय से आपके कथन को कितना महत्व दिया जाय यह सोचने की बात है।

महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की परीक्षाओं द्वारा राष्ट्रभाषा हिंदी का काफी प्रचार हुआ है। प्रति वर्ष केवल महाराष्ट्र से राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में लगभग १४-१५ हज़ार विद्यार्थी बैठते हैं। महाराष्ट्र के कार्यकर्ता हिंदी का काम सम्मेलन के ही विचारों के अनुसार करते हैं। महात्माजी के सम्मेलन से अलग होने के बाद भी महाराष्ट्र के लोग सम्मेलन के विचारों

से सहमत रहे हैं। इस प्रकार महाराष्ट्र में सम्मेलन की अभी काफी शक्ति है। हिंदुस्तानी का प्रचार करने वाले कार्यकर्ताओं को स्पष्ट कहा जाय तो यह असह्य हो गया है, और उन्होंने मतभेद के बीज बोने शुरू कर दिये हैं। दुर्भाग्य से वे महाराष्ट्र सम्मेलन के कार्यकर्ताओं को फोड़ने में भी सफल हुये हैं। हमारी समझ में महाराष्ट्र की विचारधारा हिंदुस्तानी को स्वीकार नहीं कर सकती। महाराष्ट्र को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का वर्धा समिति से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने का यही रहस्य है। सम्मेलन की शक्ति महाराष्ट्र में नष्ट करने के बाद हिंदुस्तानी प्रचार का कार्य सरल हो जायगा। हिंदुस्तानी के पृष्ठपोषकों का और कार्यकर्ताओं का इसमें षड्यन्त्र है। इसके मेरे पास अनेक प्रामाणिक सबूत हैं। केवल दुख इस बात का है कि महाराष्ट्र के अनेक प्रामाणिक कार्यकर्ता इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं। सम्मेलन से अलग हुई महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष श्रीदत्तोवामन पोतदार अत्यन्त प्रामाणिक व्यक्ति है। उन्हें ऐसा लगता है कि राष्ट्रभाषा केवल बोलचाल की भाषा है। उन्हीं के शब्दों में ताँगेवालों की भाषा समझने के लिये ही राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है ; यदि राष्ट्रभाषा का अधिक प्रचार होगा तो मराठी भाषा के अस्तित्व पर खतरा आयेगा। पोतदारजी मराठी के एक प्रमुख साहित्यिक होने के नाते मराठी की रक्षा के लिये जी जान से प्रयत्न करना चाहते हैं। महाराष्ट्र में श्रीपोतदारजी का एक विशेष स्थान है। श्रीपोतदार के नाम का उपयोग करके महाराष्ट्र के लोगों को बहकाने में परदे की आड़ से हिंदुस्तानी के प्रचारक इस समय अवश्य सफल होरहे हैं। जब परदे की जरूरत न समझी जायगी, और महाराष्ट्र से सम्मेलन की शक्ति यदि कम होगई तो श्रीपोतदारजी की क्या स्थिति होगी, इसे विधाता ही जाने।

जिन्हें सिद्धान्त का विशेष आकर्षण नहीं है, उन्हें विशेष लोभ देकर सम्मेलन के संगठन से अलग करने का प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्ष की

वर्तमान ग़रीबी में पैसे का बड़ा महत्त्व है। किसी घर में अधिक पैसा देखकर बाप-बेटे या भाई-भाई को लड़ाने के लिये जो चालें चली जाती हैं, उन्हीं सबको पुनरावृत्ति महाराष्ट्र में की जा रही है। इस काम के लिये हिंन्दुस्तानी के समर्थकों को हिंदी का मोहरा मिल गया है। राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य में बनारस से गये हुये श्री गो० प० नेनें विशेष क्रियाशील हैं।

महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों ने पोतदार समिति को राष्ट्रीय और सम्मेलन के प्रयत्नों को अराष्ट्रीय कहना शुरू कर दिया है। इतना ही नहीं, सम्मेलन को हिन्दू-सभावादी संस्था बनाया जा रहा है। जिनको राष्ट्रभाषा के कार्य की जानकरी नहीं, जो राष्ट्रभाषा बोल नहीं सकते, जिन्हें वर्तमान मतभेदों से कुछ लेना देना नहीं, ऐसे कांग्रेसी नेताओं के हस्ताक्षर से एक विज्ञप्ति निकाली जाती है जिसमें राष्ट्रीयता की दुहाई देकर पोतदार समिति को सहायता देने की माँग की जाती है। इसका तात्पर्य महाराष्ट्र के राष्ट्रभाषा हिन्दी के कार्यकर्ताओं में बुद्धि-भेद पैदा करना नहीं तो और क्या है?

सम्मेलन की ओर से इस समय महाराष्ट्र में जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति काम कर रही है, उसके समाचार छापना कांग्रेसवादी पत्रों ने बन्द कर दिया है। ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के हिन्दू-सभावादी पत्र यदि उसके समाचारों को छापते हैं, तो यह कहा जाता है कि सम्मेलन हिन्दू सभावादी संस्था है, नहीं तो उसके समाचार हिन्दू सभावादी पत्र क्यों छापते ?— वास्तव में राष्ट्र में राष्ट्रभाषा प्रचार की समस्या विकट रूप धारण करती जा रही है। इस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन क्या कर रहा है, हमें पता नहीं। केवल कार्य समिति अथवा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा किसी प्रकार के प्रस्ताव पास कर देने से ही काम न चलेगा।"

(३ फरवरी, १९४६ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट ११

महाराष्ट्र की राष्ट्र-भाषा समस्या

(लेखक—श्री सूर्यप्रकाश एम० ए०)

"———महात्माजी बंगाल, मद्रास और महाराष्ट्र के निवासियों को उर्दू लिपि सीखने का उपदेश देते हैं, परन्तु सिन्ध, पंजाब और सीमा-प्रान्त के निवासियों को देवनागरी सीखने के लिये नहीं कहते। महाराष्ट्र और मद्रास में हिंदी जानने वालों को उर्दू सिखाने के लिये हिंदुस्तानी प्रचार सभाओं की स्थापना होती है, परन्तु सिन्ध, पंजाब, आदि में उर्दू जानने वालों को हिन्दी सिखाने के लिये कुछ करना आवश्यक नहीं समझा जाता। हिन्दुस्तानी वाले चाहे यह चाहते हों या न चाहते हों, इसका फल केवल यही होगा कि वास्तविक राष्ट्र-भाषा होगी उर्दू और वास्तविक राष्ट्र-लिपि होगी फारसी लिपि। उस समय पोतदार जी मराठी की रक्षा के लिये क्या करेंगे ?

एक बात महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति के अध्यक्ष श्री पोतदार से भी कहना चाहता हूँ। मराठी भाषा के अस्तित्व पर हिन्दी से नहीं वरन् हिंदुस्तानी से खतरा है। हिन्दी और मराठी तो सगी बहनें हैं। हिन्दी और मराठी की क्रियाओं और विभक्तियों का सम्मिश्रण तो हो ही नहीं सकता, अधिक से अधिक हिन्दी की शब्दावली का मराठी पर प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु हिन्दी और मराठी की शब्दावली समान है और दोनों का एक ही स्रोत है। यदि मराठी के कुछ शब्दों में अदल-बदल हो भी जाय तो इससे मराठी के स्वरूप और संस्कृति में कोई अन्तर नहीं आवेगा। परन्तु आज जिस प्रकार अँगरेज़ी के प्रभाव के कारण भारतीय भाषाओं में

अँगरेज़ी शब्द घुसते चले जा रहे हैं उस प्रकार जब हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी के प्रभाव के कारण मराठी में उर्दू शब्दों का प्रवेश होगा, उस दिन पोतदारजी समझेंगे कि उन्होंने अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी। जब महाराष्ट्र के लोग हिन्दुस्तानी के नाते देवनागरी और उर्दू लिपि दोनों सीख जायँगे और महाराष्ट्र के मराठी भाषी मुसलमान उर्दू लिपि में मराठी लिखना आरम्भ करेंगे तब पोतदार जी के किये कुछ न होगा, और उनकी सन्तान उन्हीं को कोसेगी कि उन्होंने अपने हाथों हिन्दी-उर्दू का सा झगड़ा मराठी में उत्पन्न किया। पोतदार जी तथा मराठी के अन्य शुभचिन्तक भली भाँति सोच देखें जिससे उन्हें बाद में पछताना न पड़े। हम हिन्दी वाले मराठी की परमोन्नति चाहते हैं और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी वाली राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के कर्णधारों को यह चेतावनी देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। संस्कृत के द्वारा जिस प्रकार हमारे पुरखों ने राष्ट्र की भाषा-एकता तथा सांस्कृतिक एकता साधी थी, उसी प्रकार आज सम्मेलन हिन्दी द्वारा भाषा तथा संस्कृति-की एकता साधना चाहता है। यदि उनका यही विश्वास है कि राष्ट्र-भाषा के अत्यधिक प्रचार से मराठी को हानि पहुँचेगी, तो इसके लिये हिन्दी का बाना उतार कर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करने की जरूरत नहीं, और देवनागरी के साथ उर्दू लिपि का प्रचार करने की जरूरत नहीं। वे सरल हिन्दी का प्रचार करें। वही ताँगे वालों की, और मजदूर किसानों की भाषा है। और देवनागरी तो वे मराठी की लिपि होने के कारण जानते ही हैं। यदि उनको उर्दू लिपि द्वारा विनाश का बीज बोना ही अभीष्ट है, तो उनकी इच्छा। इस लिपि-विभाजन के फल को हम हिन्दी वाले तो भोग ही रहे हैं, वे भी चख देखें।"

महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों के विषय में क्या कहा जाय? प्रत्येक पत्र का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि वह प्रत्येक घटना की खबर जनता को

निष्पक्ष हो कर दे, उसके बाद उस पर चाहे जैसी टिप्पणी अपनी ओर से करे। परन्तु महाराष्ट्र के कांग्रेसी पत्रों ने सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति के समाचार छापना ही बन्द कर दिया है। यह खुलेआम फैसिज्म है जो अपने विरोधी का अस्तित्व तक सहन नहीं कर सकता। ये पत्र हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग के समाचार छापना निषिद्ध नहीं समझते, परन्तु राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के समाचार नहीं छाप सकते। इसका कारण शायद यह है कि वे हिन्दू महासभा को कमज़ोर समझते हैं, उससे नहीं डरते, परन्तु सम्मेलन की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से डरते हैं। परन्तु अपने बलवान प्रतिद्वन्द्वी को धराशायी करने का यह तरीका कांग्रेस और हिन्दुस्तानी-वाद का नाम किसी प्रकार उज्ज्वल नहीं कर सकता। इन पत्रों की इस मनोवृत्ति के विरुद्ध और उनके षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ करने के लिये तथा हिन्दी की मान-रक्षा के लिये हिन्दी भाषियों, हिन्दी पत्रों तथा हिन्दी प्रान्तों के पत्रों का क्या कर्त्तव्य है, इसे वे ही सोच देखें।

(३१ मार्च, १९४६ के 'देशदूत' से)

परिशिष्ट १२

भारत की राष्ट्रभाषा की समस्या

(लेखक—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन)

अन्य किसी भी प्लेटफार्म की अपेक्षा मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्लेटफार्म से कुछ भी कहने में अधिक प्रसन्नता होती है। इस प्लेटफार्म पर खड़े होकर बोलते समय मैं अनुभव करता हूँ कि बोलने वाले के पैरों में न किसी धार्मिक सम्प्रदायवाद की बेड़ी पड़ी है और न किसी राजनीतिक सम्प्रदाय की।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन कुछ विचारों का नाम है और एक विशिष्ट संगठन का। किसी खेत का और उसकी काँटेदार बाड़ का जो सम्बन्ध है वही किसी संस्था के विचारों और उसके संस्थान का। खेत के गिर्द यदि बाड़ न हो तो उसे कोई भी चर जा सकता है—और यदि खेत की उपज इस योग्य ही न हो कि उसके गिर्द बाड़ लगाई जाय तो बाड़ बेकार है। उसी प्रकार यदि विचार-विशेष की रक्षा करने वाला कोई मज़बूत संगठन न हो तो विचार छिन्न भिन्न हो जाता है, और यदि विचार ही दो कौड़ी का हो तो उसकी रक्षा करने वाले संगठन का कोई मूल्य नहीं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने स्थापना-दिवस से, जिसे आज पूरे पैंतीस वर्ष हो गये हैं, राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरी का प्रचारक रहा है। उसकी प्रथम नियमावली में ही 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' और 'राष्ट्र-लिपि नागरी' शब्द आये हैं। उसके इस कथन का विरोध अँगरेज़ी ने करना चाहा, लेकिन उसने बता दिया कि जब तक विदेशी हुकूमत है तब तक अँगरेज़ी भले ही शासन की भाषा अथवा राजभाषा बनी रहे किन्तु वह

हिन्द की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। उर्दू की ओर से भी यह आवाज़ बुलन्द हुई कि उर्दू ही इस देश की कौमी ज़बान है। हिन्दी का उर्दू से कोई विरोध नहीं, विरोध हो ही नहीं सकता। हिन्दी उर्दू के सर्वनाम, प्रत्यय, क्रियायें सब कुछ एक हैं। हिन्दी अपनी ही एक शैली उर्दू का विरोध कैसे करे? परन्तु पिछले वर्षों हिन्दी का जो राष्ट्रव्यापी प्रचार हुआ है उसने हिन्दी का देश में जो स्थान है वह निश्चित कर दिया और उसके साथ उर्दू का भी। भारतवर्ष में ही नहीं, मैं तो कहता हूँ संसार के इतिहास में यह एक असाधारण बात है कि दक्षिण और शेष भारत के लाखों अहिंदी भाषा भाषी विद्यार्थी राष्ट्रभाषा हिन्दी के अध्ययन में लगे हुये हैं और उसकी परीक्षायें पास कर रहे हैं और ऐसी परीक्षायें कि जिनके पास करने के साथ किसी सरकारी नौकरी, आदि मिलने का लालच नहीं जुड़ा हुआ है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की इस प्रगति को उसके आज तक के समर्थक भी यदि चाहें तो अब नहीं रोक सकते।

यह सब सही है लेकिन अँगरेज़ी और उर्दू के बाद इधर दो तीन वर्ष से एक नई विचार-धारा ने अपना सिर उठाया है। उसका नाम है हिन्दुस्तानी विचार-धारा। जिस प्रकार किसी बोतल पर लगा हुआ लेबिल बना रहे लेकिन उसके अन्दर की चीज़ बदल जाय वही हाल हिन्दुस्तानी लेबिल का है। हम इस शब्द को हिन्दी के साथ-साथ काम में लाते रहे हैं—जैसे 'हिंन्दी हिन्दुस्तानी', और यह हिन्दी का पर्यायवाची भी रहा है, जैसे "हिन्दी 'अथवा' हिन्दुस्तानी"। लेकिन इधर इस 'अथवा' में आमूल परिवर्तन हो गया है। पहले इसका मतलब था कि चाहे हिन्दी कहो, चाहे हिन्दुस्तानी कहो, बात एक ही है। लेकिन अब इस 'अथवा' का अर्थ किया जा रहा है कि हिन्दी और हिंन्दुस्तानी दोनों में से किसी एक का चुनाव करना होगा। यदि हिन्दी का, तो हिन्दुस्तानी का नहीं, और यदि हिन्दुस्तानी का, तो हिन्दी का नहीं।

हमारे इस प्रान्तीय सम्मेलन के द्वार पर आप सबने देखा होगा लिखा है 'जय हिन्द'। यह इस समय का हमारा राष्ट्रीय उद्घोष है। जिस प्रकार हम 'जय हिन्द' कहते हैं उसी प्रकार हमें 'जय हिन्दी' भी कहना चाहिये।

हम हिन्दी वाले वर्षों से प्रचार करते आये हैं कि चूँकि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है इसलिए प्रत्येक हिन्दी को, प्रत्येक भारतवासी को इसे सीखना चाहिये। इस नई विचार-धारा ने जिससे हमें सावधान रहना चाहिये कहना शुरू किया है कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। यह ठीक है कि हिन्दी हिन्दुओं की भी भाषा है किन्तु हिन्दुओं की ही नहीं—और इसी प्रकार उर्दू भी मुसलमानों की ही नहीं। सर तेजबहादुर सप्रू उर्दू के सुप्रसिद्ध समर्थक हैं। वे मुसलमान नहीं, काश्मीर के ब्राह्मण हैं। और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की मुख्य पत्रिका 'हमारी ज़बान' के सम्पादक भी श्री व्रजमोहन दत्तात्रेय हैं। उर्दू लिपि में आपका गोत्र ठीक ठीक लिखा ही नहीं जा सकता। कोई भी भाषा किसी धर्म की बपौती नहीं। जो लोग हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कहकर और उसी प्रकार उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह कहकर हिन्दुस्तानी के द्वारा हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के सम्पादन की बात करते हैं, मुझे भय है कि इतिहास ऐसे लोगों को साम्प्रदायिकता के असाधारण प्रचारक न सिद्ध करे।

'हिन्दी' के राष्ट्रभाषा होने पर एक और आपत्ति उठाई जा रही है। उसके गुण को उसका दोष कहा जा रहा है। कहा जाता है कि ऐसी भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, जिसमें न संस्कृत के शब्द हों, न अरबी फारसी के। यदि हमारी राष्ट्रभाषा को वह सब काम करने हैं जो आज दिन हम अँगरेज़ी के माध्यम से करते हैं तो ऐसी भाषा जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हों न अरबी फारसी के, हमारे लिये तीन कौड़ी काम की भाषा होगी। हमें यह निर्णय करना ही होगा कि विशेष शब्द आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होने पर कहाँ से लें? स्याम में बैंक को 'धनागार' कहते हैं और नोट को

'धन-पत्र'। हम भारत में यदि इसी प्रकार बोलें और लिखें तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?

एक और मज़े की आपत्ति यह है कि लोगों की मातृभाषा हिन्दी में और लोगों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में अन्तर होना चाहिये। अर्थात् जो हिन्दी किसी की मातृभाषा है वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। स्काटलैंड और वेल्स के लोगों का अँगरेज़ी से वही सम्बन्ध कहा जा सकता है जो मराठी भाषा-भाषी अथवा गुजराती भाषा-भाषी लोगों का हिन्दी से है। इंगलिश इंगलैंड के लोगों की मातृभाषा होते हुये भी सारे ब्रिटेन की राज्य-भाषा है और सारे ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा। अब क्या एक तरह की अँगरेज़ी अँगरेज़ों की मातृभाषा और दूसरी तरह की अँगरेज़ी ब्रिटेन की राष्ट्रभाषा और तीसरी तरह की अँगरेज़ी ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्यभाषा है ? अँगरेज़ी अँगरेज़ी है। आप उसे चाहे मातृभाषा मानकर सीखें, चाहे राष्ट्रभाषा मानकर सीखें चाहे साम्राज्यभाषा मानकर सीखें। किन्तु हम पराधीन हिन्दुओं को सुझाया जाता है कि हिन्दी के दो रूप होने चाहिये— एक मातृभाषा वाला रूप, एक राष्ट्रभाषा वाला रूप। सच्ची बात यह है कि मातृभाषा के अर्थ में तो हिन्दी भारत के कुल चार-पाँच ज़िलों की भाषा होगी, शेष समस्त भारत की तो हिन्दी राष्ट्रभाषा ही है। और उसका स्वरूप निश्चित है। हमें आज उसका प्रचार करना है, उसमें नये आवश्यक ग्रन्थों का निर्माण करना है और जो काम हमें नहीं करने बैठना है वह है उसके स्वरूप की चर्चा।

फिर यह भी कहा जाने लगा है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन को क्या अधिकार है कि वह देश की राष्ट्रभाषा का निर्णय करे—यह काम तो हमारी राष्ट्रीय सरकार का है और जब तक उसकी स्थापना नहीं होती तब तक राष्ट्रीय महासभा का है। सरकार, चाहे फिर वह राष्ट्रीय ही क्यों न हो, किसी पर कोई भाषा लाद नहीं सकती। श्रीशिवप्रसाद गुप्त ने जब

काशी विद्यापीठ जैसी राष्ट्रीय संस्था के लिये दस लाख रुपये का दान दिया तो उस दान की शर्तों में एक शर्त यह थी कि यह विद्यापीठ स्वराज्य सरकार से भी कभी किसी प्रकार की सहायता न लेगा। विदेशों में अनेक संस्थायें अपने आपको सरकारी सहायता के दुष्परिणाम से बचाये रखने के लिये प्रयत्नशील रहती हैं। जिस प्रकार शिक्षा को सरकारी प्रभाव से स्वतन्त्र रखने की आवश्यकता है वैसे ही भाषा को भी। कोई सरकार, भले ही वह राष्ट्रीय क्यों न हो, हमें यह नहीं बता सकती कि यह तुम्हारी मातृभाषा है और यह राष्ट्रभाषा। जहाँ तक आज की कांग्रेस की बात है, कांग्रेस ने कभी भी महात्मा गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' की कल्पना—दोनों शैलियों और दोनों लिपियों के अनिवार्य शिक्षण—का समर्थन नहीं किया। कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद तक इस 'हिन्दुस्तानी' की नई कल्पना के साथ नहीं हैं। इतना होते हुये भी जिस बात के साथ महात्मा गांधी का व्यक्तित्व जुड़ जाता है उस पर हम सबको विचार करना अनिवार्य हो ही जाता है। क्योंकि गांधीजी गांधीजी हैं। कौन है जो स्वीकार नहीं करेगा कि पिछले पच्चीस वर्षों का इतिहास महात्मा गांधी का जीवन चरित्रमात्र है।

यूँ भाषा ही मुख्य वस्तु है, किन्तु इस नये हिन्दुस्तानी आन्दोलन ने भाषा की अपेक्षा लिपियों की ही प्रधानता बढ़ा दी है। हमारे देश की सभी भाषाओं की लिपियाँ नागरी लिपि ही है, केवल उर्दू लिपि या फारसी लिपि एक अपवाद है। राष्ट्रीय एकता के कार्यक्रम में जहाँ एक भाषा की बात की जाती है, वहाँ एक की लिपि नहीं। लिपियों के बारे में कहा जाता है कि बिना दोनों लिपियों के ज्ञान के हम एक कदम आगे बढ़ ही नहीं सकते, और दोनों लिपियों के ज्ञान के प्रसार का मतलब व्यवहार में उर्दू लिपि प्रचार-मात्र ही दिखाई दे रहा है। पिछले दिनों महात्मा गांधी ने यहाँ तक कहा कि "जो उर्दू लिपि को पसन्द नहीं करता वह स्वराज्य नहीं चाहता।" अब महात्माजी के इस कथन को कोई क्या कहे!

हिन्दुस्तानी की इस नई परिभाषा और कार्यक्रम के पीछे जो भावना है वह निस्सन्देह राष्ट्र-हित की ही है, किन्तु किसी कार्यक्रम का हितकर व अहितकर होना भावना पर ही निर्भर नहीं करता, कुछ उस कार्यक्रम पर भी निर्भर करता है। हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में कहा जाता है कि जब हिन्दी वाले उर्दू और उर्दू वाले हिन्दी सीख लेंगे, तब दोनों के मेल से एक नई 'सरस्वती' पैदा होगी। कलियुग में तो आप जानते हैं 'सरस्वती' के पैदा होने की आशा नहीं। मेरा तो जी चाहता है कि यदि किसी का जी न दुखे तो हिन्दुस्तानी की नई विचारधारा की उपमा प्रह्लाद के पिता हिरण्यकश्यप से दूँ। उसे वरदान प्राप्त था कि न दिन में मरूँ, न रात में मरूँ, न अन्दर मरूँ, न बाहर मरूँ, न आदमी के हाथ से मरूँ, न किसी पशु के हाथ से मरूँ। उसका क्या हाल हुआ ? उसी की तरह हिन्दुस्तानी भाषा का भी कहना है कि 'मैं वह भाषा हूँ जिसमें न संस्कृत के शब्द रहते हैं, न अरबी-फारसी के, जो न हिन्दुओं की भाषा है, न मुसलमानों की; और न देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, न उर्दू लिपि में ही।' यह सब हिरण्यकश्यप के नकारात्मक बचाव हैं। अभी तक इस हिरण्यकश्यप रूपी हिन्दुस्तानी के प्रचार के प्रयत्नों का जो प्रभाव देखने में आया है वह इतना ही कि अनेक कार्यकर्त्ताओं में बुद्धि-भेद पैदा हो गया है, और इतना निश्चय से कहा जा सकता है कि यदि हिन्दुस्तानी किसी को कुछ पढा नहीं सकेगी तो अहिन्दी प्रान्तों में कुछ न कुछ लोगों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी पढ़ने से रोक अवश्य सकेगी।

जिनके लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य एक जीवन-व्रत है उनके लिये यह चिन्तन का ही विषय नहीं, कुछ करने का आह्वान है।

(२० जनवरी, १९४६ के 'देशदूत' में प्रकाशित, मध्यप्रांतीय विदर्भ हिंदी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के अवसर पर किये हुये भाषण से)

परिशिष्ट १३

'हिन्दुस्तानी' का वेदान्त

(लेखक—श्री सूर्य प्रकाश एम० ए०)

'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों अथवा अर्ध-समर्थकों में एक दल ऐसे व्यक्तियों का है जो कल तक राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थक थे, हिन्दी और देवनागरी छोड़ कर हिन्दुस्तानी या उर्दू लिपि का नाम नहीं लेते थे, शुद्ध हिन्दी और देवनागरी का प्रचार करते थे, परन्तु जिनका हृदय उनके मस्तिष्क से अधिक बलवान था, और यदि उनका मस्तिष्क राष्ट्र और राष्ट्रीयता के साथ था तो हृदय गांधी के साथ था, और इस लिये जो आज अपने आप को हिन्दुस्तानी के कैम्प में खड़ा पाते हैं। परन्तु पुरानी आदतें जल्दी नहीं छूटतीं, और इसलिये वे अपने आप को नये बन्दोबस्त में फिट करने में ज़रा दिक्कत महसूस करते हैं—हृदय और मस्तिष्क के बीच में एक संघर्ष का अनुभव करते हैं। इस संघर्ष को शान्त करने के लिये, अपने अंतःकरण की आवाज़ को दबाने के लिये, अपने मन को संतोष देने के लिये अर्थात् अपने आप को धोखा देने के लिये उन्होंने एक 'हिन्दुस्तानी वेदांत' की सृष्टि कर ली है। इस वेदांत के अनुसार हिन्दी भी वही है, उर्दू भी वही है, हिन्दुस्तानी भी वही है—तीनों एक ही तत्व हैं अथवा एक ही ब्रह्म-तत्व के तीन नाम हैं, तीनों के उपासक एक ही गति को प्राप्त होते हैं, बस केवल आजकल हिन्दुस्तानी पूजा का अधिक माहात्म्य है और इस कारण उन्होंने अपने इष्ट-देवता (या आराध्य देवी !) राष्ट्र भाषा का नाम भर 'हिंदुस्तानी' रख लिया है। इस दर्शन का दर्शन कीजिये—

मई, १९४६ की 'राष्ट्रभाषा' में श्री आचार्य दादा धर्माधिकारी लिखते हैं—"राष्ट्रभाषा का अर्थ जो बीस पचीस बरस पहले था वह आज नहीं है। पहले राष्ट्रभाषा सिर्फ "हिन्दी" नाम से पहचानी जाती थी, फिर उसका "हिन्दी हिन्दुस्तानी" नामकरण हुआ और अब हिन्दुस्तानी! एक ही राष्ट्रभाषा का भिन्न भिन्न नामकरण इन ५० सालों में हुआ, इसका कारण क्या है? जीवन प्रगतिशील है—वह नित्य गतिमान है। उसकी गति का लक्ष्य है पूर्णता अथवा मृत्यु। राष्ट्रभाषा भी अपने जीवन में प्रगतिशील रही है। यही कारण है कि वह उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशालिनी होती जा रही है। जिसका परिचय हमें उसके बदलते हुये नामों में मिल रहा है।"

इस 'प्रगतिशीलता' का क्या कहना! न मालूम इंगलैंड-भाषा, साम्राज्य-भाषा, संसार-भाषा 'अँगरेज़ी' का नाम उत्तोरोत्तर अधिक शक्तिशालिनी होने पर भी क्यों नहीं बदला! और 'एक ही राष्ट्रभाषा' का भिन्न भिन्न नामकरण कैसा कि, बकौल श्री भदन्त जी, अब या 'हिन्दी' चुन लो या 'हिन्दुस्तानी' चुन लो, या हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह लो या हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में! यह तो स्पष्ट ही है कि 'राष्ट्रभाषा का जो अर्थ बीस-पचीस बरस पहले था वह आज नहीं है'। उस राष्ट्र का भी तो, जिसकी राष्ट्रभाषा से मतलब है, अब वह अर्थ नहीं है। पहले उस राष्ट्र का नाम 'हिन्दुस्तान' था, फिर एक 'फीडरेशन' हुआ और अब एक 'कानफीडरेशन' है। उसमें रहने वाले पहले 'हिन्दुस्तानी' नाम से पहचाने जाते थे, फिर वे 'हिन्दू-मुसलमान' कहलाये और अब 'हिन्दू' और 'मुसलमान'। यह सब 'प्रगतिशीलता', 'पूर्ण राष्ट्रीयता' के लक्ष्य की प्राप्ति का ही द्योतक तो है! इसी कारण 'राष्ट्र' भी उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है! राष्ट्रभाषा के प्रगतिशील, पूर्णता-गामी और उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशालिनी होने की एक और पहचान है। पहले उसकी लिपि केवल

एक थी, अब दो हैं (अथवा क्या 'देवनागरी' और 'फारसी' 'एक ही राष्ट्र-लिपि' का भिन्न भिन्न नामकरण है?), शीघ्र ही तीन (रोमन भी) हो जायँगी। तब वह और 'शक्तिशालिनी' हो जायगी। न मालूम अँगरेज़ी एक ही लिपि से क्यों संतुष्ट है। शायद वह गतिशील नहीं, और मृत्यु को प्राप्त हो रही है!

धर्माधिकारी जी आगे लिखते हैं: "अगर हिन्दुस्तान का हिन्दू कहने लगे कि हम उर्दू नहीं बोलेंगे और हिन्दुस्तान का मुसलमान कहे कि हम हिन्दी नहीं बोलेंगे, तब इन दोनों को एक दूसरे को यह बताने के लिये कि हम तुम्हारी भाषा नहीं बोलेंगे किसी तीसरी भाषा की सहायता लेनी पड़ेगी और वह होगी अँगरेज़ी।"

अरे, क्या 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषा के दो नाम नहीं रहे? जो भी हो, अगर हिन्दू कहे हम फ़ारसी लिपि में नहीं लिखेंगे और मुसलमान कहे हम देवनागरी में नहीं लिखेंगे तो एक दूसरे को पत्र लिखने के लिये किसी तीसरी लिपि की सहायता लेनी पड़ेगी और वह होगी रोमन! (प्रत्येक से कहते हो दोनों लिपि सीखो, प्रत्येक से यह भी क्यों न कहो हिन्दी उर्दू दोनों सीखो? यह 'हिन्दुस्तानी' का खटराग क्या है? जैसे देवनागरी और फ़ारसी लिपि दोनों राष्ट्र-लिपि, वैसे हिन्दी और उर्दू दोनों राष्ट्र-भाषा सही। क्या मुसलमान वर्धा की इस 'हिन्दुस्तानी' बोलने को ही तैयार हैं?)

मई, १६४६ की 'राष्ट्र-भाषा' में श्री हृषीकेश शर्मा दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा के रजत-जयन्ती उत्सव का वर्णन करते हुये लिखते हैं, "हिन्दी के नाम को, जिसे यह नाम सदियों पहले मुसलमान मुग़लों ने ही दिया था, छोड़कर यहाँ 'हिन्दुस्तानी' नया नाम मात्र दे दिया गया है", और उसके बाद रजत-जयन्ती में हुए भाषणों में से कुछ हिन्दी वाक्यांश चुनकर उदाहरण-स्वरूप पेश करते हैं और फिर तपाक से कहते हैं, "इसे हिन्दी कह

लीजिये, चाहे हिन्दुस्तानी।" आखिर फिर पुराना, परिचित, मुसलमानों का ही दिया हुआ नाम 'हिन्दी' छोड़कर 'हिन्दुस्तानी' नाम क्यों रक्खा गया? इसका कोई विशेष कारण तो होगा ही। क्या शर्माजी की समझ में अभी तक नहीं आया कि हिन्दी में हिन्दुस्तानी का फाटक किनके प्रवेश करने के लिये खोला गया है? दक्षिण में अभी पं० सुन्दरलाल और काका कालेलकर जी हिन्दी वाक्यांश न बोलें तो उनकी वकालत समझे कौन? अभी जरा ठहरिये, अभी तो हिन्दुस्तानी का पाठ आरम्भ हुआ है, उर्दू की पाठ्य-पुस्तकें छपना शुरू हुई हैं। विश्वास न हो तो अभी ही पंडित सुन्दरलाल को पंजाब या युक्त-प्रान्त में 'हिन्दी कह लीजिये चाहे हिन्दुस्तानी' बोलते हुए सुन लें (या उनकी 'विश्व-वाणी' का सम्पादकीय या 'नया हिन्द' का अग्र-लेख पढ़ लें)। और क्या "दोनों लिपियों का आप प्रयोग करें", यह भी नाम मात्र के लिये कहा गया, और दक्षिण भारत हि. प्र. सभा दोनों लिपियों की शिक्षा क्या नाम मात्र के लिये ही अनिवार्य कर रही है?

शर्मा जी आगे लिखते हैं, "हिन्दी ने उर्दू के लोकोपयोगी सैकड़ों मुहावरों और हज़ारों प्रचलित सरल शब्दों को सदियों से अपने कुटुम्ब कबीले में ऐसा मिला लिया है कि वे किसी के हटाने से हट नहीं सकते और किसी की मेहरबानी या रहम के बल पर वे रह नहीं सकते।"

शायद इसीलिये हिन्दी को उर्दू की एक और खूराक जबरदस्ती पिला कर 'हिन्दुस्तानी' बनाया जा रहा है, और अनुपयोगी शब्दों 'साहित्य' और 'शिक्षा' को निकाल कर लोकोपयोगी सरल शब्दों 'अदब' और 'तालीम' को बैठाया जा रहा है, और दक्षिण वासियों को उर्दू के हजारों पारिभाषिक शब्दों से परिचित कराया जा रहा है! शर्मा जी कहते हैं, "हिन्दी ने न कभी भाषा का पाकिस्तान बनाया और न बनने देगी।" यह तो ठीक, परंतु लिपि का पाकिस्तान कौन बना रहा है? 'उर्दू शैली' प्रत्येक पर अलग से कौन लाद रहा है?

अन्त में शर्मा जी लिखते हैं, "यही हिन्दी की खासियत है, उसका लोच है। वह काका जी की 'सबकी बोली' है, पू० बापू जी की हिन्दुस्तानी है, राष्ट्रपति आजाद साहब की कौमी ज़बान है और श्रद्धेय टंडन जी की राष्ट्रभाषा है", अर्थात् हिन्दी भी वही है, उर्दू भी वही है (देखिये न 'लोच', 'कौमी' और 'ज़बान' वही तो दो शब्द हैं न जो 'राष्ट्र' और 'भाषा'— जरा अन्तर्दृष्टि से देखिये!), और हिन्दुस्तानी भी वही है। यह है शुद्ध 'हिन्दुस्तानी का वेदान्त' (अफसोस, इसे श्रद्धेय टंडन जी और राष्ट्रपति आज़ाद नहीं समझ पाते!)। इस वेदान्त की अन्तिम कड़ी शेष है— देवनागरी भी वही है, फ़ारसी लिपि भी वही है। धैर्य धारण कीजिये, इसको सिद्ध करने वाला शंकराचार्य भी शीघ्र प्रकट हो जायगा।

(अक्टूबर, १९४६ की 'सरस्वती' से)

परिशिष्ट १४

'हरिजनसेवक'

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

गांधीजी का साप्ताहिक पत्र 'हरिजन' जो अब तक हिंदी, परंपरागत हिंदी, में निकलता था, अब 'हिन्दुस्तानी' में निकलने लगा है। उसके देवनागरी संस्करण का नाम है 'हरिजनसेवक'। गांधी जी उसके द्वारा अपनी 'हिन्दुस्तानी', जिसे वे राष्ट्र-भाषा मानते हैं, का रूप राष्ट्र के सामने रख रहे हैं। राष्ट्र-भाषा का यज्ञ गांधी जी ने ही आरम्भ किया था, 'राष्ट्र-भाषा हिन्दी, और राष्ट्र-लिपि देवनागरी' गांधी जी की ही देन है, और 'राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी और राष्ट्र-लिपि दोनों' के पीछे भी सबसे प्रबल शक्ति गांधी जी की है, अतः 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' का विशेष महत्व है।

कहना न होगा कि 'हिन्दुस्तानी' के विषय में जो कुछ पहले कहा गया है, वह सब 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' पर सच्चा उतरता है, और 'हिन्दुस्तानी' के विषय में हिन्दुस्तानी वाले जो भी दावे करते हैं, उन सबको 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' झूठा साबित कर देती है। 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' न आमफहम है, न 'न संस्कृत और न अरबी फ़ारसी' मयी, न 'न हिन्दी न उर्दू', न 'अकृत्रिम' और न 'बोलचाल की भाषा', और न उसे हिन्दी समझने वालों से अधिक व्यक्ति समझते हैं। वह हिन्दी और उर्दू का एक मनमाना घोल है जिसके कोई सिद्धान्त नहीं, नियम नहीं, आदर्श नहीं। इस घोल का 'आमफहम' होना तो दूर रहा, उसे समझने के लिये, और लिखने के लिये भी, अकेली हिन्दी या अकेली उर्दू

की भी नहीं वरन् हिन्दी और उर्दू दोनों के ज्ञान की आवश्यकता है, अर्थात् वह हिन्दी या उर्दू से दूनी कठिन है। कारण स्पष्ट है। 'हरिजन-सेवक' की भाषा के कोई सिद्धान्त, नियम या आदर्श तो हैं नहीं, अतः सब कुछ सम्पादक या लेखक की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे कोई हिन्दी शब्द और चाहे कोई उर्दू शब्द उठाकर धर सकता है। 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' में प्रत्येक हिन्दी शब्द और प्रत्येक उर्दू शब्द आ सकता है और आता है। एक बार एक पाठक ने गांधी जी से प्रश्न किया कि 'हरिजनसेवक' की भाषा में 'एतक़ाद', 'तहरीक' और 'कफ़्फ़ारा' क्यों आये, 'श्रद्धा', 'आन्दोलन' और 'प्रायश्चित' क्यों नहीं ? गांधी जी ने उत्तर दिया कि 'एतक़ाद', 'तहरीक' और 'कफ़्फ़ारा' तीनों शब्द 'उत्तर के लोगों की बोल-चाल' में घर कर चुके हैं। (गांधी जी ने यह नहीं बतलाया कि फिर भी स्वयं उनका, जिन्होंने उत्तर के दौरों में आधा जीवन व्यतीत किया है, इन शब्दों से कितना पुराना परिचय है !) अस्तु, चूँकि हिन्दी का या उर्दू का ऐसा कोई शब्द नहीं जिसके बारे में कहा जा सके कि उत्तर के लोग उसे नहीं बोलते, और चूँकि खड़ी बोली की क्रियाओं का प्रत्येक जानकार 'उत्तर की बोलचाल' का ठेकेदार बन सकता है, गांधी जी के उत्तर का सीधा सादा अर्थ है कि 'हिन्दुस्तानी' में हिन्दी और उर्दू का प्रत्येक शब्द आ सकता है, 'हिन्दुस्तानी' समझने के लिए हिन्दी-कोष और उर्दू-कोष दोनों को घोटने की आवश्यकता है, 'हिन्दुस्तानी' का कोष हिन्दी-कोष+उर्दू-कोष है। फिर 'हिन्दुस्तानी' 'न हिन्दी न उर्दू' या 'न संस्कृत, न अरबी-फ़ारसी' मयी कैसे हो सकती है ? 'हरिजनसेवक' की भाषा में वही हिन्दी के संस्कृत शब्द वर्तमान हैं और वही उर्दू के अरबी-फ़ारसी शब्द दिखाई देते हैं, बस, केवल १०० संस्कृत या १०० अरबी फ़ारसी शब्दों के स्थान में ५० संस्कृत और ५० अरबी-फारसी शब्द हैं, और कौन से संस्कृत और कौन से अरबी-फारसी, इसको कोई ठीक नहीं। लेखक को केवल यह आदेश है

कि हिन्दी का और उर्दू का पलड़ा बराबर रहे। यदि दो तीन हिन्दी शब्द आ गये तो उनके बाद दो तीन उर्दू शब्दों का आना आवश्यक है, अन्यथा 'राष्ट्र-भाषा' की सील नहीं लगेगी और 'राष्ट्र-भाषा-विशारद' का सार्टीफिकेट छिन जायगा। ज़रा चूके कि 'अराष्ट्रीयता' के खड्ड में गिरे और आपकी भाषा 'सच्ची राष्ट्र-भाषा' के बजाय हिन्दी या उर्दू कहलाई! जो एक हाथ में हिन्दी-कोष और एक हाथ में उर्दू-कोष ले कर सीधा संतुलन करता हुआ तलवार की धार पर नहीं चल सकता, वह राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' का लेखक नहीं हो सकता। इसके बाद भी वर्धा का सार्टीफिकेट लेना ज़रूरी है। 'हिन्दुस्तानी' का रहस्य कोई कोई जानते हैं (परन्तु वह है फिर भी 'राष्ट्र-भाषा'—सारे राष्ट्र की भाषा), और ऐसे महात्माओं का प्रधान आश्रम वर्धा में ही है। वह सार्टीफिकेट भी सब प्रार्थियों को नहीं मिलता। तपस्या करनी पड़ती है। 'हरिजनसेवक' के सम्पादक ही सच्ची 'राष्ट्र-भाषा' लिखने के अयोग्य साबित होने के कारण कई बार बदले जा चुके हैं। 'सरस्वती' वर्धा में प्रकट होती है और वहीं लुप्त हो जाती है।

'हरिजन सेवक' की 'हिन्दुस्तानी' कृत्रिम है या अकृत्रिम, अब इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उतनी ही कृत्रिम है जितनी उर्दू। उर्दू दिल्ली के दरबार में गढ़ी गई थी, 'हिन्दुस्तानी' वर्धा में गढ़ी जा रही है। इसकी कृत्रिमता का भी कोई ठिकाना है! यदि वह अकृत्रिम, स्वाभाविक भाषा होती तो साहित्य-शून्य क्यों होती और उस पर इतनी बन्दिशें क्यों लगाई जातीं? यदि हिन्दी अपने लिखित रूप में कहीं बोलचाल में प्रयुक्त नहीं होती, तो 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' भी इसी रूप में कहीं बोलचाल में प्रयुक्त नहीं होती। रही बोधगम्यता की बात, सो क्या हिन्दुस्तानी वाले साबित कर सकते हैं कि 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को ही फ्रांटियर के पठान और तेलगू भाई दोनों समझते हैं, अथवा यह कि वह देहातियों के लिये हिन्दी की अपेक्षा अधिक सरल

है ? इससे कौन सी समस्या हल होती है ? हिन्दुस्तानी वाले स्वीकार करें या न करें, परन्तु इसमें सन्देह करने की अब कोई गुंजाइश नहीं रही कि 'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य राजनीतिक दृष्टि से भाषा में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को घुसेड़ कर मुसलमानों को खुश करना है। परन्तु अफ़सोस! यह उद्देश्य भी सफल नहीं हुआ, क्योंकि मुसलमान 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। शायद अब १०० में ७५ शब्द उर्दू के रक्खे जायँ!——और फिर पूरे १००!!

'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' में प्रायः हिन्दी शब्दों के आगे कोष्ठकों में उनके उर्दू पर्याय, और उर्दू शब्दों के आगे कोष्ठकों में उनके हिन्दी पर्याय दिये जाते हैं। इस प्रकार शब्दों के जोड़े दे कर हिन्दुस्तानी वालों ने स्वयं सिद्ध कर दिया है कि 'हिन्दुस्तानी' कोई अलग चीज़ नहीं, ऐसी कोई भाषा नहीं जो हिन्दी और उर्दू दोनों से भिन्न हो और सबकी समझ में आती हो, और 'हिन्दुस्तानी' कोई भाषा नहीं, वह हिन्दी और उर्दू सिखाने का सबक़ भले ही हो। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुस्तान में 'एतक़ाद' 'तहरीक' और 'कफ्फारा' जैसे शब्दों को कोषों में से छाँट-छाँट कर फिर उन्हें उनके पुराने, प्रचलित स्वदेशी पर्यायों द्वारा सिखाने का नाम ही 'राष्ट्रीयता' है।

गांधीजी ने 'उत्तर की बोलचाल' का हवाला दिया। दक्षिण की बोलचाल क्यों छोड़ दी? उत्तर में भी बंगाल और आसाम को क्यों छोड़ दिया? कौन सी भारतीय भाषा का ऐसा कौनसा शब्द है जो भारत के किसी न किसी भाग की बोलचाल में घर न कर चुका हो? फिर भारत की राष्ट्र-भाषा में सब शब्दों को समान स्थान क्यों नहीं दिया जाता? केवल 'हिन्दी शब्द' और 'उर्दू शब्द' ही क्यों? कोष्ठक में केवल हिन्दी या उर्दू पर्याय ही क्यों दिया जाता है, सभी भारतीय पर्याय (जिनमें द्रविड़ पर्याय भी शामिल हैं) और अँगरेज़ी पर्याय भी (क्योंकि लाखों भारतीय, उत्तर में भी और दक्षिण

में भी, अँगरेज़ी भी बोलते हैं और इङ्गलिस्तानी में खड़ी बोली ही की क्रियाओं के साथ अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग करते हैं) क्यों नहीं दिये जाते ? साफ़-साफ यह घोषित क्यों नहीं कर दिया जाता कि 'हिन्दुस्तानी' से तात्पर्य केवल खड़ी बोली की क्रियाओं और विभक्तियों से है, शेष शब्द चाहे जो हों ? हमें घोर दुख है, राष्ट्र-भाषा यज्ञ को पूर्ण होने से पूर्व उसे उसे आरम्भ करने वाले ने ही भ्रष्ट कर दिया !

'हरिजनसेवक' के उर्दू-लिपि वाले संस्करण के विषय में इतना और कहना पर्याप्त होगा कि उसे पढ़ना भी सरल नहीं, समझना तो बाद की बात है। जो पाठक संस्कृत या हिन्दी पढ़ा हुआ नहीं है, वह इसे नहीं पढ़ सकता। इसमें आये हुये हिन्दी संस्कृत शब्दों को पारखी ही पहचान सकते हैं। पहचानने पर भी उनका शुद्ध रूप उन्हें तब तक नहीं मालूम हो सकता जब तक उन्हें अलग से न बताया जाय या वे पहले से न जानते हों। यह है इस 'राष्ट्र-लिपि' में 'राष्ट्र-भाषा' का हाल।

'हरिजनसेवक' एक बात और स्पष्ट कर रहा है। वह यह कि हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी का (और उर्दू का भी) अस्तित्व मिटाना चाहते हैं। उनका यह कहना कि हिन्दी (और उर्दू) प्रान्तीय भाषा के बतौर अपने क्षेत्र में फल-फूल सकती है, झूठ और भुलावा मात्र है। यह इससे जाना जा सकता है कि गांधीजी अपना पत्र 'हरिजन' अँगरेज़ी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, आदि प्रान्तीय भाषाओं में तो (प्रत्येक भाषा के अपने अपने परम्परागत शुद्ध रूप में) निकालते हैं, परन्तु 'हिन्दी' में नहीं निकालते। 'हिन्दी' के स्थान में निकालते हैं देवनागरी-'हिन्दुस्तानी' में जिसका हाल ऊपर बतलाया गया है। यदि 'हिन्दुस्तानी' का उद्देश्य, जैसा कि गांधीजी ने स्वयं कहा है, हिन्दी (और उर्दू) को मिटाना नहीं है और यदि यह सत्य है कि 'हिन्दुस्तानी' में केवल अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार होगा और वह किसी प्रान्तीय भाषा का स्थान नहीं लेगी, तो या तो 'हरिजन' को केवल

'राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी' में (और किसी भी प्रान्तीय भाषा में नहीं) निकालना चाहिये था और या उसे अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी निकालना चाहिये था, हिन्दी के अतिरिक्त 'हिन्दुस्तानी' में निकाला जाता अथवा न निकाला जाता। यदि गांधीजी यही समझते हैं कि 'हरिजन-सेवक' की 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से अधिक व्यापक है, तो वे 'हरिजनसेवक' को हिन्दी में भी निकाल कर हिन्दी-'हरिजन सेवक' की और देवनागरी-'हिन्दुस्तानी' 'हरिजनसेवक' की बिकने वाली प्रतियों की संख्याओं का मुकाबला करके देख लें। (उर्दू के साथ भी यह कर के देख लें।) सत्य के पुजारी को हमारी यह सत्य की चुनौती है। वे हमारी चुनौती स्वीकार करें, नहीं तो हम 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' को गांधीजी की व्यक्तिगत ज़िद और हिन्दी के प्रति अन्याय, हिन्दी के अस्तित्व पर कुठाराघात, साहित्यिक अत्याचार एवं अनाचार मानने के लिये बाध्य होंगे। एक असत्य के लिये आग्रह 'सत्य-आग्रह' नहीं कहा जा सकता।

× × × ×

हिन्दी पत्रों से एक विशेष निवेदन करना आवश्यक जान पड़ता है। हिन्दी पत्र-पत्रिकायें प्राय: 'हरिजनसेवक' से अवतरण, लेख, आदि ज्यों की त्यों उद्धृत करती हुई देखी जाती हैं। वे ऐसा शायद उसके गांधी जी के पत्र होने के कारण करती हैं। 'हरिजनसेवक' के लेखों का अवश्य विशेष महत्व है, परन्तु उन्हें ज्यों का त्यों अर्थात् मूल 'हिन्दुस्तानी' में क्यों उद्धृत किया जाता है? 'हिन्दुस्तानी' यदि हिन्दी से भिन्न कही और बतलाई जाती है, और 'हरिजनसेवक' की 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी से भिन्न है भी, तो वह हिन्दी के पत्र में कैसे स्थान पा सकती है? हिन्दी पत्रों को सदैव 'हरि-जनसेवक' के लेखों, आदि को हिन्दी में रूपान्तरित करके देना चाहिये। उन्हें शायद यह लालच होगा कि वे गांधी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में, उन्हीं की भाषा में (या उन्हीं की 'हिन्दुस्तानी' में) दे रहे हैं, परन्तु बात ऐसी

भी नहीं है। गांधी जी अपने अधिकांश मूल लेख गुजराती या अँगरेज़ी में लिखते हैं। 'हरिजनसेवक' में उनका 'हिन्दुस्तानी' विशेषज्ञों द्वारा किया हुआ 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद भर रहता है (लेखों के नीचे इसका उल्लेख भी रहता है)*। ऐसी स्थिति में हिन्दी पत्रों के सम्पादक गांधी जी के मूल लेख से अपनी हिन्दी में अनुवाद करके क्यों नहीं छापते? यदि वे मूल लेख तक जाना नहीं चाहते या मूल लेख से अनुवाद नहीं कर सकते, तो 'हरिजनसेवक' में दिये हुये 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद से ही अपनी हिन्दी में अनुवाद करके दें। वे किसी दूसरे की 'हिन्दुस्तानी' को अपनी हिन्दी पर तरजीह क्यों देते हैं? ज़रा सी आरामतलबी में आकर वे हिन्दी को विकृत करने में योग न दें। हिन्दी पत्रों में 'हिन्दुस्तानी' के लेख, अवतरण, आदि देने के विषय में बहुत कुछ पहले कहा जा चुका है†।

---

* 'हरिजनसेवक' में गांधीजी के अतिरिक्त अधिकांश अन्य लेखकों के मूल लेख भी 'हिन्दुस्तानी' में लिखे हुये नहीं होते बल्कि मूल लेखों का 'हिन्दुस्तानी' अनुवाद होता है।

† देखिये पृष्ठ ५६-५७ और १६२-१६३।

परिशिष्ट १५

हिन्दुस्तानी का उद्गम

(लेखक—पं० रामचन्द्र शुक्ल)

साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अंतर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जब कि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का संचित भंडार है तब पहले भाषा ही पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। व्यक्त वाणी का यह संचय असभ्य जातियों में तो केवल मौखिक रहता है, पर सभ्य जातियों में पुस्तकों के भीतर हिफाजत के साथ बंद रखा जाता है। मौखिक अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता, पर पुस्तकस्थ होकर हजारों वर्ष तक चला चलता है।

साहित्य की अखंड दीर्घ परंपरा सभ्यता का लक्षण है। यह परंपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द परंपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थ-परंपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। ये दोनों परंपराएँ अभिन्न होती हैं। इन्हें एक ही परंपरा के दो पक्ष समझिए। किसी देश की शब्द-परंपरा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है। कुछ काल तक लगातार चलते रहने से शब्द-परंपरा या भाषा को भी एक विशेष स्वरूप प्राप्त हो जाता है

और अर्थ-परंपरा या साहित्य को भी। इस प्रकार दोनों के स्वरूपों का सामंजस्य रहता है। इस सामंजस्य में यदि बाधा पड़ी तो साहित्य देश की प्राकृतिक जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जायगा और जनता के हृदय का स्पर्श न कर सकेगा। यदि अर्थ-परंपरा का स्वरूप बनाए रखकर शब्द-परंपरा का स्वरूप बदला जायगा तो परिणाम होगा "कोयल का नग़मा" और "महात्मा जी के अलफ़ाज़"। यदि शब्द-परंपरा स्थिर रखकर अर्थ-परंपरा या वस्तु-परंपरा बदली जायगी तो आप के सामने "स्वर्ण अवसर" आएगा, "हृदय के छाले" फूटेंगे और "दुपट्टे फाड़े जायँगे।"

भाषा या साहित्य के विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें बाहर से आए हुए नए शब्द और नई नई वस्तुएँ न मिलें। उसमें नए नए शब्द भी बराबर मिलते जाते हैं और नए नए अर्थों या वस्तुओं की योजना भी होती जाती है, पर इस मात्रा में और इस ढब से कि उसका स्वरूप अपनी विशिष्टता बनाए रहता है। हम यह बराबर कह सकते हैं कि वह इस देश का, इस जाति का और इस भाषा का साहित्य है। गंगा एक क्षीण धारा के रूप में गंगोत्तरी से चलती है; मार्ग में न जाने कितने नाले, न जाने कितनी नदियाँ उसमें मिलती जाती हैं, पर सागर-संगम तक वह 'गंगा' ही कहलाती है, उसका 'गंगापन' बना रहता है।

हमारे व्यावहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का संबंध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती रही हो, अब हिन्दी कही जाती है। इसका एक एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्मभूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिबिंब है, हमारी बुद्धि का वैभव है। देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदय में रूप-रंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूप-रंग खड़ा किया है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब इसी हमारी बोली में अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमें खींचते हैं। इनकी सारी रूप-

छटा, सारी भावभंगी हमारी भाषा में और हमारे साहित्य में समाई हुई है। यह वही भाषा है जिसकी धारा कभी संस्कृत के रूप में बहती थी, फिर प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में और इधर हजार वर्ष से इस वर्त्तमान रूप में—जिसे हिंदी कहते हैं—लगातार बहती चली आ रही है। यह वही भाषा है जिसमें सारे उत्तरीय भारत के बीच चंद और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई; कबीर, सूर और तुलसी ने भक्ति की धारा बहाई; बिहारी, देव और पद्माकर ने शृंगार रस की वर्षा की; भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज आप व्यापक दृष्टि फैलाकर संपूर्ण मानव-जगत् के मेल में लानेवाली भावनाएँ भर रहे हैं। हज़ारों वर्ष से यह दीर्घ परम्परा अखंड चली आ रही है। ऐसी भव्य परंपरा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नहीं।

हमारा गर्व यह सोचकर और भी बढ़ जाता है कि यह परंपरा इतनी प्रबल और शक्तिशालिनी सिद्ध हुई कि इधर सौ वर्ष से—अर्थात् अँगरेज़ी राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के पीछे—इसे बंद करने के तरह तरह के प्रयत्न कुछ लोगों के द्वारा समय समय पर होते आ रहे हैं, पर यह अपना मार्ग निकालती चली आ रही है। इस विरोध का मूल हमारे उन मुसलमान भाइयों की निर्मूल आशंका है जो अपनी भाषा और अपने साहित्य को विदेशी साँचे में ढाल कर अपने लिये अलग रखना चाहते हैं। यदि वे अपनी भाषा और अपने साहित्य की एक अलग परंपरा रखना चाहते हैं तो हमारे लिये यह प्रसन्नता की बात है। इधर अपनी भाषा की छटा, अपने साहित्य की विभूति हमारे सामने रहेगी, उधर उनके साहित्य के चमत्कार से भी हम अपना मनोरंजन करेंगे। यही मौका उन्हें भी रहेगा। मनोरंजन के क्षेत्र एक से दो रहें तो और अच्छी बात है। यही स्थिति मुसलमानी अमलदारी में रही है। दिल्ली और दक्खिन के बादशाह फारसी कविता का भी आनंद लेते थे और परंपरागत हिंदी कविता का भी। फारसी के स्थान पर जब उर्दू की शायरी होने लगी तब भी यही बात रही। अनेक-

रूपता का नाम ही संसार है। सौंदर्य्य की विभूति अनेक रूपों में प्रकट होत है। सहृदय उन सब में आनन्द का अनुभव करते हैं। अकबर की बात छोड़ दीजिये जो आप कभी-कभी हिंदी में कविता करता था ; औरंगजेब तक के दरबार में जाकर हिंदी कवियों का कविता सुनाना प्रसिद्ध है। रहीम, रसखान, गुलाम नबी इत्यादि का नाम हिंदी के अच्छे कवियों में है।

यहीं तक नहीं, अपनी धार्मिक भावनाओं की व्यंजना के लिये भी मुसलमान यहाँ की परंपरागत भाषा को बराबर काम में लाते थे। हमारे हिन्दी काव्य के इतिहास में सूफ़ी कवियों का एक वर्ग ही अलग है, जिसके अंतर्गत कुतबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद इत्यादि दर्जनों कवि हुये हैं। उन्होंने हमारी ही प्यारी बोली में हमारे ही काव्यों की पदावली में, जिसमें संस्कृत का पुट बराबर रहता आया है, प्रेम-कहानियाँ लिखी हैं।

यह देखना चाहिये कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य में वह कौन-सी वस्तु है, जो अब हमारे मुसलमान भाइयों को नापसंद है। इधर उनकी ओर से जो लेख आदि निकल रहे हैं उनसे पता चलता है कि भाषा में न पसंद आने वाली वस्तु हैं संस्कृत के शब्द और साहित्य में भारतीव दृश्य, भारतीय रीति-नीति और भारतीय इतिहास-पुराणों के प्रसंग। इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिस देश का साहित्य होगा उस देश की परंपरागत भाषा, उस देश के प्राकृतिक स्वरूप, रीति-नीति, कथा-प्रसंग आदि से वह कैसे दूर रह सकता है ?

अब थोड़ा यह भी देखिये कि पुराने मुसलमान भाइयों ने अपने वर्ग के लिये एक अलग साहित्य निर्माण करने में उसका क्या स्वरूप रखा था, और कितने दिनों तक वह स्वरूप वे बनाए रहे। हिंदी में थोड़े से अरबी, फ़ारसी शब्द मिलाकर अपने साहित्य के लिये जो भाषा उन्होंने ग्रहण की, वह 'रेख़ता' कहलाती थी। जो हिंदी उन्होंने ली थी वह केवल व्यवहार और बोलचाल की हिंदी न थी, परंपरागत काव्यों और गीतों की हिंदी

भी थी, जिसमें बहुत चलते संस्कृत शब्दों के साथ-साथ ठेठ घरेलू शब्द भी रहते थे।

यह तो हुई कविता और साहित्य की बात। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि सर्वसाधारण मुसलमान जनता में इसलाम के धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिये चार सौ वर्ष पहले जिस भाषा का प्रयोग वे अपनी किताबों में करते थे, उसमें यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक पुस्तकों में आनेवाले इंद्रिय, विकार आदि शब्द तक भी कभी-कभी लाते थे—

(१) सराहना नेवाजना ख़ुदा को बहुत कि वो पालनहारा है आलम का (शरह मरग़ूबुल क़लूब-शाह मीराँजी बीजापुरी सन् १४६५ के पहले)।

(२) सवाल—यह तन अलाधा (अलहद:) बल्कि सतंतर (स्वतंत्र) विकार रूप दिखता है। एक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़, ज़ाहिर तन के फेल से ग़ुज़रया व नातिन करतब विधे ? दूसरा तन सो भी कि इस इन्द्रियन का विकार व चेष्टा करनहारा...... सुख-दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन.............. । यह तन फ़हम सूँ ग़ुज़रया तो गुन उसका क्यों रहे ?

(कलामतुल हक़ायक़, शाह बुरहानुद्दीन बीजापुरी सन् १५८२)

उर्दू के इतिहास-लेखक उर्दू का उत्थान बीजापुर और गोलकुंडा की दक्खिनी रियासतों से मानते हैं। वहाँ शीया मुसलमानों की अधिक बस्ती थी। इससे इमाम हुसैन की कथा को लेकर दक्खिनी उर्दू के कवियों ने कई मसनवियों या प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। इनमें से एक का नाम है 'करबल-कथा' (करबला की कथा)। यह 'कथा' शब्द भला आजकल उर्दू में कभी जगह पा सकता है ? शृङ्गार की प्रेम-कहानियों की रचना भी दक्खिनी उर्दू में बहुत कुछ हुई है। जैसे 'वजही' की 'मसनवी कुतुब-मुश्तरी' जिसकी पद्य-रचना का रूप देखिए—

न भुइँ पर बसे वह न असमान में।
रहा शाह उसी नार के ध्यान में॥
भुलाई चंचल धन न यों शाह कोँ।
कि लुभवाए ज्यों कहरुबा काह कोँ॥
लग्या शाह उसासाँ भरन आह मार।
कि नज़दीक ना हैं व गुनवंत नार॥

'वजही' की गजल का नमूना यह है—

पिउ अपने कोँ आज मैं निस सपने देखी सोयकर।
जब पिउ चलिया सेंति सेज तब सोते उठी रोयकर॥
ना पूछूँ बहमन जोयसी कब मिलना पिउ सों होयसी।

'वजही' का रचना-काल सन् १६०० से १६३५ तक माना जाता है। इसके उपरांत सन् १६५० के लगभग 'नसरती' का समय आता है, जो कुछ दिनों तक तो दक्खिनी. शायरी की उपर्युक्त परम्परा पर चला पर आगे चल कर वह 'हिन्दवीपन' को बहुत कुछ दूर हटाकर फ़ारसी रूप देने में लगा। अपना यह प्रयत्न उसने स्पष्ट स्वीकार किया है और कहा है—"दखिन के शायरों की मैं रविश पर शेर बोल्या नहीं।" एक स्थान पर और कहता है—

"मआनी की सूरत की है आरसी।
दखिन का किया शेर जूँ फ़ारसी।
फ़साहत में गर फ़ारसी खुश कलाम॥
धरे फ़ख्र हिन्दी वचन पर मुदाम।
मैं इस दो हुनर के खुलासों को पा॥
किया शेर ताज़ः दोनों फ़न मिला॥"

'नसरती' ने जो रास्ता दिखलाया उस पर कुछ लोग धीरे धीरे चलने लगे, पर दक्खिनी शायरी की देशी परम्परा कुछ दिनों तक चलती रही।

सन् १६६१ ई० में अफ़ज़ल ने हिन्दी-गीतकाव्य-परम्परा के अनुसार 'बारह-मासा' लिखा जिसकी भाषा इस ढंग की है—

सखी रे, चैत रितु आई सुहाई। अजहुँ उम्मीद मेरी घर न आई।
रहे हैं भँवर फूलों के गले लाग। मेरे सीनः जुदाई की लगी आग।
सखी दिन रैन मुझ नागिन डसत है। फिरूँ दौरी तमामै जग हँसत है।

सन् १७०० के पीछे वली ने और दक्खिनी शायरों के समान कुछ दिनों तक हिन्दीपन को रहने दिया। उसकी उन रचनाओं में हिन्दी-काव्य-परम्परा के कुछ शब्द, भारतीय कथा-प्रसगों के कुछ संकेत, प्रेम-व्यापार में स्त्री-पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं। जैसे—

इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिससूँ।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज़ सुनाती जा॥
मुझ दिल के कबूतर कोँ पकड़ा है तेरी लट ने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा॥
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी।
ऐ बुत को पुजनहारी इस बुत को पुजाती जा॥
मुख बात बोलता हूँ शिकवः तेरे कपट का।
तुझ नैन देखने को दिल ठांठ कर चुका था॥

पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि "ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं, इन्हें काम में ला"। फिर तो वली ने अपना रुख ही पलट दिया और वे इस तरह के कलाम सामने लाने लगे—

जब सनम को ख़याले बाग़ हुआ। तालिबे नश्शए फ़राग़ हुआ।
फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब। नाज़नीं साहबे दिमाग़ हुआ।
अश्क सूँ तुझ लबाँ की सुरख़ी के। जिगर लालः दाग़ दाग़ हुआ।

पहले के दक्खिनी शायर तो देश और श्रोता की रुचि के अनुसार जगह को

'जाघा' और 'अलहदः' को 'अलाघा' तक लिखते थे। फारसी शब्दों के बहुवचन आदि हिंदी व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वली ने 'आशिक़' का बहुवचन अरबी के क़ायदे पर 'उश्शाक़' रखा है और फ़ारसी समास के ढंग पर 'नशए-फ़राग़' और 'साहबे दिमाग़'। वली सन् १७०० ई० में दिल्ली आए। क़ायम ने सन् १७२० ई० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

यहाँ से अब दिल्ली के शायरों की परंपरा उर्दू-साहित्य में चली है। सन् १७०० ई० में दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्होंने फिर हिंदी के शब्दों की छँटाई की, जिसका वर्णन उन्होंने आप ही इस प्रकार किया है—

"लस्सान अरबी व ज़बान फ़ारसी के क़रीबुलफ़हम व कसीरुल इस्तअमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली कि मिर्ज़ायाने हिंद व फ़सीहाने रिंद दर महावरः दारंद मंज़ूर दाश्तः। सिवाए आँ ज़बान हिंदवी कि आँरा भाखा गोयंद मौक़ूफ़ करदः"।

तात्पर्य यह कि हातिम ने अरबी फारसी के शब्द ला लाकर रखे और हिंदी या भाषा के शब्दों को निकाल फेंका। अरबी-फारसी के बीच हिंदी के वे ही शब्द और मुहावरे रहने पाये जिन्हें शाहजादे और सरदार लोग दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भाषा भर रह गई। इतना होने पर भी इनकी कविताओं में भारतीय कथा-प्रसंगों के संकेत पाए जाते हैं—

ख़ुदा के नूर का मथकर समुन्दर। यही चौदह रतन काढ़े हैं बाहर।
अगर फ़हमीदः हिकमत आशना है। इसीनुसख़े में चौदह बिद्या है॥

हातिम ही के समय में उर्दू के महाकवि 'सौदा' हुए हैं, जो पहले हिन्दीपन से सटी हुई शायरी ही नहीं सर्व-साधारण मेंप्रचलित हिन्दी भाषा की कविता भी करते थे और अच्छी करते थे। कुछ उद्धृत किए बिना आगे नहीं बढ़ते बनता।

सौदा की हिन्दी गजल—

निकल के चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिठक रहा है,
सिमट के घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगिन ने तेरे बिरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा,
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ यूँ कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा है,
पड़ा वो सावंत मन में जिसके बिरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ,
य क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छुटक रहा है।
हिलोरी यों लेती ओस की बूँद लग के फूलों की पंखड़ी से,
तुम्हारे कानों में जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कहीं जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी,
न जानूँ पेड़ी की धूल मैं हूँ जो मुझ से मुल्ला झटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ,
सजन, जो काँटा है तुझ गली का सो पग में मेरे भटक रहा है।
कोई जो मुझसे य पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे,
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनों से लगा है प्यारे,
ग्यान परबत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।
जो बाट मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे सिरीजन,
तुम्हारी बटियों में आज बरसों से यह बटोही भटक रहा है।
जो मैंने 'सौदा' से जाके पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुधबुध,
य रोके मुझसे कहा किसी की लटक में लट की लटक रहा है।

सौदा के हिन्दी दोहे—

कारी रैन डरावनी, घर तैं होई निरास।

जंगल में जा सो रहे, कोऊ आस न पास ॥
बैरी पहुँचे आइके, तेरी देहली पास।
बेग ख़बर लो या नबी! अब पत की नहिं आस ॥
खीझ खीझ चहुँ ओर से, पड़े वह ज़ालिम टूट।
बेवों को डरपाय के, ले गए घर को लूट ॥
कहै हरम सर पीट कर, खोकर अपनी लाज।
माटी में तू रल गयो, दीन दुनी के लाज ॥
खोयो तैंने नीर बिन, नबी के मन को चैन।
ज़ालिम तेरे हाथ से, प्यासो गयो हुसैन ॥

उक्त दोहे मरसियों में आ गए हैं। उन्हीं में से अलग किए गए हैं। सौदा की पहेलियों की भाषा हिन्दी है। पर उनकी और सब रचनाएँ हातिम की ही सरणी पर चलती हैं। उर्दू की शायरी में जो थोड़ा बहुत हिन्दीपन लुका छिपा था, वह लखनऊ जाने पर नासिख़ के हाथ से दूर किया गया। फिर तो वह हिन्दी से ऐसी हटी कि उसने अपना एक दायरा ही अलग कर लिया। उस दायरे से जगत, चंचल, नार, गुन, अकास, धरम, धन, करम, दया, बीर, बली ऐसे शब्द एकदम निकाल बाहर हुए। इसी प्रकार वस्तुओं में न कमल और न भँवरे रह गए, न वसंत और कोकिल; न वर्षा ऋतु रह गई न सावन की हरियाली; न भीम और अर्जुन रह गए, न कर्ण और भोज। इस प्रकार यहाँ की परम्परागत भाषा के आधे हिस्से से और परम्परागत साहित्य के सर्वांश से अर्थात् देश के सामान्य जीवन से उर्दू दूर हटा दी गई। ज़बरदस्ती जान बूझकर हटाई गई, आप से आप नहीं हटी।

उर्दू के इस रूप में आने का परिणाम यह हुआ, कि अपना प्रसार करने की स्वाभाविक शक्ति उसमें न रह गई। वह अपने को बनाये रखने के लिये मकतबों और सरकारी दफ्तरों की मुहताज हो गई। यह बात अँगरेज़ी अमलदारी के प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे नवशिक्षित मुसलमान भाइयों का

स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी और वे उसकी रक्षा और प्रसार के कृत्रिम साधनों का अवलम्बन करने में लगे। मुसलमानी अमलदारी में सरकारी दफ्तर फ़ारसी में थे। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी कुछ दिनों तक सरकारी दफ्तरों की जबान फ़ारसी ही रहने दी। पर पीछे अधिकारियों को यह बात खटकने लगी कि दफ्तरों की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से बिलकुल अलग है। उनका ध्यान देश की प्रचलित भाषा की ओर गया। १८३६ ई० में हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड से एक इश्तहारनामा निकला, जो इस प्रकार था—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर—

पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है, कि कचहरी के सब काम पारसी ज़बान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अर्ज़ी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाख़िल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाख़िल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उसपर हुक्म लिखा जायगा। मिति २६ जुलाई सन् १८३६ ई०।

खेद की बात है कि यह व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमान भाइयों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी घुसने न पाये, उर्दू चलाई जाय। अन्त में सन् १८३७ ई० से उर्दू दफ्तरों की भाषा कर दी गई। इसके उपरांत जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार ने यह निश्चय किया कि संस्कृत की कक्षाएँ तोड़ दी जाँय और हिन्दी भाषा का पढ़ना सब विद्यार्थियों

के लिये आवश्यक कर दिया जाय, तब भी मुसलमान भाइयों की ओर से विरोध खड़ा किया गया और सन् १८४८ में उनकी प्रेरणा से कंपनी की सरकार ने यह आज्ञा निकाली कि "ऐसी ज़बान का इल्म तमाम तुलबा के लिये लाज़िम क़रार देना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी ज़बान नहीं है, हमारी राय में दुरुस्त नहीं। अलावः इसके मुसलमान तुलबा जिनकी तादाद इस देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।" हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्यूलर स्कूलों में उसकी शिक्षा जारी ही न होने पाये। हिंदी की रक्षा के लिये राजा शिवप्रसाद को कितना यत्न करना पड़ा था, यह हिंदी प्रेमी मात्र जानते हैं। सकार की ओर से ज्ञान की वृद्धि के लिये एक संस्था (Society for the promotion of knowledge in India through the medium of vernacular language) स्थापित हुई थी, जिसका उद्देश्य था अँगरेज़ी, फारसी, संस्कृत आदि की पुस्तकों का देशी भाषा में अर्थात् हिंदी, उर्दू और बँगला में अनुवाद करना। पर उर्दू को छोड़कर न हिंदी में कोई अनुवाद होने पाया, न बँगला में।

सर सैयद अहमद साहब वास्तव में उर्दू को क्या समझते थे, यह उन्हीं की जबान से सुनिये। वे फरमाते हैं—"चूँकि यह जबान ख़ास बादशाही बाज़ारों में मुरव्वज थी इस वास्ते इसको ज़बान उर्दू कहा करते थे। और बादशाही अमीर-उमरा इसको बोलते थे। गोया हिन्दुस्तान के मुसलमानों की यह ज़बान थी"। इस प्रकार उर्दू को उन्होंने केवल दरबारी अमीर-उमरा और मुसलमानों की जबान तसलीम किया है।

मुसलमान किस तरह पहले अपने मजहब की तालीम के लिये थोड़ी अरबी-फारसी मिली एक खास ढंग की हिंदी काम में लाए; फिर धीरे-धीरे हिंदीपन निकालते निकालते बिल्कुल एक विदेशी ढाँचे की भाषा गढ़कर अपने लिखने की भाषा एकदम अलग करली, यह बात अब स्पष्ट हो गई

होगी। मुहम्मदशाह के समय तक इस नई गढ़ी हुई भाषा का, जो पीछे उर्दू कहलाई, साहित्य-रचना के लिये प्रचार न हो सका था, इसका आभास हिंदी के सूफ़ी कवि नूरमुहम्मद ने अपनी उस पुस्तक में दिया है जो उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इंद्रावती' के पीछे लिखी। पुस्तक का नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'।* नूरमुहम्मद के समय से मुसलमान देश की प्रचलित भाषा, हिंदी से किनारा खींचने लगे थे और मुसलमानों के लिये फ़ारसी में रचना करना ही जायज समझने लगे थे। 'इंद्रावती' लिखने पर उन्हें उनके मुसलमान भाइयों ने यह कहकर फटकारना शुरू किया कि 'तुम मुसलमान होकर हिंदी में क्यों लिखने गए।" इसी से बेचारे को 'अनुराग-बाँसुरी' में अपनी सफाई इन शब्दों में देनी पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ ॥

जिसे उर्दू कहते हैं उसका उस समय साहित्य में कोई स्थान न था, यह नूरमुहम्मद के इस कथन से साफ झलकता है—

† कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा ॥
छाँड़ि पारसी कंद न बातैं। अरुझाना हिंदी-रस-बातैं ॥

जनता से अपने को बिल्कुल अलग दिखाने के लिये मुसलमानों ने ही अपने लिये विदेशी ढाँचे की एक अलग भाषा और साहित्य खड़ा किया, यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उर्दू की प्राचीनता दिखाने के लिये दक्खिनी शायरों की जो लंबी सूची सामने लाई गई है उसमें कोई हिंदू भी है? शायद एक या दो। और जाने दीजिये, 'आबे हयात' ही उठा लीजिये। उसमें सब के सब शायर मुसलमान ही तो हैं। अब और सबूत क्या चाहिए? इतने पर भी न जाने किस मुँह से यह

---

* यह पुस्तक अप्रकाशित है।

† नूरमुहम्मद फ़ारसी की रचनाओं में अपना तखल्लुस 'कामयाब' रखते थे।

कहा जाता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के मेल से उर्दू पैदा हुई। मेल से पैदा हुई चीज़ की यही सूरत होती है ?

आज सब से बढ़कर खेद तो तब होता है जब कोई कानून-पेशा हिंदू, पेट के पीछे जिसके घराने का लगाव देश की परंपरागत संस्कृति और साहित्य से बिल्कुल टूट गया हो, जिसकी प्रारंभिक शिक्षा केवल फारसी तथा अदालती भाषा उर्दू की हुई हो, किसी जलसे या मुशायरे में उर्दू को हिन्दू-मुसलिम कलचर के मेल से वजूद में आई हुई एक मुश्तरकः जबान बताने लगता है। हम पूछते हैं कि जब तुम 'हिन्दूकलचर' से कोसों दूर पड़ गए हो तब उसका मेल कहाँ और कितना है, यह क्या पहचान सकते हो ? बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि के साहित्य की तुम्हें कुछ खबर है ? जब तुम ऐसे कूप-मंडूक हो कि अपने तंग घेरे के बाहर नजर ही नहीं फैला सकते, तब इस रोशनी के जमाने में चुप क्यों नहीं रहते ? साहित्य की जो देश-व्यापक परंपरा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि और प्रांतों में चली आ रही है, वही परंपरा तो हिन्दी की भी है—अर्थ-परंपरा भी और शब्द-परंपरा भी। इसी अर्थ-परंपरा और शब्द-परंपरा से इस देश की दस बारह करोड़ जनता परिचित है। इसी को वह अपना समझती आई है। जिसने उर्दू नहीं पढ़ी है उसे जरा अपनी 'मुश्तरकः आमफ़हम' में कोई 'सयासी तकरीर' सुनाइए तो पता लगे। हमें सबसे बढ़कर क्षोभ उस समय हुआ था जब हिंदुस्तानी के किसी जलसे में एक साहब यह फरमा गए थे कि "मैं तुलसी और कबीर को तो समझ लेता हूँ। पर आज कल की हिन्दी बहुत कम समझ पाता हूँ।" इस प्रलाप का भी कहीं ठिकाना है ? जो आजकल के साहित्य की भाषा नहीं समझता वह भला तुलसी की भाषा क्या समझेगा ? संस्कृत शब्दों की जो परंपरा सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में चली आई थी वही आजकल भी चली आ रही है।

जिस प्रकार 'हिन्दवीपन' निकाल निकालकर एक विदेशी ढाँचे की

भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध: इतिहास है उसी प्रकार उस भाषा को सबके गले मढ़ने के लिये हिन्दी को दूर रखने के घोर प्रयत्न का भी खासा इतिहास है, जो उस समय से शुरू होता है जब देश का पूरा शासन अँगरेजों के हाथ में आया। इन दोनों इतिहासों का संक्षेप,में उल्लेख करके अब मैं वर्तमान परिस्थिति पर आता हूँ। अब तक शिक्षा का लक्ष्य अधिकतर सरकारी नौकरी रहा है। अत: इस बात का प्रयत्न बराबर होता रहा है कि दफ्तरों में हिन्दी न घुसने पाए। दफ्तरों की भाषा जब तक उर्दू रहेगी तब तक झख मार कर लोगों को अपने बच्चों को उर्दू की शिक्षा देनी पड़ेगी और यह कहने का मौका रहेगा कि उर्दू पढ़े लिखे लोगों की भाषा है। अगर दफ्तरों की भाषा होना ही प्रचलित भाषा होने का प्रमाण है तब तो फारसी भी, जो कई सौ वर्ष तक दफ्तरों की भाषा रही है, देश की प्रचलित भाषा मानी जानी चाहिए।

जिस समय उर्दू के साथ साथ—उसे हटाकर नहीं—हिन्दी को भी स्थान दिलाने के लिये सर ऐंटनी मैकडानल के समय में आंदोलन उठा उस समय भी मुसलमानों की ओर से पूरा विरोध खड़ा किया गया। अदालतों से ही नहीं शिक्षा-पद्धति से भी हिन्दी को हटाने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं, यह दिखाया जा चुका है। अब आज कल की परिस्थिति देखिए। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू-मुसलिम एकता अत्यन्त आवश्यक समझते हैं वे एक बीच का रास्ता पकड़कर 'हिन्दुस्तानी' लेकर उठे हैं। इस हिन्दुस्तानी का समर्थन कुछ उदार समझे जानेवाले मुसलमान और उर्दू की गोद में पले हिन्दू भी कर रहे हैं। हम भोली भाली जनता को इस 'हिन्दुस्तानी' से सावधान करना अत्यंत आवश्यक समझते हैं। जो हिन्दुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू के सब लक्षण—जैसे वाक्य-रचना की फारसी शैली, अरबी फारसी के अप्रचलित मुंशी-फहम शब्द, अरबी-फारसी कायदे

के बहु-वचन—उसमें वर्त्तमान रहेंगे तब तो यह 'हिन्दुस्तानी' कहलाएगी, अन्यथा नहीं। ....

(काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
इसी नाम की पुस्तिका से)

परिशिष्ट १६

युक्त-प्रान्त की अदालतों की भाषा

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय की इँगलिश लिटरेरी सोसाइटी के सामने भाषण करते हुये युक्त-प्रान्त के न्याय-मन्त्री डा० काटजू ने कहा, "If I had the power to enact laws I would prohibit the use of even a syllable of English in the Courts." ("यदि मेरे हाथ में कानून बनाने की शक्ति हो तो मैं अदालतों में अँगरेज़ी के एक शब्दांश के भी प्रयोग का निषेध कर दूँ।") यदि यह शक्ति अभी उनके हाथ में नहीं है तो शीघ्र ही आने वाली है, और हमें आशा तथा विश्वास है कि वे यथासम्भव अर्थात् जहाँ तक हमारी अपनी भाषा से काम चल सकता है वहाँ तक अँगरेज़ी, अँगरेजी शब्दों और रोमन लिपि को अदालतों से निकालने में कसर न उठा रक्खेंगे। परंतु क्या हम पूछ सकते हैं कि अदालतों से फ़ारसी और अरबी शब्द, फ़ारसी मुहावरे और शैली और फ़ारसी लिपि निकालने के विषय में उनके क्या विचार हैं और इस विषय में वे क्या करने का इरादा रखते हैं ? अँगरेज़ी, अँगरेजी शब्दों और रोमन लिपि को विदेशी और इसलिये बहिष्कार-योग्य और उनके प्रयोग को 'symbol of our slavery' (उनके भाषण से उद्धृत) बताने परन्तु अरबी-फ़ारसी शब्दों और लिपि को स्वदेशी और उनके प्रयोग को 'symbol of our freedom' बताने की चेष्टा तो शायद वे न करेंगे। उन्होंने अपने उसी भाषण में आगे कहा, "The Englishman's love

of liberty and love of all things English runs through all English literature. This is something which we must emulate." अदालतों के प्रकरण में वे स्वयं 'love of all things Indian' के आदर्श को किस प्रकार और कहाँ तक निभाने का इरादा रखते हैं ?

डा० काटजू ने अपने उसी भाषण में विद्यार्थियों पर "....to study, master and use Hindustani as the vehicle of expression" के लिये जोर दिया। हम इस 'हिन्दुस्तानी' की परिभाषा चाहते हैं। क्या यह वही 'हिन्दुस्तानी' है जो युक्त-प्रान्त की अदालतों में सरकारी भाषा के तौर पर व्यवहृत हो रही है ? यदि नहीं, तो इस वर्त्तमान 'हिन्दुस्तानी' को निकाल कर अपनी मनचीती हिन्दुस्तानी, वह जो भी हो, को प्रतिष्ठित करने के विषय में उनका क्या विचार है, क्या इरादा है और क्या कार्य-क्रम है ? इस 'हिन्दुस्तानी' का क्या स्वरूप होगा, कहाँ तक वह वास्तव में हिन्दुस्तानी होगी, उसे कौन गढ़ेगा और उसके पीछे क्या सैंकशन होगा और उसकी लिपि क्या होगी, यह भी बताने की कृपा करें। इस प्रश्न को पूछने का कारण यह है कि हम युक्त-प्रान्त में किसी ऐसी 'हिन्दुस्तानी' से परिचित नहीं जो स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई जाती हो और जिसे 'study' और 'master' करके हम उनके आदेश का पालन कर सकें और अपने को धन्य मानें। यदि 'हिन्दुस्तानी' से उनका मतलब युक्त-प्रांत के गली-कूचों, हाट-बाज़ारों, चौराहों और चौपालों में बोली जाने वाली बोली से है, तो उसे तो हम बोलते ही हैं और उसे 'study' और 'master' करने का सवाल ही नहीं उठता। दूसरे, हम साधारण व्यक्तियों की तुच्छ बुद्धि में यह भी नहीं आता कि अँगरेज़ी, जो 'symbol of our slavery' है, के स्थान में इस बोली का प्रयोग कैसे और क्योंकर करें, और माननीय मन्त्रियों से भी इस दिशा में हमें कोई सहायता नहीं

मिलती, कुछ पथ-प्रदर्शन नहीं होता। यदि 'हिन्दुस्तानी' से उनका तात्पर्य 'हिन्दी और / या उर्दू' ही है, तो चिरपरिचित और पुराने शब्दों 'हिन्दी' और 'उर्दू' के बजाय इस एक शब्द 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग क्या उन्होंने महज़ अपने आप को और औरों को धोखे और भुलावे में डालने के लिये किया था और करते हैं? फिर, अँगरेज़ी के स्थान में किसका प्रयोग करें—हिन्दी का या उर्दू का या दोनों का एक साथ, और किस लिपि का व्यवहार करें? हिन्दी और उर्दू के कान पकड़ कर उन्हें एक करने की शक्ति तो उनमें या उनके आचार्य गांधी जी में है नहीं, और देवनागरी और फ़ारसी लिपि को एक ही लिपि साबित करना अथवा 'फारसी' लिपि को हिन्दुस्तानी होने का सार्टीफिकेट दिलाना बड़े से बड़े कानूनी दिमाग की पहुँच के बाहर है। तीसरे, युक्त-प्रान्त के लोग फिर किस 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से अपने विचार एक दूसरे के सामने रक्खेंगे और किस 'हिन्दुस्तानी लिपि' में एक दूसरे को लिखेंगे? और किस 'हिन्दुस्तानी' और किस लिपि में अदालतों में सरकारी और ग़ैर-सरकारी काम होगा? यदि हिन्दुस्तानी और ग़ैर-हिन्दुस्तानी का ख़्याल न करके हिन्दी और उर्दू दोनों और 'दोनों लिपियों' में ही काम होगा, तो वह शुभ दिन कब आवेगा जब

(१) अदालतों के जजों से लेकर छोटे से छोटे कर्मचारियों के लिये हिन्दी जानना और नियुक्ति से पहले **उर्दू की परीक्षा के समान स्टैंडर्ड की** हिन्दी विभागीय परीक्षा पास करना अनिवार्य क़रार दिया जायगा और वर्तमान कर्मचारियों को एक निश्चित अवधि के भीतर हिन्दी की इस परीक्षा को पास करने का आदेश दिया जायगा, जिस आदेश को भंग करने के दंडस्वरूप उनकी पदोन्नति और वेतन-वृद्धि रोक दी जायगी;

(२) अदालतों के सब रेकार्ड क़ानूनन हिन्दी में भी—केवल देवनागरी लिपि में नहीं वरन् हिन्दी भाषा में—रक्खे जायँगे, और सब अदालती नोटिस हिन्दी में भी दिए जायँगे तथा अन्य काम हिन्दी में भी होगा

('लीडर' में देवनागरी में छपे हुये 'Court Notices' की भाषा तो न्याय-मंत्री ने देखी ही होगी—यह भी क्या बेचारी 'जनता' का दोष है और जनता के करने की चीज़ है ?*);

(३) डिग्रियों, अन्य अदालती कागज़ों, आदि की सब नकलें बिना हील-हुज्जत, रोक-टोक या बाधा के हिन्दी में सरलतापूर्वक मिल सकेंगी ;

(४) सरकार की ओर से कानूनी पंडितों के एक बोर्ड द्वारा अँगरेज़ी तथा उर्दू की सब क़ानूनी पुस्तकों तथा क़ानूनों का हिन्दी में अधिकृत अनुवाद कराया जायगा ; और

(५) अदालत के सब कागज़ों, पर्चों, हुक्मनामों, सम्मनों और फार्मों, आदि में देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जायगा ?

---

* उदाहरण के लिये १५ अक्तूबर, १९४६ के 'लीडर' से देवनागरी में छपे हुये कोर्ट नोटिस की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

"..........वाजेह हो कि मुद्दई ने आपके नाम एक नालिश दफा ६९/६१ दायर की है, लिहाज़ा आपको हुक्म होता है कि आप बतारीख १७ माह अक्टूबर सन् १९४६ ब-वक्त १० बजे बमुक़ाम बलिया असालतन या मारफत वकील के जो मुक़दमा के हालात से करार वाकई वाकिफ किया गया हो और जो कुल अमूर अहम मुतल्लका मुक़दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख्स हो कि जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाज़िर हूजिये और जवाबदेही दावा की कीजिये—और हरगाह वही तारीख़ जो आपकी हाज़िरी के लिये मुक़र्रर है वास्ते इनफिसाल क़तई मुक़दमा के तजवीज हुई है। पस आपको लाज़िम है कि उस रोज़ अपने जुमला गवाहों को जिनकी शहादत पर नीज़ जुमला दस्तावेज जिन पर आप बताईद अपनी जवाबदेही के इस्तदलाल करना चाहते हैं उसी रोज़ पेश कीजिये। और आपको इत्तिला दी जाती है कि अगर बरोज़ मज़कूर आप हाज़िर न होंगे तो मुक़दमा बग़ैर हाज़िरी आपके मसमूअ और फैसल होगा।

बसब्त मेरे दस्तख़त और मोहर अदालत के आज बतारीख़ २८ माह ८ सन १९४६ ई० जारी किया गया।"

ये सब जनता के करने की नहीं, सरकार के करने की बातें हैं। जनता को यह कहकर धोखा नहीं दिया जा सकता कि सरकार ने तो हिन्दी को उर्दू के समकक्ष रख दिया है, हिन्दी में काम करने की छूट दे दी है, फिर जनता हिन्दी में काम क्यों नहीं करती? सोचने की बात यह है कि जनता हिन्दी में अधिक सुविधा का अनुभव करते हुए भी अदालती काम हिन्दी में क्यों, किस कारण, नहीं करती अर्थात् नहीं कर पाती और जनता की सरकार का क्या कर्त्तव्य है। यदि हमारे माननीय मंत्री आये दिन अँगरेज़ी का मौखिक विरोध और किसी अनजानी और अज्ञात 'हिन्दुस्तानी' की वकालत करके सस्ती नामवरी हासिल करने के बजाय थोड़ी साफ़ दिमाग़ी से काम लें, स्पष्ट बोलें, स्वयं आदर्श रक्खें और अपने करने का काम पूरा करें, तो अँगरेज़ी और झूठी हिन्दुस्तानी को हटाकर सच्ची हिन्दुस्तानी को अपना पद प्राप्त करने में ज्यादा आसानी हो।

परिशिष्ट १७

हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

१

गत वर्ष लखनऊ विश्वविद्यालय ने 'हिन्दुस्तानी' को शिक्षा का माध्यम बनाने का निर्णय किया। उसकी देखा-देखी पटना विश्वविद्यालय ने भी यही निर्णय किया। यह 'हिन्दुस्तानी' क्या चीज़ है? वह कहाँ पढ़ाई जाती है? क्या एक ऐसी भाषा जो स्कूलों और कालेजों में कहीं नहीं पढ़ाई जाती विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम हो सकती है? दोनों में से किसी विश्वविद्यालय ने इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट करने का कष्ट नहीं किया। ज़रूरत भी क्या थी! 'हिन्दुस्तानी' का दम भर कर यूनीवर्सिटी कोर्ट के 'राष्ट्रीय' सदस्यों को कांग्रेसी नेताओं से वाहवाही लूटनी थी, वह उन्हें मिल गई, शेष यूनीवर्सिटी के अध्यापक जानें और जानें यूनीवर्सिटी के छात्र। अतः उनके प्रस्ताव से 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ प्रकट होने की आशा करना बेकार है। प्रस्ताव से केवल यह पता चलता है कि 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी नहीं है और वह उर्दू भी नहीं है, और वह दोनों लिपियों में लिखी जाती है। याद रहे, लखनऊ विश्वविद्यालय ने 'हिन्दुस्तानी' के लिये रोमन लिपि भी स्वीकृत की, अतः कहना पड़ेगा कि इन प्रस्तावों से 'हिन्दुस्तानी' के विषय में केवल इतना पता चलता है कि 'हिन्दुस्तानी' में और कुछ आता हो या न आता हो, खड़ी बोली की क्रियायें और विभक्तियाँ अवश्य रहती हैं, और वह देवनागरी, फारसी लिपि या रोमन लिपि में लिखी जाती है।

अध्यापक-गण भी केवल इतने से बाध्य हो सकते थे, अतः लखनऊ विश्व-विद्यालय में इस समय जो पढ़ाई 'हिन्दुस्तानी' में हो रही है उसका नमूना यह है: "अगर एक बाडी पर दो ईकुअल फोर्सेज़ आपोज़िट डाइरेक्शन्स में ऐक्ट करें तो वह ऐट रेस्ट हो जाता है....."। और इस समय लखनऊ विश्व-विद्यालय में जो कुछ काम 'हिन्दुस्तानी' में हो रहा है वह सब रोमन लिपि में हो रहा है। अध्यापकों या छात्रों को दोष देना बेकार है। 'हिन्दुस्तानी' की दोरथी माया में फँस कर वे इसके सिवा कुछ और कर ही नहीं सकते। हिन्दुस्तानी वालों की खोखली राष्ट्रीयता और हिन्दी और उर्दू का अन्तर न देखने की उनकी ज़िद का एक ही परिणाम हो सकता है—इंगलिस्तानी और रोमन लिपि का जयजयकार। और यही लखनऊ विश्वविद्यालय में हो रहा है, और जब तक 'हिन्दुस्तानी' रहेगी तब तक होता रहेगा। इसे कोई रोक नहीं सकता।

कुछ लोग कहेंगे कि लखनऊ विश्वविद्यालय ने अपने प्रस्ताव में पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी और उर्दू में तैयार करने का आदेश भी तो दिया है, और इसलिये इङ्गलिस्तानी के लिये कोई गुंजाइश नहीं है। ठीक है, पर तो फिर 'हिन्दुस्तानी' क्या है ? प्रस्ताव में पाठ्य-पुस्तकों के विषय में जो कहा गया है, उसका तो यही अर्थ निकल सकता है कि 'हिन्दुस्तानी' से अभिप्राय हिन्दी+उर्दू से है। अगर यही बात है तो 'हिन्दुस्तानी' का ढकोसला किस लिये ? सुपरिचित और अर्थ-युक्त नामों 'हिन्दी' और 'उर्दू' के बजाय 'हिन्दुस्तानी' नाम का प्रयोग करने की ज़रूरत ? 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही चीज़ तो हैं नहीं, फिर 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दुस्तानी' रट कर एकता का स्वाँग भरने का कारण ? फिर एक ही विश्वविद्यालय में एक ही दरजे में दो माध्यमों हिन्दी और उर्दू के द्वारा पढ़ाई कैसे होगी ?

शायद लखनऊ विश्वविद्यालय के 'हिन्दुस्तानी' माध्यम वाले प्रस्ताव की इसी विचित्रता का अनुभव करके संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा-मंत्री ने कुछ दिन

हुये (मार्च, १६४७ में) प्रान्तीय असेम्बली में कहा कि मैं 'हिन्दुस्तानी' की कामन उच्च पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दावली गढ़ने के विषय पर विचार करने के लिये प्रान्त के विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलरों की एक कान्फ्रेंस बुला रहा हूँ। प्रस्ताव में प्रयुक्त 'हिन्दुस्तानी' शब्द का यह गढ़ात्मक प्रभाव पड़ना ही था। परन्तु आज तक तो 'हिन्दुस्तानी' बन न सकी। वाइस-चांसलरों की कान्फ्रेंस को सफलता मिल जायगी, इसकी आशा कैसे की जा सकती है ? हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों के स्त्रोत अलग, उर्दू के अलग। 'हिन्दुस्तानी' के पारिभाषिक शब्द किन स्त्रोतों से और किन सिद्धान्तों के अनुसार बनाये जायँ ? स्पष्ट है, हिन्दी वालों और उर्दू वालों के बीच में न आज तक कोई समझौता हो सका है और न अब हो सकता है। पता चला है कि इस कान्फ्रेंस में भाँति भाँति के तर्क देकर यह प्रस्ताव पेश किया जायगा कि 'हिन्दुस्तानी' के लिये उच्च पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्द संस्कृत और अरबी-फारसी के धातुओं से गढ़ने के बजाय अँगरेज़ी से ले लिये जायँ, और यही प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। अर्थात् जो 'इंगलिस्तानी' लखनऊ विश्वविद्यालय में चल रही है उस पर सरकारी स्वीकृति की मुहर लग जायगी ! चूँकि उच्च पारिभाषिक शब्दों और अपारिभाषिक शब्दों के बीच में कोई बेलाग रेखा नहीं खींची जा सकती, दूसरे शब्दों में, चूँकि यह नहीं कहा जा सकता कि 'बाडी' और 'फोर्स' भी उच्च पारिभाषिक शब्द हैं या नहीं, वह इंगलिस्तानी वर्त्तमान इंगलिस्तानी से कोई विशेष भिन्न नहीं हो सकती। परन्तु कठोर सत्य यह है कि समस्या फिर भी हल नहीं होती। उच्च पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दावली के अँगरेज़ी से लिये जाने पर भी हिन्दी और उर्दू का वर्त्तमान अन्तर तो रहेगा ही। एक सीमा तक हिन्दी और उर्दू की उच्च पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दावलियाँ भी या पहले से मौजूद हैं या अलग-अलग बन चुकी हैं, और यह सीमा दिन पर दिन आगे ही बढ़ेगी और बढ़ रही है। कुछ विषयों (जैसे धर्म,

दर्शन, इतिहास) की तो हिन्दी और उर्दू की उच्च से उच्च पारिभाषिक शब्दावलियाँ इस समय भी मौजूद हैं, और एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। और लिपियाँ तो भिन्न हैं ही। सारांश यह कि शिक्षा-मंत्री की योजना के सफल हो जाने के बाद भी हिन्दी और उर्दू की पाठ्य-पुस्तकें उच्च पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दों को छोड़कर वास्तव में हिन्दी और उर्दू में ही होंगी। इन सब बातों की रोशनी में लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रस्ताव का यह अर्थ निकलता है - शिक्षा के माध्यम दो हों हिन्दी और उर्दू, लिपि दो हों, पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी और उर्दू में छपें, परन्तु क्लास एक हो और अध्यापक एक हो; शेष अध्यापक पर छोड़ दिया जाय—जिस तरह उसे एक ही क्लास में एक ही घन्टे में दोनों माध्यम वालों को पढ़ा मिले उस तरह वह पढ़ावे, अर्थात् वह केवल खड़ी बोली की क्रियायें बोलने के लिये बाध्य हो, उनके साथ वह चाहे हिन्दी शब्दों का प्रयोग करे चाहे उर्दू शब्दों का —चाहे वह 'अनुवाद' कहे, चाहे 'तरजुमा'; चाहे 'विज्ञान', चाहे 'साइन्स'; चाहे 'राजनीति', चाहे 'स्यासत'; चाहे 'दशमलव' चाहे 'आशारिया', आदि, और बोर्ड पर चाहे जिस लिपि में—देवनागरी या फ़ारसी लिपि—में लिखे ('हिन्दुस्तानी' के अँगरेज़ी शब्दों की क़ानूनी सीमा बाँधने के बाद और रोमन लिपि का कानूनन बहिष्कार करने के बाद सहस्रों शब्दों के दो दो पर्याय और दो लिपियाँ तो फिर भी बच रहेंगी न)। *

*** संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा-मन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्द जी द्वारा संयोजित संयुक्त-प्रान्त के विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलरों की यह कांफरेन्स २ अगस्त, १९४७ को हो गई। इस कांफरेन्स को बुलाने की घोषणा शिक्षा-मन्त्री ने मार्च में की थी, हुई यह अगस्त में और इस बीच में भारत का विभाजन हो चुका था और उसके बाद यह भी सुनाई पड़ने लगा था कि संयुक्त-प्रान्त की सरकार ने हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया है, अतः आशा की जाती थी कि यह कांफरेन्स अब 'हिन्दुस्तानी' का बखेड़ा समाप्त कर हिन्दी को प्रान्त के विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम बनाने**

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'हिन्दुस्तानी' के शिक्षा का माध्यम होने का यह भी अर्थ निकलता है कि—(१) प्रोफ़ेसरों के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों का पूर्ण पंडित होना अनिवार्य क़रार दिया जाय, अर्थात् यदि एक प्रोफेसर एम० एस सी० (M. Sc.) क्लास को हिन्दी में भौतिकशास्त्र पढ़ा सकता है तो उसमें एम० एस सी० क्लास को उर्दू में भी भौतिक-शास्त्र पढ़ाने की योग्यता का होना आवश्यक होगा—२० वर्ष तक भौतिक-शास्त्र में शोध-कार्य करने के बाद अब वह उर्दू सीखे, उर्दू का पंडित बने, अन्यथा प्रोफ़ेसरी की आशा त्याग दे। विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों और

का निर्णय करेगी। परन्तु इस कांफरेन्स में हुये निर्णयों के विषय में सरकार की ओर से जो प्रेस विज्ञप्ति निकली है, उसमें हिन्दी का नाम तक नहीं है। विज्ञप्ति में कहा गया है कि इस कांफरेन्स में यह तय हुआ कि "मातृ-भाषा की वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दावली तुरन्त अपना ली जाय"। चूँकि यह स्पष्ट नहीं किया गया है (शायद जानबूझ कर) कि "मातृ-भाषा" से अभिप्राय किस भाषा से है, और चूँकि स्पष्टतः यह कांफरेन्स शिक्षा-मन्त्री की उसी घोषणा के आधीन हुई जो उन्होंने मार्च में की थी, मानना पड़ेगा कि "मातृ-भाषा" से अभिप्राय 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् हिन्दी+उर्दू से है (वैसे भी, इस प्रान्त के जो लोग उर्दू को अपनी "मातृ-भाषा" बताते हैं—और सरकार यह मानती रही है कि उनकी मातृ-भाषा उर्दू है—, उन्हें कांफरेन्स का यह निर्णय हिन्दी की "वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दावली" को मंज़ूर करने के लिये कैसे बाध्य कर सकता है? और $\frac{\text{हिन्दी+उर्दू}}{२}$ वाली 'हिन्दुस्तानी' की कोई 'वर्त्तमान पारि-भाषिक शब्दावली' है ही नहीं)। विज्ञप्ति में आगे कहा गया है कि कांफरेन्स में यह भी तय हुआ कि 'मातृ-भाषा की वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दावली" के अलावा जिन पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता है उनमें से ऐसे शब्द जिनका अन्तर्राष्ट्रीय प्रचलन है "अपनी भाषा की प्रकृति और ध्वनि-प्रणाली" के अनु-रूप ढालकर ग्रहण कर लिये जायँ (यहाँ भी "अपनी भाषा" से किस भाषा से अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं किया गया है; हिन्दी और उर्दू की ध्वनि-प्रणालियों में अधिक नहीं तो क़, ख़, ग़, फ़ की ध्वनियों का अन्तर तो है,

लेक्चरारों की नियुक्ति की यह एक शर्त होगी कि वे हिन्दी और उर्दू दोनों के पूर्ण ज्ञाता हों और अपना विषय हिन्दी और उर्दू दोनों में पढ़ाने की योग्यता रखते हों (उन्हें हिन्दी वालों और उर्दू वालों दोनों को पढ़ाना होगा न, और दोनों की कापियाँ जाँचनी और देखनी होंगी; दोनों लिपियों में दक्ष होना तो परमावश्यक होगा)। थोड़े दिन हुये, पत्रों में छपा था कि लखनऊ विश्वविद्यालय के कोर्ट में शीघ्र ही यह प्रस्ताव पेश होने वाला है कि विश्वविद्यालय के प्रत्येक अध्यापक के लिये 'प्रांत की दोनों वर्नाक्युलरों' का जानना आवश्यक करार दिया जाय। स्पष्ट है यह प्रस्ताव बात को पक्की

ही), और शेष शब्दों के "भारतीय पर्याय" गढ़े जायँ। चूँकि उर्दू अभारतीय भाषा नहीं कही जा सकती, "भारतीय पर्यायों" में अरबी-फ़ारसी पर्यायों के लिये गुंजाइश रहती ही है, परन्तु ज़रा देर के लिये मान लीजिए कि 'भारतीय पर्यायों' में अरबी-फ़ारसी के लिये गुंजाइश नहीं है और "मातृ-भाषा की वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दावली" को छोड़कर शेष पारिभाषिक शब्दावली एक ही और भारतीय होगी। पर मातृ-भाषा हिन्दी और मातृ-भाषा उर्दू की वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दावलियों, जो सर्वथा भिन्न हैं, पर तो स्वीकृति की मुहर लग ही गई। और लिपि के विषय में विज्ञप्ति में कुछ नहीं कहा गया है, जिसका अर्थ है कि 'हिन्दुस्तानी' की 'दोनों लिपियाँ' ज्यों की त्यों बहाल रहती हैं (वैसे भी 'मातृ-भाषा की वर्त्तमान पारिभाषिक शब्दावली' के साथ 'मातृ-भाषा की वर्त्तमान लिपि' आवेगी ही, और यह कौन नहीं जानता कि मातृ-भाषा उर्दू की लिपि 'उर्दू लिपि' है)। दूसरे शब्दों में, इस कांफ़रेन्स से 'हिन्दुस्तानी' की दोरुखी समस्या का समाधान नहीं होता, और परिस्थिति ज्यों की त्यों अर्थात् वही रहती है जिसका विवेचन ऊपर लेख में किया गया है। ऊपर जो अनुमान किये गए थे उनकी पुष्टि भी हो गई।

(लेखक ने उक्त विज्ञप्ति के प्रकाशित होने के बाद संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा-विभाग के सेक्रेटरी को एक पत्र लिखकर यह पूछा था कि विज्ञप्ति में आये हुए शब्दों 'मातृ-भाषा' और 'अपनी भाषा' से किस भाषा से अभिप्राय है। उस पत्र का उत्तर अभी तक नहीं आया। और न अब आने की आशा है। शायद यह मामला 'high policy' का और गोपनीय है! लेखक का

करने के लिये पेश किया जा रहा है; (२) ट्रेनिंग कालेजों में अध्यापकों को हिन्दी और उर्दू दोनों के माध्यम से शिक्षा देने की ट्रेनिंग दी जाय; (३) विद्यार्थियों के लिये आरंभ से ही हिन्दी और उर्दू दोनों अनिवार्य विषय कर दिये जायँ, और दोनों की समान स्टैंडर्ड की शिक्षा दी जाय, ताकि वे सब अध्यापकों के लेक्चर, चाहे कोई अध्यापक हिन्दी में लेक्चर दे और चाहे कोई उर्दू में, समझ सकें। यदि ऐसा न किया गया तो अध्यापकों को अपने लेक्चर में आने वाले प्रत्येक हिन्दी शब्द का उर्दू पर्याय और प्रत्येक उर्दू शब्द का हिन्दी पर्याय बताना पड़ेगा, और बोर्ड पर पहले देवनागरी में लिख कर फिर उसीको उर्दू लिपि में लिखना पड़ेगा

विश्वास है कि यह कांग्रेस की ढिलमिल नीति का एक और उदाहरण है—तुष्टीकरण की नीति में पगी हुई, बलहीन कांग्रेसी सरकार हिन्दुस्तानी छोड़ना नहीं चाहती, 'हिन्दुस्तानी' से डिग नहीं सकती, परन्तु साथ ही यह अनुभव करती है कि इधर जनता की तीव्र भावना हिन्दी के पक्ष में हो गई है, इसलिए जनता को धोखे में रखने के लिए और 'हिन्दुस्तानी' नाम से जो बखेड़ा पैदा होगा उससे बचने के लिए गोल-मोल शब्द 'मातृ-भाषा' की शरण ली गई है। बाद को कुछ जनता की आँख बचाकर, कुछ कांग्रेसी 'राष्ट्रीयता' और गांधीजी की जय बोलकर धीरे धीरे 'हिन्दुस्तानी' प्रतिष्ठित कर दी जायगी। नाम लेकर इस समय झगड़ा क्यों मोल लिया जाय?—ऐसा सरकार सोचती है। इसी कारण संयुक्त-प्रान्त की असेम्बली के अगले अधिवेशन में पेश होने वाले शिक्षा के पुनर्संगठन विषयक बिल का जो मसविदा अभी अभी छपा है, उसमें कहा गया है कि शिक्षा का माध्यम "प्रान्त की भाषा" होगा। क्या सरकार को इस प्रान्त की भाषा का नाम नहीं मालूम, अथवा क्या इस प्रान्त की भाषा का कोई नाम है ही नहीं? परन्तु नहीं, सरकार पहले ही घोषणा कर चुकी है कि इस प्रान्त की 'वर्नाक्युलर' को 'हिन्दुस्तानी' नाम से पुकारा जाय। सरकार सोचती है, फिर बिल में 'हिन्दुस्तानी' नाम लेकर सोने वालों को क्यों जगाया जाय, और जागने वालों को क्यों व्यर्थ और भड़काया जाय? और इस 'प्रान्त की भाषा' की लिपि क्या होगी, पूर्वयोजनानुसार इसका ज़िक्र ही नदारद है। कैसी दयनीय अवस्था है!

शिक्षा प्राप्त करेंगे, हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी बालकों पर उर्दू का अतिरिक्त बोझा डालकर उनके समय, शक्ति और पैसे का घोर अपव्यय किया जायगा, और उनके कोमल मस्तिष्क को व्यर्थ कमज़ोर किया जायगा, अथवा क्लास में उर्दू वाले विद्यार्थियों के कारण अध्यापकों से हिन्दी शब्दों के साथ साथ उर्दू पर्याय बुलवाकर और देवनागरी के साथ साथ उर्दू लिपि में लिखवा कर उनका समय नष्ट किया जायगा, और उनकी भाषा को विकृत किया जायगा। जबकि अन्य प्रान्तों में अध्यापक केवल प्रान्तीय भाषा द्वारा अपना विषय पढ़ाने की योग्यता प्राप्त करेंगे और केवल प्रान्तीय भाषा का ज्ञान प्राप्त कर अपना शेष समय और शक्ति अपने विषय में पारंगत होने में लगायेंगे, हिन्दी प्रान्तों में अध्यापकों पर हिन्दी और उर्दू दोनों का बोझ डालकर उनके समय, शक्ति और पैसे का घोर अपव्यय किया जायगा। दो लिपियों और दो माध्यमों के कारण पढ़ाई में, प्रयोगशालाओं में, दफ्तर के कार्य में और अन्य कार्यों में जो घोर असुविधा और पैसे का अपव्यय होगा सो अलग। इन सब बातों का परिणाम यह होगा कि हिन्दी प्रान्त अन्य प्रान्तों, जो एकभाषा-भाषी होंगे, के मुकाबले में पिछड़ जायँगे, हिन्दी बालक विद्या और बुद्धि की दौड़ में अन्यभाषा-भाषी बालकों के मुकाबले में पिछड़ जायँगे, और प्रान्त का जीवन भी दो टूक हो जायगा तथा प्रान्त की एकता भंग हो जायगी। शिक्षा के माध्यम के रूप में लिपि और भाषा का जो द्वैत फैलेगा वह धीरे धीरे राजभाषा के रूप में, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में—प्रान्तीय जीवन के प्रत्येक पहलू में—व्याप्त हो जायगा। प्रान्त में शिक्षा का खर्च व्यर्थ बढ़ जायगा। प्रान्त में वैज्ञानिक अनुसंधान के कार्य में तथा टेकनिकल उन्नति में विकट बाधा पड़ जायगी। हिन्दी भाषा और संस्कृति की दुर्गति हो जायगी। हिन्दी वैसी उन्नति कभी न कर सकेगी जैसी अपने अपने प्रान्तों में अखंड राज्य करने वाली प्रान्तीय भाषायें करेंगी। आदि, आदि।

अब प्रश्न होता है कि इस 'हिन्दुस्तानी' के ढोंग से क्या लाभ होगा ? इस 'हिन्दुस्तानी' माध्यम से तो कहीं श्रेयस्कर यह है कि हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी और उर्दू दोनों को साफ-साफ शिक्षा का माध्यम स्वीकृत कर लिया जाय, और दोनों का अलग-अलग प्रबन्ध किया जाय—शहरों में आवश्यकतानुसार कुछ शिक्षा संस्थाओं का माध्यम उर्दू हो, शेष का हिन्दी; गाँवों में यदि एक स्कूल में उर्दू माध्यम की माँग करने वाले छात्रों की संख्या एक निश्चित अनुपात (मान लीजिये १५ प्रतिशत) से बढ़ जाय तो उसमें उर्दू माध्यम का भी अलग प्रबन्ध किया जाय; और अखिल प्रान्तीय शिक्षा-संस्थाओं (जैसे विश्वविद्यालयों) में आवश्यकतानुसार कुछ का माध्यम उर्दू हो, शेष का हिन्दी (यद्यपि आवश्यकतानुसार एक ही शिक्षा-संस्था में दोनों माध्यमों का प्रबन्ध किया जा सकता है)। क्योंकि वही दो लिपियाँ रहेंगी, वही हिंदी और उर्दू में पाठ्य पुस्तकें छपेंगी, शिक्षा-प्रकाशन का वही खर्च रहेगा—सब बात वही रहेगी, परन्तु छात्रों और अध्यापकों दोनों की 'हिन्दुस्तानी' माध्यम के ढोंग से पैदा होने वाली असीम मुश्किलें और मुसीबतें टल जायँगी। हिन्दी की शुद्धता की रक्षा और हिन्दी भाषियों के अधिकारों की आंशिक रक्षा भी हो जायगी। यदि इससे शिक्षा का व्यय कुछ बढ़ जायगा—जैसे मान लीजिये कि एक शिक्षा-संस्था में 'हिन्दुस्तानी' के एक प्रोफेसर के बजाय उसी विषय को पढ़ाने के लिये दो प्रोफेसरों, एक हिन्दी जानने वाला और एक उर्दू जानने वाला, की नियुक्ति करनी पड़ेगी, तो यह नहीं भूलना चाहिये कि 'हिन्दुस्तानी' माध्यम के सिलसिले में हिन्दी और उर्दू दोनों के बोझे के कारण छात्रों तथा अध्यापकों के समय और शक्ति का जो अपव्यय होगा उसका भी रुपया आना पाई में मूल्य कूता जा सकता है। फिर यदि एक 'हिन्दुस्तानी' का प्रोफेसर हिन्दी और उर्दू दोनों के माध्यम से पढ़ाने की योग्यता रखता है (या रख सकता है) तो वही एक प्रोफेसर हिन्दी वाले छात्रों और उर्दू वाले छात्रों दोनों को एक ही क्लास में एक ही घंटे में

पढ़ाने के बजाय उन्हें अलग अलग पढ़ा सकता है। छात्रों का समय क्यों नष्ट किया जाय? यह भी नहीं भूलना चाहिये कि शिक्षा का प्रसार होने पर छात्रो की संख्या यही नहीं रहेगी और प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थियों को कई सेक्शनों में बाँट कर पढ़ाना पड़ेगा (जैसे आजकल भी स्कूलों में प्रत्येक कक्षा के दो दो सेक्शन होते हैं)। प्रत्येक सेक्शन में हिन्दी वालों और उर्दू वालों दोनों को एक साथ पढ़ाने के बजाय हिन्दी वालों को एक या अधिक सेक्शनों में इकट्ठा करके अलग और उर्दू वालों को एक या अनेक सेक्शनों में इकट्ठा करके अलग पढ़ाया जा सकता है। हिन्दी और उर्दू दोनों को स्पष्ट रूप से शिक्षा का माध्यम स्वीकृत करने से एक लाभ यह भी होगा कि उर्दू प्रान्तों जैसे पंजाब, सीमा-प्रान्त और सिन्ध में भी हिन्दी को अलग शिक्षा का माध्यम स्वीकृत कर लिया जायगा या कराने का अवसर रहेगा, अन्यथा इन प्रान्तों में हिन्दी प्रान्तों का हवाला देकर कागज़ पर 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम घोषित किया जायगा परन्तु व्यवहार में उसे शुद्ध उर्दू से अभिन्न बना दिया जायगा, और 'दोनों लिपि' को अव्यावहारिक बता कर देवनागरी को उड़ा दिया जायगा, और इस प्रकार हिन्दी की बिलकुल जड़ काट दी जायगी।

सारांश यह कि लखनऊ विश्वविद्यालय का 'हिन्दुस्तानी' को शिक्षा का माध्यम घोषित करना एकता का ढकोसला मात्र है क्योंकि 'हिन्दुस्तानी' से मतलब किसी एक ही सुनिश्चित भाषा और एक ही लिपि से नहीं है, और इस 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम स्वीकृत करना हिन्दी और उर्दू दोनों को माध्यम स्वीकृत करने से किसी भी बात में श्रेयस्कर नहीं है। और जहाँ तक 'हिन्दुस्तानी' माध्यम से तात्पर्य किसी वर्त्तमान या भविष्य में गढ़ी जाने वाली हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ी की खिचड़ी भाषा से है, वहाँ तक वह हिन्दी प्रांतों में हिन्दी पर और हिन्दी भाषियों के अधिकारों पर क्रूर कुठाराघात है। कहना न होगा कि राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में कांग्रेस ने जिस वाद को

अपनाया था और वह जिस रास्ते पर चल रही थी, उससे प्रकट था कि 'हिन्दुस्तानी' माध्यम के दूसरे अर्थ पर ज़ोर दिया जाता, और कांग्रेसी सरकारें 'हिन्दुस्तानी' माध्यम के नाम पर हिन्दी की सुन्नत करके उसे दोनों लिपियों में हिन्दी प्रांतों में शिक्षा के माध्यम के पद पर प्रतिष्ठित करतीं। श्री सम्पूर्णानन्द का 'हिन्दुस्तानी' की पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने के लिये संयुक्त-प्रान्त के विश्वविद्यालयों के वाइस-चान्सलरों की कान्फ्रेंस का आयोजन करना इस ओर एक कदम था। विभिन्न प्रांतों मे विभिन्न प्रांतीय भाषायें शिक्षा का माध्यम होतीं, पंजाब, सीमा-प्रांत और सिन्ध में उर्दू शिक्षा का माध्यम होती परतु हिन्दी कहीं शिक्षा का माध्यम नहीं होती—हिन्दी प्रांतों में भी नहीं। इस क्षेत्र से हिन्दी का अस्तित्व उठ जाने के बाद अन्य सब क्षेत्रों से हिन्दी का अस्तित्व स्वतः उठ जाता क्योंकि जब जड़ ही सूख जाती तो पत्ते हरे कैसे रह सकते थे।

२

परन्तु अब परिस्थिति बिलकुल बदल चुकी है। देश के विभाजन के बाद कांग्रेस के हिन्दुस्तानीवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। अधिक कहने की ज़रूरत नहीं। भारतीय विधान-परिषद की कांग्रेस पार्टी ने हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्र भाषा और राष्ट्र-लिपि बनाने के पक्ष में फैसला देकर इस सत्य को स्वीकार कर लिया है। हमें खेद अवश्य है कि कांग्रेस की आँखें खोलने के लिये देश के विभाजन जैसी हृदय को विदीर्ण करने वाली और कलेजा मसोसने वाली घटना की ज़रूरत पड़ी। अस्तु, अब हिन्दुस्तानी-वाद का सर्वथा अन्त हो जाना चाहिये। इसके बाद अब हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा के माध्यम के रूप में केवल हिन्दी और उर्दू पर विचार करना शेष रह जाता है। परन्तु हिन्दी प्रांतों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों माध्यम के रूप में स्वीकृत नहीं की जा सकतीं। कारणों की ओर ऊपर इशारा किया जा चुका है। चाहे दोनों माध्यम वालों

को 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर एक ही क्लास में पढ़ाया जाय (जैसा लखनऊ विश्वविद्यालय ने सोचा है) और चाहे हिन्दी माध्यम और उर्दू माध्यम का अलग अलग प्रबन्ध किया जाय *, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के हिन्दी और उर्दू, दो माध्यम होने से प्रांत की एकता भंग हो जायगी, प्रांत की उन्नति रुक जायगी, प्रान्त पिछड़ जायगा, प्रान्त पर शिक्षा के व्यय का भार बढ़ जायगा, आदि, आदि। विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी प्रान्तों के लिये शिक्षा के दो माध्यमों के होने से बढ़कर बुरी और घातक बात कोई दूसरी नहीं हो सकती। यह शाश्वत सत्य है, अर्थात् यह पहले भी सत्य था। **परन्तु बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति में तो हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी और उर्दू दोनों को माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम कदापि, किसी भी हालत में स्वीकृत नहीं किया जा सकता।** देश के विभाजन से हिन्दी प्रान्तों में उर्दू को शिक्षा का माध्यम स्वीकृत न करने के जो विशेष कारण उत्पन्न हो गये हैं, उनमें से एक लेखक के निजी अनुभव पर आधारित है। कुछ दिन हुए, लेखक ने एक मुसलमान रंगसाज़ से, जो उसके यहाँ काम करने आया

*** ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि हिन्दी वालों और उर्दू वालों दोनों को एक ही क्लास में पढ़ाना संभव नहीं—विशेष रूप से माध्यमिक और ऊँचे स्टेजों में। इसके अतिरिक्त छात्रों और अध्यापकों पर हिन्दी और उर्दू दोनों सीखने का बोझा नहीं डाला जा सकता, और न क्लास में उर्दू वाले छात्रों की उपस्थिति के कारण उर्दू शब्दों को भी बोल-बोल कर और उर्दू लिपि में भी लिख-लिख कर हिन्दी छात्रों का समय नष्ट किया जा सकता है। बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति में यह सब और भी असह्य है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी और उर्दू दोनों को शिक्षा का माध्यम स्वीकृत करने का यही अर्थ है कि हिन्दी माध्यम का अलग और उर्दू माध्यम का अलग प्रबंध करना होगा, और शिक्षा पर बिलकुल दूना व्यय होगा। इस व्यय का अधिकांश हिन्दी करदाताओं की जेब से ही आवेगा, अर्थात् हिन्दी करदाताओं के ख़र्चे से उर्दू माध्यम का अलग प्रबंध करना पड़ेगा।**

था, पूछा कि तुम यहीं रहोगे या पाकिस्तान जाओगे ? उसने कहा, हम तो यहीं रहेंगे, पाकिस्तान में रोज़गार जमाने के लिये रुपया कहाँ से लावें ? लेखक ने कहा कि इसमें कठिनता नहीं होगी क्योंकि पाकिस्तान में व्यापारियों और कारीगरों की कमी है। उसने जवाब दिया कि हाँ साहब, **यह तो ठीक है कि बड़े बड़े शहर सब निकल गये।** यह एक ग़रीब, अपढ़ मुसलमान की मनोवृत्ति है जो स्वयं कहता है कि मुझे यहीं रहना है ! वह दिल में अपने को यहाँ का नहीं वरन् पाकिस्तान का नागरिक मानता है, और उसकी सहानुभूति, प्रेम तथा देशभक्ति पाकिस्तान के साथ हैं। लेखक ने उससे फिर पूछा, तो फिर जिन्ना साहब ने पाकिस्तान लिया क्यों ? उसका उत्तर सुनकर लेखक तो स्तंभित रह गया। उसने कहा, बल्कि यों कहिये उसके मुँह से बेसाख्ता निकल गया, हमें तो पूरे हिन्दुस्तान पर कब्ज़ा करना है ! प्रश्न होता है कि इस मुसलमान की मनोवृत्ति में अन्तर क्या आप उर्दू माध्यम का प्रबन्ध करके डाल सकते हैं ? कदापि नहीं। वह तो केवल उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को और प्रबल करने में, उसे अपने को अन्य प्रान्त-वासियों से पृथक अनुभव कराने में, देश के विरुद्ध षड्यन्त्र रचाने में और पाकिस्तान से चलने वाले संकेतों और कुचक्रों को सफलीभूत कराने में सहायक होगा। उर्दू माध्यम वाले स्कूल और कालेज (अथवा उर्दू माध्यम वाले क्लास) फिफ्थ कालम वालों के स्रोत, उनके शिक्षा-गृह, उनके अड्डे और दिमाग़ बन जायँगे। उर्दू माध्यम का प्रबन्ध करना अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारना होगा। अगर हम इन मुसलमानों को अपने में मिलाना और खपाना चाहते हैं और अगर हम चाहते हैं कि हिन्दी प्रान्तों का जीवन साम्प्रदायिकता और द्वैत से मुक्त हो जाय, तो उसका एक ही उपाय है— प्रान्त भर के लिये, सबके लिये केवल हिन्दी माध्यम स्वीकृत किया जाय। इसी प्रकार प्रान्त में राष्ट्रीय और एकरस जीवन का निर्माण हो सकता है, एकता की नींव इसी आधार पर रक्खी जा सकती है, इसी प्रकार प्रान्त

दो-दो भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के दुष्परिणाम, अनन्त बखेड़े, परेशानियों और फिज़ूल खर्च से बच सकता है, इसी प्रकार हिन्दी और हिन्दी संस्कृति की शुद्धता की रक्षा हो सकती है, इसी प्रकार हिन्दी अपने अपने प्रदेश में अखण्ड राज्य करने वाली प्रान्तीय भाषाओं की भाँति अबाध उन्नति कर सकती है, और इसी प्रकार हिन्दी प्रान्त अन्य एकभाषा-भाषी प्रान्तों की भाँति उन्नति कर सकते हैं। विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। शहरों में रहने वाले थोड़े से मुसलमानों (और थोड़े से हिन्दुओं) के कारण हिन्दी प्रांतों का भविष्य नहीं बिगाड़ा जा सकता और हिंदू करदाताओं का रुपया नहीं लुटाया जा सकता। अल्पसंख्यकों के साथ न्याय अथवा उनके धर्म और संस्कृति की रक्षा का अर्थ यह नहीं है कि प्रान्त का जीवन दो टूक कर दिया जाय और प्रान्त के लिये असीम कठिनाइयाँ पैदा कर दी जायँ। हिन्दी प्रान्तों में मुसलमानों की संस्कृति और भाषा (उनकी मातृ-भाषा क्या है !) की रक्षा का अर्थ यही हो सकता है कि पाठ्य-क्रम में उर्दू वैकल्पिक विषय रहे ताकि जो विद्यार्थी चाहे वह उर्दू भाषा और साहित्य का विषय ले सके। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि विशेष परिस्थितियों में, जैसे एक स्कूल में एक निश्चित अनुपात से अधिक संख्या में विद्यार्थियों के माँगने पर, प्राथमिक शिक्षा उर्दू के माध्यम से भी देने की सुविधा दे दी जाय (यह सुविधा भी तभी दी जा सकती है जब पाकिस्तान में हिन्दी वालों को हिन्दी के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा दी जाय)। पाकिस्तान की सरकार भी, यदि वह अल्पसंख्यकों के प्रति बहुत उदार हुई और उसने उनकी संस्कृति की रक्षा करने के विषय में दिये हुये अपने आश्वासनों को पूरा किया तो, हद से हद यह करेगी कि पाठ्य-क्रम में हिन्दी भाषा और साहित्य का विषय वैकल्पिक विषय के रूप में रख देगी, परन्तु वहाँ शिक्षा का माध्यम उर्दू ही होगा। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर डा० ज़ियाउद्दीन (जिन्हें पाकिस्तान सरकार ने ऐसे मुसलमान

इंजीनियरों, मुसलमान वैज्ञानिकों और अन्य मुसलमान टेकनिकल व्यक्तियों की सूची बनाने का काम सौंपा है जो पाकिस्तान की सेवा करने को तैयार है) ने स्पष्टतः घोषित कर दिया है कि पाकिस्तान के सब विश्व-विद्यालयों (अर्थात् ढाका विश्वविद्यालय का भी) की शिक्षा का माध्यम उर्दू होगा, और यह भी कहा है कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय का भी माध्यम उर्दू होगा। सिन्ध के शिक्षा-मंत्री ने बताया है कि कराची विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम तो उर्दू होगा ही, सिन्ध में, और पाकिस्तान भर में, माध्यमिक शिक्षा का भी माध्यम उर्दू होगा और उर्दू का विषय प्राथमिक स्टेज से ही सबके लिये अनिवार्य होगा, अलबत्ता प्राथमिक शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से दी जायगी (यह देखना बाकी है कि प्राथमिक शिक्षा के लिये ही हिन्दी भी माध्यम के रूप में स्वीकृत की जाती है या नहीं)। सिन्ध सरकार ने हिन्दुओं की शिक्षा-संस्थाओं को, जो संभव था हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनातीं, स्पष्ट धमकी दी है कि यदि उन्होंने माध्यम के विषय में सरकारी नीति का अनुकरण न किया तो सरकारी मदद बिलकुल बन्द कर दी जायगी, और यह भी घोषित कर दिया गया है कि सिन्ध की जो भी शिक्षा-संस्था, चाहे उसे सरकार एक पैसे की भी मदद न देती हो, कराची विश्वविद्यालय से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ेगी, (अर्थात् जो उर्दू को शिक्षा का माध्यम नहीं बनावेगी), उसे सरकारी स्वीकृति (recognition) प्राप्त नहीं होगी। यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि पाकिस्तान ने उच्च शिक्षा का माध्यम केवल एक रखकर अनुचित नहीं किया है। सभी उन्नति-शील और प्रजातांत्रिक देशों में जहाँ एक अल्पसंख्यक दल को खुश करने के लिये उसके साथ विशेष व्यवहार करना और उसे सिर पर बैठाना राष्ट्रीयता नहीं समझा जाता, ऐसा ही होता है। अमरीका की ही मिसाल दी जा सकती है, जहाँ जर्मन, डच, फ्रांसीसी, अँगरेज़ आदि सभी नागरिकों की शिक्षा का माध्यम केवल एक, अँगरेज़ी, है। राष्ट्रीय

जीवन का निर्माण और राष्ट्र का निर्माण इसी प्रकार होता है, और आधुनिक युग में किसी देश में या किसी प्रान्त या शासन-क्षेत्र (administrative area) में उच्च शिक्षा का काम, वैज्ञानिक और टेकनिकल अनुसंधान, वैज्ञानिक, टेकनिकल और बौद्धिक उन्नति तथा अन्य आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति इसी प्रकार हो सकती है। फिर, यदि हम आज हिन्दी प्रान्तों में मुसलमानों के लिये उर्दू माध्यम स्वीकृत कर लेते हैं, तो क्या कल हमें सरकारी ख़र्च पर ही प्रान्त में बसे हुये बंगालियों के लिये बँगला माध्यम, पंजाबियों और सिखों के लिये पंजाबी माध्यम, आदि स्वीकृत नहीं करने पड़ेंगे ? इसका अन्त कहाँ होगा ? हिन्दुस्थान के किन दूसरे प्रान्तों में ऐसा झमेला पाला जायगा (पाकिस्तान में तो नहीं पाला जायगा हो)? यह उदारता, आदि का सवाल नहीं है। यह व्यावहारिकता, राष्ट्रीयता और आत्म-रक्षा का सवाल है। व्यावहारिकता और राष्ट्रीयता की बात पहले कही जा चुकी है। आत्म-रक्षा के विषय में दूर न जाकर अपने पड़ोसी पाकिस्तान पर नजर डालना काफी है। अभी हाल में (८ जौलाई, १९४७) श्री क० मा० मुंशी ने एक सार्वजनिक सभा में एक भाषण करते हुये कहा, "..........For the sake of a worn-out and discredited nationalism of yesterday we cannot sacrifice homogeneity, otherwise we shall not be able to withstand the religious nationalism of a neighbouring nation." ये शब्द बार बार विचार करने योग्य हैं। 'Homogeneity' (एकरसता) के लिये सबसे अधिक आवश्यक है शिक्षा के माध्यम का एक ही होना। स्पष्ट है, जिस परिस्थिति में संयुक्त-प्रान्त की पिछली कांग्रेसी सरकार द्वारा बैठाई हुई नरेन्द्रदेव कमेटी ने संयुक्त-प्रान्त के लिये हिन्दी और उर्दू दो माध्यमों की सिफारिश की थी (अन्य हिन्दी प्रान्तों में भी इसी सिफारिश पर चला जाता), अब वह नहां

रही। इस सिफारिश को मानना अव्यावहारिक और राष्ट्र-घातक और प्रान्त-घातक तो होगा ही, आज की परिस्थिति में आत्म-हत्या होगा।

हिन्दी प्रान्तों में शिक्षा के माध्यम के प्रसंग में एक और बात ध्यान देने योग्य है। हिन्दी और उर्दू दोनों के शिक्षा के माध्यम स्वीकृत होने के बाद स्वाभाविकतया यह माँग पेश की जायगी कि हिन्दी और उर्दू दोनों प्रान्त की राज-भाषा, कचहरियों, दफ्तरों की भाषा, आदि के रूप में स्वीकृत की जायँ। इससे कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी, इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। प्रान्त का काम चलना असंभव-प्राय हो जायगा (क्योंकि आड़े आने के लिये आज की भाँति अँगरेज़ी तो होगी नहीं)। इसके बरक्स यदि हिन्दी प्रान्तों में हमें केवल हिन्दी को राजभाषा, कचहरियों, दफ्तरों, असेम्बली, आदि की भाषा बनाना है (संयुक्त-प्रान्त की सरकार ने तो यह निर्णय कर भी लिया है), तो इसकी एक कारोलरी यह है कि हिन्दी प्रान्तों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम केवल हिन्दी हो, क्योंकि तभी राजकार्य चल सकता है, कचहरियों, दफ्तरों आदि के लिये योग्य कर्मचारी, क्लर्क आदि (हिन्दू और मुसलमान) मिल सकते हैं और प्रान्त के जीवन में सब समान रूप से भाग ले सकते हैं। यदि सबकी माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी को न भी बनाया गया, तो कम से कम हिन्दी भाषा का विषय तो सबके लिये आरंभ से ही अनिवार्य करना ही पड़ेगा। फिर माध्यमिक स्टेज में पहुँच कर सबको हिन्दी के माध्यम से ही शिक्षा क्यों न दी जाय ? उसमें क्या कठिनाई होगी ? वहाँ उर्दू को अलग माध्यम बनाकर अनन्त परेशानियाँ और कठिनाइयाँ क्यों मोल ली जायँ ? एक बात और है। हिन्दी हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा होने जा रही है। इस नाते भी हिन्दी का महत्त्व कम न होगा। देश भर में सबके लिये हिन्दी भाषा का विषय अनिवार्य होगा (जिस प्रकार आज अँगरेज़ी का विषय अनिवार्य है)। देश का सब केन्द्रीय काम और अन्तर्प्रान्तीय

व्यवहार हिन्दी में होगा। अतः सोचना तो यह है कि सब प्रान्तों में हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाना कहाँ तक वांछनीय और आवश्यक है। एक ही प्रान्त में उच्च शिक्षा के दो माध्यमों के होने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अन्त में एक बात और स्पष्ट करने की आवश्यकता मालूम होती है। शायद यह कहा जाय कि 'हिन्दुस्तानी' नाम रहने दिया जाय, वह होगी हिन्दी ही। पर इसकी आवश्यकता? यह तो हद दर्जे की कमज़ोरी का प्रदर्शन और धोखा देना होगा। हिन्दी के लिये 'हिन्दुस्तानी' नाम कभी स्वीकृत नहीं किया जा सकता। कारण ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों हैं। कोई कारण नहीं यह नाम-परिवर्त्तन क्यों किया जाय। फिर, 'हिन्दुस्तानी' नाम रहते हिन्दी भाषा कभी आ ही नहीं सकती (शायद इसीलिये 'हिन्दुस्तानी' पर इतना ज़ोर दिया जाता है)। चूँकि 'हिन्दुस्तानी' ब-ज़ात-ए-ख़ुद कोई चीज़ नहीं, उसका कोई इतिहास या निजी थाती नहीं, उसका अर्थ तो या हिन्दी+उर्दू लगाया जायगा या $\frac{\text{हिन्दी+उर्दू}}{२}$। संयुक्त-प्रान्त में 'हिन्दुस्तानी' साहित्य की उन्नति के लिये स्वीकृत ५०,०००) के विषय में जो सरकारी घोषणा हुई है, उसमें स्वयं सरकार ने 'हिन्दुस्तानी' का यह अर्थ लगाया है ('हिन्दी' और 'उर्दू' साफ़ साफ़ रक्खी गई हैं और $\frac{\text{हिन्दी+उर्दू}}{२}$ के लिये "........and what is recognised as Hindustani" कह कर गुंजाइश रक्खी गई है)। और फिर लिपि के मामले में तो 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ अवश्य हो देवनागरी+फ़ारसी लिपि लगाया जायगा। यह सब अब नितान्त असह्य है। हिन्दुस्तानी-वाद के साथ साथ अब 'हिन्दुस्तानी' नाम का भी सर्वथा अन्त हो जाना चाहिये।

संक्षेप में—

(१) हिन्दी प्रान्तों की भाषा-समस्या (जो ज़बरदस्ती पैदा की गई है)

और लिपि-समस्या (जो 'हिन्दुस्तानी' के झमेले के बाद भी ज्यों की त्यों रहती है) का एक मात्र व्यावहारिक और राष्ट्रीय हल, तथा देश के विभाजन से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का तकाज़ा यह है कि हिन्दी प्रान्तों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम केवल हिन्दी होनी चाहिये। जो ग़ैर-सरकारी शिक्षा-संस्था ऐसा करना स्वीकार न करे, उसे न सरकार मदद दे और न उसे सरकार स्वीकृत (recognise) करे।

(२) माध्यमिक स्टेज से हिन्दी के शिक्षा का माध्यम होने का अर्थ है कि हिन्दी भाषा का विषय प्राथमिक (primary) स्टेज से ही सबके लिये अनिवार्य हो (अन्यथा माध्यमिक स्टेज में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा कैसे दी जायगी?), और कम से कम माध्यमिक स्टेज के अन्त तक (आजकल के इन्टरमीजिएट तक) सबके लिये अनिवार्य रहे, और तदपुरान्त आजकल की 'जेनरल इङ्गलिश' की भाँति 'साधारण हिन्दी' का विषय सब के लिये अनिवार्य हो।

(३) विशेष परिस्थितियों में प्राथमिक शिक्षा के लिये उर्दू, बँगला, आदि के माध्यम का भी प्रबन्ध किया जा सकता है। परन्तु हिन्दी भाषा का विषय फिर भी सबके लिये अनिवार्य होगा। अवश्य ही यह उर्दू, बँगला, आदि के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों पर एक अतिरिक्त बोझा होगा, और परिणामस्वरूप अधिक से अधिक विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे। यह वांछनीय है।

(४) उर्दू भाषा और साहित्य का विषय माध्यमिक स्टेज से वैकल्पिक विषयों की सूची में रक्खा जाय। बँगला, पंजाबी या अन्य प्रान्तीय भाषायें भी माध्यमिक स्टेज से वैकल्पिक विषयों की सूची में रक्खी जायँ।

(५) रेडियो के स्कूली प्रोग्राम, शिक्षा-फ़िल्म, आदि सब हिन्दी में हों और बनें।

(६) आजकल संयुक्त-प्रांत में एँग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों में छात्रों के लिये

आठवीं कक्षा तक हिन्दी और उर्दू दोनों पढ़ने की, और अध्यापकों के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों की विभागीय परीक्षायें पास करने की जो अनिवार्यता है वह तुरन्त हट जानी चाहिये। यह हिन्दी वालों के साथ सरासर अन्याय है। हिन्दी प्रांतों में कुछ लड़के उर्दू पढ़ते हैं, यह हिन्दी वालों का कसूर नहीं है जिसके दंडस्वरूप उन पर (यहाँ तक कि हिन्दी बालिकाओं पर भी) उर्दू का भी बोझ डाला जाय। किसी दूसरे प्रान्त में ऐसा नहीं होता (यहाँ तक कि पंजाब में उर्दू लेने वालों पर वहाँ की असंदिग्ध मातृ-भाषा पंजाबी का भी बोझ नहीं डाला जाता)। जब उर्दू प्रांतों में उर्दू वालों के लिये हिन्दी अनिवार्य नहीं है, तब हिन्दी प्रांतों में हिन्दी वालों के लिये उर्दू अनिवार्य करके उर्दू का अनर्गल प्रचार नहीं किया जा सकता। पहले (अर्थात् जब राजदर्बार में उर्दू का बोलबाला था) उर्दू की चाहे जो आवश्यकता रही हो, अब हिन्दी प्रांतों में हिन्दी वालों को उर्दू की कोई आवश्यकता भी नहीं रह गई। हिन्दी राष्ट्र-भाषा है अत: सबको पढ़ना पड़ेगी और सबकी कामन भाषा होगी। हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी राजभाषा, शिक्षा का माध्यम, आदि और इस कारण सबके लिये अनिवार्य विषय और सबकी कामन भाषा होगी ही। उर्दू वालों को हिन्दी पढ़नी पड़ेगी, हिन्दी वालों को उर्दू नहीं पढ़नी पड़ेगी। हिन्दी वाले अपनी बची हुई शक्ति अन्य विषयों में क्यों न लगावें? और शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने पर अध्यापकों के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों की विभागीय परीक्षायें पास करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

(७) हिन्दुस्तानी-वाद और 'हिन्दुस्तानी' नाम का तुरन्त अन्त हो जाना चाहिये। लखनऊ और पटना विश्वविद्यालय तुरन्त अपना पारसाल वाला निर्णय बदलकर देवनागरी में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने की घोषणा करें। स्कूलों से 'हिन्दुस्तानी बोलचाल', 'महमूद सीरीज़', 'राजेन्द्र सीरीज़', आदि की 'हिन्दुस्तानी' की पुस्तकों का बिलकुल बहिष्कार हो जाना

चाहिये। 'ऐंग्लो-हिन्दुस्तानी' स्कूलों का नामकरण 'ऐंग्लो-हिन्दी स्कूल' और अँगरेजी के हटने पर 'हिन्दी स्कूल' होना चाहिए। संयुक्त-प्रान्त की 'वर्नाक्युलर' सब जगह 'हिन्दी' लिखी व बताई जाय, 'हिन्दुस्तानी' नहीं। संयुक्त-प्रान्त की सरकार को अपना वह आर्डर वापस ले लेना चाहिये जिसमें संयुक्त-प्रान्त की 'वर्नाक्युलर' को 'हिन्दुस्तानी' नाम से पुकारने का आदेश दिया गया है, और 'हिन्दुस्तानी' साहित्य की उन्नति के लिए स्वीकृत ५०,०००) हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए दे देना चाहिये। अच्छा हो यदि संयुक्त-प्रान्त का नाम हिन्द-प्रान्त या हिन्द रक्खा जाय।

(८) इस पर विचार किया जाय कि देश भर में उच्च शिक्षा अर्थात् विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम केवल एक (जो हिन्दी ही होगी) होना कहाँ तक वांछनीय, आवश्यक और व्यावहारिक है। यह नहीं भूलना चाहिये कि अमरीका और रूस में ऐसा ही है और पाकिस्तान में भी ऐसा ही होगा। कम से कम यह तो नितान्त आवश्यक है कि देश भर में विज्ञान तथा अन्य विषयों की उच्च पारिभाषिक शब्दावली एक ही और कामन हो। यह शब्दावली हिन्दी की ही हो सकती है। इसके निर्माण में नेतृत्व हिन्दी वालों को ही ग्रहण करना है। इस विषय में लाहौर की इन्टरनेशनल एकाडेमी आफ़ इण्डियन कलचर के अन्तर्गत डाक्टर रघुवीर का कार्य अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा। संयुक्त-प्रान्त के शिक्षा-मन्त्री को चाहिये कि वे अपनी पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में केवल पटना, दिल्ली और सौगोर विश्वविद्यालयों का ही नहीं वरन् देश के सब विश्वविद्यालयों का सहयोग प्राप्त करें ताकि देश भर के लिए एक सर्वसम्मत, कामन शब्दावली का निर्माण हो सके। यह शब्दावली देश भर के विश्वविद्यालयों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम स्वीकृत कराने की ओर पहला कदम होगी। इस काम में केन्द्रीय सरकार को भी हाथ बँटाना चाहिए।

उत्तर-परिशिष्ट १

रोमन लिपि का जयजयकार

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

हिन्दुस्तानी-वाद पर दृष्टिपात करते हुए प्रसिद्ध भाषा-वेत्ता डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने एक बार कहा था, "गांधी जी के 'दोनों लिपि'-वाद के परिणाम-स्वरूप केवल रोमन लिपि का जयजयकार होने वाला है।" मालूम पड़ता है कि उनकी भविष्यवाणी सत्य होने जा रही है। इन पंक्तियों का लेखक पाठकों का ध्यान दो बातों की ओर प्रमुख रूप से खींचना चाहता है—पाठक स्वयं उनसे निष्कर्ष निकाल लें।

१

यह सबको मालूम है कि हमारी वर्तमान 'राष्ट्रीय' सरकार में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद शिक्षा सदस्य हैं। इस निरक्षर देश की केन्द्रीय सरकार में शिक्षा-सदस्य का पद सँभालने के बाद मौलाना साहब को जो सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम जँचा है वह है रोमन लिपि का प्रचार। १८ फरवरी, १९४७ को एक प्रेस कान्फ्रेन्स में उन्होंने रोमन लिपि की ज़ोरदार वकालत की। इन पंक्तियों के लेखक से न रहा गया। उसने यह अनुभव करते हुए भी कि नक्कारख़ाने में तूती की कोई नहीं सुनेगा, मौलाना आज़ाद को एक पत्र लिखा। मौलाना आजाद कितने पानी में हैं, रोमन लिपि के विषय में उनके क्या विचार हैं और उनका क्या कार्य-क्रम है, और सत्य क्या है तथा उसकी किस प्रकार हत्या की जा रही है, यह सब उस पत्र व्यवहार से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है जो वर्तमान लेखक और केन्द्रीय

शिक्षा-विभाग के बीच में हुआ। मुख्य पत्रों का सारांश नीचे दिया जाता है।*

(१) लेखक का मौलाना आज़ाद को पत्र, ता० २२-२-४७

"प्रिय मौलाना साहब,

आप की जैसी योग्यता के व्यक्ति के मुँह से रोमन लिपि की वकालत सुन कर मुझे महान् आश्चर्य हुआ। रोमन लिपि में 'हिन्दुस्तानी' अपेक्षाकृत कितनी सरलता से सीखी जा सकती है, इस विषय में आपने जो कुछ कहा वह उर्दू लिपि के मुक़ाबले में सत्य हो सकता है, परन्तु देवनागरी, जो संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण लिपि है, के मुक़ाबले में नहीं। यदि 'हिन्दुस्तानी' रोमन लिपि में तीन से लेकर छै महीने में सीखी जा सकती है तो वह देवनागरी में इससे आधे समय में ही सीखी जा सकती है। यदि आप अपने गोरे सलाहकारों की सलाह पर विश्वास करने के बजाय राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा, जो देवनागरी में हिन्दुस्तानी का प्रचार करती है, की रिपोर्टों पर दृष्टिपात करने का कष्ट करें तो आपको मालूम हो जायगा कि देवनागरी में हिन्दुस्तानी सीखने में अहिन्दी जनता को कितनी आसानी होती है। इसमें आश्चर्य करने की भी कोई बात नहीं। ······ हमें आशा तो यह थी कि विदेशी, अपूर्ण और अवैज्ञानिक रोमन लिपि को बढ़ावा देने के बजाय आप प्रथम राष्ट्रीय सरकार के प्रथम शिक्षा-सदस्य के नाते भारतीय जनता के प्रति उस अन्याय को दूर करने के लिये क़दम उठायँगे जो रक्षा-विभाग ने भारतीय सेना पर रोमन लिपि लाद कर किया है, और रोमन लिपि को निकाल कर स्वदेशी, पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि देवनागरी की प्रतिष्ठा करेंगे। आपको यह भी मालूम होगा कि महात्मा गांधी और पं० नेहरू ने खुले और स्पष्ट शब्दों में भारतीय भाषाओं के लिये रोमन लिपि का कड़ा विरोध किया है। उर्दू लिपि की भाँति रोमन लिपि भी विदेशी है और इस कारण स्वाभाविकतया भारतीय भाषाओं के लिये

* यह सब पत्र-व्यवहार अँगरेजी में हुआ था।

अनुपयुक्त है और भारतीय ध्वनियों को प्रकट करने में असमर्थ है। हम राष्ट्र के ऊपर एक और विदेशी लिपि लादे जाने का तीव्र विरोध करते हैं।.....................

हम देवनागरी के साथ साथ उर्दू लिपि के अनिवार्य रूप से ठूँसे जाने के भी विरुद्ध हैं, क्योंकि वह बिलकुल अनावश्यक है और समय तथा शक्ति के अपव्यय का कारण है। जब आप कम से कम समय में हिन्दुस्तानी सीखने पर इतना ज़ोर देते हैं, और ठीक ही ज़ोर देते हैं, तब आप किस मुँह से अनिवार्यतः दो लिपियों के सीखने के लिये कहते हैं, जब जरूरत केवल एक ही लिपि की है? मुझे यहाँ सैयद अली बिलग्रामी सदृश्य मुसलमान विद्वानों के मत को दोहराने की जरूरत नहीं जिन्होंने कहा है कि उर्दू लिपि की त्रुटियाँ स्वयं उर्दू के प्रचार में सबसे बड़ी बाधा हैं।.....अक्ल की बात यह है कि उर्दू के लिये देवनागरी स्वीकृत कर ली जाय, न कि यह कि देश पर रोमन लिपि लादी जाय। जो भी हो, यह अच्छा मजाक है कि पहले तो खुद एक अनावश्यक और बेकार लिपि, जो दुर्भाग्यवश अत्यन्त दूरूह और कष्ट-साध्य भी है, साथ लगा कर हिन्दुस्तानी का सीखना जानबूझ कर कठिन कर दिया जाय और फिर 'सुलभता' 'सरलता', 'कम समय' आदि की दलीलें पेश करके रोमन लिपि की वकालत की जाय!

आपने सेना की 'रोमन उर्दू' को 'रोमन हिन्दुस्तानी' कह कर जनता को भ्रम में डालने का जो प्रयत्न किया है, हम उसका भी कड़ा विरोध करते हैं। राष्ट्र-भाषा के रूप में गांधी जी तथा कांग्रेस जिस हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हैं वह और उर्दू एक ही चीज नहीं हैं. और यह सबको एक जमाने से मालूम है कि सेना की भाषा रोमन उर्दू है, और सरकारी तौर से भी अभी तक इसी नाम का प्रयोग किया गया है। सेना की 'उर्दू' को निकाल कर सच्चा हिन्दुस्तानी की प्रतिष्ठा करना है और तभी वह 'हिन्दुस्तानी' कहलाने की अधिकारिणी होगी।

(२) मौलाना आज़ाद के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री टी. यस. कृष्णमूर्त्ति का लेखक को पत्र, ता० १-३-४७

इस पत्र को सम्पूर्ण रूप में और मूल अँगरेजी में देना ठीक होगा; क्योंकि संभव है अनुवाद में वांछित अर्थ और ध्वनि में अन्तर पड़ जाय: —

"Dear Sir,

Please refer to your letter dated the 22nd Feb. 1947, addressed to the Hon'ble Member incharge of this Deptt. regarding the adoption of the Roman script for Hindustani. I believe you have not gone through the proceedings of the Press Conference held by the Hon'ble Member on the 18-2-47, for there you will find that the Hon'ble Member expressed the opinion that it is desirable that every Indian should learn both Devnagri and Urdu scripts. But during the War almost two millions of soldiers were made literate by the Army through the use of the Roman script and their experience showed that they could acquire working knowledge of Hindustani in about three to six months' time. There is a feeling that this would have been impossible to achieve if the Devnagri or the Urdu script had been used. Roman has thus solved the problem of finding alternative scripts for men ot different provinces and if these men who have been made

literate during their service in the Army are not to lapse into illiteracy, they must be provided with suitable literature in Roman Hindustani. It will take time for every person to learn both Devnagri and Urdu scripts and till this is achieved, it would be worth considering whether the use of Roman as a supplementary script may not be a temporary expedient. There are millions of Bengalees, Madrasis, Oriyas, Assamese and men speaking other languages who can understand Hindustani and pick it up quickly but for the impediment in their progress because of the script. It is the case of these people that Hon'ble Member had in mind when he referred to the use of the Roman script for Hindustani."

(वाक्य रेखांकित लेखक ने किये हैं)

(३) लेखक का श्री टी. यस. कृष्णमूर्ति को पत्र, ता० ६-३-४७

प्रिय महोदय,

आपका १-३-४७ का पत्र मिला। धन्यवाद। अपना पत्र लिखने से पूर्व मैंने १८-२-४७ की प्रेस कान्फ्रेन्स का विवरण भली भाँति पढ़ लिया था। आपको मेरे पिछले पत्र में उन सब तर्कों का उत्तर मिलेगा जो माननीय शिक्षा-सदस्य ने रोमन लिपि के पक्ष में उपस्थित किये थे और जिन्हें आपने अपने पत्र में दोहराया है।

सैनिकों के लाभार्थ अस्थायी रूप से रोमन लिपि को प्रयुक्त करने के अतिरिक्त और उससे बिलकुल अलग शिक्षा-सदस्य रोमन लिपि को बढ़ावा

देना और उसे स्थायी रूप से हिन्दुस्तानी के लिये अपनाना चाहते हैं, इस विषय में यदि कुछ सन्देह था भी तो वह आपके पत्र के इन वाक्यों से मिट गया है, "......There is a feeling...........provinces." और "....There are millions of...........use of the Roman script for Hindustani." इन मंतव्यों का उत्तर देना जरूरी है।

यह भावना कि देवनागरी द्वारा सैनिकों को हिन्दुस्तानी की काम चलाऊ शिक्षा तीन से लेकर छै महीने में देना संभव न होता, आपके विभाग और सेना-विभाग के वेतन-भोगी कर्मचारियों की है, देश की नहीं और न यह सत्य पर आधारित है। रोमनलिपि के मुकाबले देवनागरी की उत्कृष्टता को पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकारा है। मुझे यह देख कर दुख होता है कि पहली राष्ट्रीय सरकार का शिक्षा-सदस्य जिसे इस शुद्ध, स्वदेशी वस्तु की उत्कृष्टता, जिसे विदेशियों ने भी माना है, पर गर्व होना चाहिये था, रोमन लिपि का गुणगान करता है और उसे देवनागरी से उत्तम बताता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि माननीय शिक्षा-सदस्य ने देवनागरी को बिना मौका दिये और उसकी अपेक्षाकृत उत्कृष्टता या निकृष्टता की अमल में वास्तव में जाँच किये बिना ही अपने वेतन-भोगी अफसरों का मत मान लिया। वे लड़ाई के समय में तीन चार वर्षों में अर्जित सेना-विभाग के 'experience' की बात करते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि देश में जो गैर-सरकारी संस्थायें देवनागरी में हिन्दी या हिन्दुस्तानी का प्रचार कर रही हैं, विशेषरूप से अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन और दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा जिसे गांधीजी ने इसी उद्देश्य से २५ वर्ष पूर्व स्थापित किया था, उनका मत है कि यदि उन्होंने देवनागरी के बजाय किसी दूसरी लिपि से काम लिया होता तो उन्हें इतनी अधिक सफलता कदापि न मिलती। यदि वे इन्हीं दो संस्थाओं की रिपोर्टों के आँकड़ों को देखें, तो उनका मत बदल जाय। इन संस्थाओं के लिये 'तीन से लेकर छै महीने' से भी कम

समय में हिन्दुस्तानी की कामचलाऊ शिक्षा देना संभव हुआ है। जार्ज बर्नार्ड शा ने कहा है कि रोमन लिपि की अपूर्णता और त्रुटियों के कारण अँगरेजी सीखने में अँगरेज बच्चों का बहुत सा अमूल्य समय नष्ट होता है। फिर वह हिन्दुस्तानी जैसी एक भारतीय भाषा के लिये कितनी अपूर्ण, अपर्याप्त और अनुपयुक्त होगी, इसकी सहज में कल्पना की जा सकती है। काश, हम राजनीतिक दासता के साथ साथ सांस्कृतिक और मानसिक दासता से भी छुटकारा पा जाते!

विभिन्न प्रान्तों के लोगों के लिये एक कामन लिपि की समस्या को हल करने का काम एक विदेशी सरकार के शिक्षा-विभाग या सेना-विभाग के लिये नहीं छोड़ रक्खा गया था। इस समस्या को हल हुये हजारों वर्ष हुये—वह तभी हल हो गई जब ब्राह्मी लिपि का आविष्कार हुआ जिससे देवनागरी निकली है और जिसके विभिन्न रूपों में आज विभिन्न प्रान्तीय भाषायें लिखी जाती हैं। देवनागरी रोमनलिपि से प्रत्येक बात में केवल उत्कृष्ट ही नहीं है, विभिन्न प्रान्तों के लोग उससे या उसके विभिन्न रूपों से पहले से ही परिचित हैं और इस कारण उन्हें देवनागरी सीखने में बिलकुल कठिनाई नहीं होती। रोमन लिपि पूर्णतया विदेशी है और उसका किसी भारतीय लिपि से कोई नाता, लगाव या सादृश्य नहीं। लाखों बंगाली, मदरासी, उड़िया, आसामी आदि जो हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं, रोमन लिपि की अपेक्षा देवनागरी में लिखित हिन्दुस्तानी कहीं जल्दी और आसानी से सीख सकते हैं। यदि माननीय शिक्षा-सदस्य का मतलब अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों से है, तो वे यह भी कह सकते हैं कि अँगरेजी ने विभिन्न प्रान्तों के लिये एक कामन भाषा की समस्या हल कर दी है। फिर वे हिन्दुस्तानी को ही क्यों नहीं निकाल देते! अँगरेजी के मुकाबले में हिन्दुस्तानी के पक्ष में जो कोई भी तर्क उपस्थित किया जा सकता है वह रोमन लिपि के मुकाबले में देवनागरी के पक्ष में और भी ज्यादा जोर के साथ उपस्थित किया जा सकता है।

जहाँ तक सैनिकों के लाभार्थ अस्थायी रूप से रोमन लिपि के उपयोग का सम्बन्ध है, स्पष्टतः सेना के अधिकारियों ने देवनागरी जैसी अधिक उपयुक्त और वैज्ञानिक स्वदेशी लिपि के होते हुए विदेशी रोमन लिपि द्वारा सैनिकों को 'हिन्दुस्तानी' की शिक्षा देकर देश के साथ बहुत बड़ी ज्यादती की, विशेष रूप से इसलिये कि देश में रोमन लिपि में बिल्कुल हिन्दुस्तानी साहित्य नहीं था और न है, परन्तु देवनागरी में ढेरों पुराना और नया साहित्य था और है। हमें प्रथम लोकप्रिय शिक्षा-सदस्य से आशा थी कि वह उस अन्याय को दूर करेगा, न कि यह कि वह उसे बनाये रक्खेगा और हिन्दुस्तानी के लिये रोमन लिपि के प्रयोग को और बढ़ावा देगा। इसके अतिरिक्त माननीय शिक्षा-सदस्य के तर्क सारहीन हैं। जिन सैनिकों ने रोमन लिपि और हिन्दुस्तानी भाषा दोनों तीन से लेकर छै महीने में सीख लीं, वे देवनागरी दो महीने में बड़ी सरलता से सीख सकते हैं। क्या रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य के निर्माण में दो महीने से भी कम समय लगेगा? सैनिकों के लाभार्थ रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य के निर्माण में जो शक्ति और धन व्यय होगा उसका कहीं अधिक सदुपयोग सैनिकों को देवनागरी सिखाने में किया जा सकता है। स्पष्टतः उन्हें देवनागरी हिन्दुस्तानी की पाठ्य-पुस्तकों द्वारा ही सिखाई जायगी। इसलिये देवनागरी सीखते-सीखते तो उनकी साक्षरता लुप्त न हो जायगी। फिर वह साक्षरता किस काम की जिसे जीवित रखने के लिये इतने खर्चे पर, और वह भी आम कर-दाताओं के खर्चे पर, शिक्षा-विभाग को नित्य रोमन लिपि में नया साहित्य प्रस्तुत करना पड़े? देश में तो रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य छपता नहीं, और यह शिक्षा-सदस्य को मालूम है। जहाँ एक ओर रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य का निर्माण एक चक्र का रूप धारण कर लेगा, जिसे चालू रखने के लिये नित्य और रुपये की जरूरत पड़ेगी और इसलिये जो देश पर एक स्थायी बोझा बनकर रह जायगा, वहाँ दूसरी ओर सैनिकों को

देवनागरी मात्र सिखाने के बाद शिक्षा-विभाग को और ध्यान देने की आवश्यकता न रह जायगी और इसलिये वह देश का स्थायी लाभ होगा। रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य सुलभ होने पर सैनिक किसी दूसरी लिपि सीखने के प्रति उदासीन भी हो जायँगे और इसलिये रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य के निर्माण की संगत शिक्षा-सदस्य की इस इच्छा से नहीं बैठती कि सब हिन्दुस्तानी शीघ्र से शीघ्र देवनागरी और उर्दू लिपि सीख लें। फिर, सेना के बीस लाख सैनिक अब एक ही छत्र तले नहीं हैं। उनमें से अधिकांश अलग किये जा चुके हैं और उन्होंने अन्य नागरिकों की भाँति विभिन्न नागरिक पेशे अख्तियार कर लिये हैं। स्वाभाविक रूप से अब उनका आकर्षण अपनी अपनी प्रान्तीय भाषा और साहित्य के प्रति है उन्हें अब रोमन लिपि में प्रकाशित सरकारी हिन्दुस्तानी साहित्य की पर्वाह नहीं, जो उन्हें केवल अपने सहनागरिकों से और देश में प्रचलित हिन्दुस्तानी साहित्य से भी दूर रखने में सहायक सिद्ध होगा। माननीय शिक्षा-सदस्य ने स्वयं कहा है कि लाखों बंगाली, मद्रासी, आसामी, महाराष्ट्री ऐसे हैं जो हिन्दुस्तानी समझते हैं। उनकी साक्षरता जिस तरह भी हो उस तरह कायम रखने का सवाल ही नहीं उठता। केन्द्रीय शिक्षा-विभाग को चाहिए कि वह उन्हें देवनागरी सिखाने के लिये कदम उठाये। शेष सब अपने आप हो जायगा। यह रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी साहित्य के निर्माण की अपेक्षा साक्षरता और हिन्दुस्तानी प्रचार की कहीं बड़ी, स्थायी और अल्पव्यय-सापेक्ष सेवा होगी। जब हम भारत की भारती के लिये एक कामन लिपि के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जी तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं, अवश्य ही माननीय शिक्षा-सदस्य का यह इरादा नहीं हो सकता कि कृत्रिम उपायों से और जान बूझ कर एक तीसरी लिपि घुसेड़ कर—और वह भी करदाताओं के खर्चे पर—समस्या को और जटिल बना दिया जाय और हिन्दुस्तानी जानने वाली जनता तथा हिन्दुस्तानी साहित्य को तीन भागों में बाँट दिया

जाय। किस लिपि को भारत की कामन लिपि का पद प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय, इस विषय में रंच-मात्र सन्देह नहीं हो सकता। वह लिपि देवनागरी है। कारणों को दोहराने की आवश्यकता नहीं।

सब भारतीयों के लिये दोनों लिपि सीखना क्यों वांछित है, इस प्रश्न का भी आपने अपने पत्र में कोई उत्तर नहीं दिया। वांछित तो प्रत्येक भारतीय के लिये भारत की सब लिपियाँ सीखना भी हो सकता है, परन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी के साथ दो लिपियाँ क्यों लगाई जायँ और हिन्दुस्तानी सीखने की इच्छा करने वाले प्रत्येक भारतीय से दो लिपियाँ सीखने के लिये क्यों कहा जाय, विशेषरूप से तब जब समय के पहलू को इतना महत्व प्रदान किया जा रहा है और ठीक ही किया जा रहा है? इसके अतिरिक्त उर्दू लिपि जैसी लिपि के व्यवहार को बढ़ावा देना अन्य कारणों से भी अवांछित है। अदालतों की लिपि के प्रकरण में मानियर विलियम्स जैसे विद्वानों ने उर्दू लिपि के विषय में जो सम्मतियाँ दी हैं, उन्हें यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

आपने अपने पत्र में मेरे इस प्रश्न का भी कोई उत्तर नहीं दिया कि माननीय शिक्षा-सदस्य ने सेना की उर्दू को 'हिन्दुस्तानी' नाम से क्यों पुकारा। जैसा मैं अपने पिछले पत्र में कह चुका हूँ, सेना की उर्दू के लिये इस नाम का प्रयोग भ्रामक और धोखे में डालने वाला है और इसलिये तुरन्त बन्द हो जाना चाहिए।

अन्त में, शिक्षा-सदस्य की रोमन लिपि की वकालत से देश में जो तीव्र क्षोभ उत्पन्न हुआ है उसे और राष्ट्रीयता, संस्कृति तथा उपयोगिता के दृष्टिकोण से इस मामले की महत्ता को देखते हुए मैं जोर दूँगा कि देश पर स्थाई रूप से अथवा अस्थाई रूप से रोमन लिपि लादने की दिशा में कोई कदम उठाने से पूर्व देश के विद्वानों तथा नेताओं की सम्मति एवं अनुमति ली जाय।"

इस पत्र का अभी तक कोई उत्तर नहीं आया और न अब आने की आशा है। मौलाना आज़ाद के प्राइवेट सेक्रेटरी के पत्र (पत्र संख्या २) की एक नकल वर्तमान लेखक ने गांधीजी के पास भेजी थी। उनके पास से भी कोई उत्तर नहीं आया। आने भी क्यों लगा? अकेली देवनागरी न सुहाने के कारण राष्ट्र-लिपि के मामले पर गांधी जी सम्मेलन से त्याग-पत्र दे सकते हैं, और टंडन जी से युद्ध ठान सकते हैं, पर एक तीसरी विदेशी लिपि के मामले पर मौलाना आजाद या डा. अब्दुल हक से युद्ध नहीं ठान सकते। राष्ट्र-लिपि के बने बनाये घर में, जिसे बनाने में स्वयं उनका हाथ कम नहीं था, 'दोनों लिपि' की फूट डालकर वे अब तटस्थ हो गये हैं, और दूर से बंदरबाँट का तमाशा देखने में संतुष्ट हैं।

२

यह सर्व-विदित है कि लखनऊ विश्वविद्यालय ने अँगरेजी माध्यम को बदल कर 'हिन्दुस्तानी' को शिक्षा का माध्यम बनाने का फैसला किया है। अन्य विश्वविद्यालय भी 'हिन्दुस्तानी' को वर रहे हैं। पता नहीं यह 'हिन्दुस्तानी' क्या है, परन्तु हमारे माननीय नेताओं को इसका मोह कुछ ऐसा लगा है कि लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रस्ताव में परिचित और अर्थ-युक्त शब्दों 'हिन्दी' और 'उर्दू' के बजाय 'हिन्दुस्तानी' धराने में स्वयं टंडन जी का बड़ा हाथ था। इससे जो होना था सो हो रहा है। अर्थात् एक ओर हिन्दी के एक अन्य प्रबल समर्थक श्री संपूर्णानन्दजी 'हिन्दुस्तानी' की पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने के लिये विश्वविद्यालयों के वाइस-चांसलरों की एक कान्फ्रेंस का आयोजन करके 'हिन्दुस्तानी' के पिछले इतिहास की पुनरावृत्ति कर रहे हैं, और दूसरी ओर लखनऊ विश्वविद्यालय के कोर्ट में शीघ्र ही यह प्रस्ताव पेश होने वाला है कि सब अध्यापकों के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों का पूर्ण पण्डित होना अनिवार्य होगा, और स्वाभाविकतः बाद को इस अभागे हिन्दू प्रांत में जो हिन्दुओं का होते हुये भी हिन्दुओं के

हाथ में नहीं है और हिन्दी का होते हुये भी हिन्दी का नहीं किसी 'हिन्दुस्तानी' का है, १४% मुसलमान छात्रों के कारण सब छात्रों के लिये भी यही शर्त लागू की जायगी। 'हिन्दुस्तानी' के भक्त 'हिन्दुस्तानी' माध्यम को किस प्रकार सिद्ध करने का इरादा रखते हैं, इसे छोड़ कर अब जरा वर्तमान पर दृष्टिपात कीजिये। मालूम हुआ है कि लखनऊ विश्वविद्यालय में बहुत से दर्जों में 'हिन्दुस्तानी' में पढ़ाई आरंभ हो गई है और उसका स्वरूप यह है—'साइन्स ने अब तक जो प्रोग्रेस की है—'; "अगर एक स्ट्रेट लाइन पर एक परपेन्डीकुलर ड्राप किया जाय और सिक्सटी डिग्रीज़ का ऐंगिल बनाती हुई एक दूसरी लाइन खींची जाय—"; "अगर एक मेटल के दो डिफरेन्ट टेम्परेचर्स पर दो टुकड़े मिलाये जायँ तो एक वोल्टेज क्रियेट हो जाता है और इलेक्ट्रीसिटी की एक करेन्ट फ्लो होने लगती है—"; "हिन्दुस्तान की हिस्ट्री की जो किताबें इंडियन लैंगुएज़ में मिलती हैं या जो ट्रांसलेशन हुये हैं—", आदि, आदि। * अस्तु, हिन्दी की क्रियाओं के साथ किसी भी भाषा के शब्दों को प्रयुक्त करके 'हिन्दुस्तानी' का ढिंढोरा पीटना तो संभव था, परन्तु लिपि के मामले में क्या किया जाता अर्थात्

---

* ऐंग्लो-'हिन्दुस्तानी' स्कूलों में भी जहाँ 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम हुये काफी समय हो चुका है और जहाँ हिन्दी लेने वाले और उर्दू लेने वाले विद्यार्थियों को एक साथ एक ही दरजे में 'हिन्दुस्तानी' के माध्यम से गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, आदि विषय पढ़ाये जाते हैं, यही हाल है। यह 'इङ्गलिस्तानी' का जयजयकार है! अध्यापकों को दोष देना बेकार है। 'हिन्दुस्तानी' की दोरुखी माया में पड़कर बेचारे क्या करें? 'हिन्दुस्तानी' कोई मंत्र तो है नहीं जिसे पढ़ने से हिन्दी और उर्दू का अंतर छू-मंतर हो जायगा, परन्तु हिन्दुस्तानी वाले इस अंतर को मानने को और उसे मान कर उचित व्यवस्था करने को तैयार नहीं। उनकी ज़िद का जो परिणाम हो सकता है वही हो रहा है। रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' में भी 'इङ्गलिस्तानी' की चाशनी कम नहीं।

दर्जे में किस लिपि में पढ़ाया जाता? इस भीषण कठिनाई का अनुभव 'हिन्दुस्तानी' वाली राष्ट्रीयता के ठेकेदारों ने भी किया, अतः लखनऊ विश्वविद्यालय के उसी प्रस्ताव में जिस में 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम बनाना स्वीकार किया गया है, 'हिन्दुस्तानी' के लिये तीन लिपियाँ स्वीकार की गई हैं—देवनागरी, फारसी लिपि और रोमन। और मालूम हुआ है कि इस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में जितनी पढ़ाई 'हिन्दुस्तानी' में हो रही है, और जितना अन्य काम (जैसे विश्वविद्यालय के नोटिस, आज्ञा-पत्र, आदि) 'हिन्दुस्तानी' में हो रहा है, उस सब में अकेली और केवल रोमन लिपि का प्रयोग हो रहा है। ऐसा होना अनिवार्य है। 'दोनों लिपि' वाद के रहते जो इस स्थिति को बदलने की आशा रखता है उसे पहले मानव-प्रकृति को बदलना पड़ेगा। जो लखनऊ विश्वविद्यालय में हो रहा है वही 'हिन्दुस्तानी' को माध्यम घोषित करके नाम लूटने वाले अन्य विश्वविद्यालयों में होगा। 'हिन्दुस्तानी' की यही हिन्दुस्तानी पोशाक होगी!

पाठकों का ध्यान एक और तीसरी बात की ओर भी खींचना उचित जान पड़ता है। कुछ दिन हुये (अप्रैल, १९४७), पत्रों में आया था कि विधान परिषद की अल्पसंख्यक-परामर्श समिति (Advisory Committee for Minorities) ने कच्चो तौर पर यह तय किया है कि भारत की राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' हो जो देवनागरी या फारसी लिपि में लिखी जाय, तथा इस पर यह सुझाव पेश किया गया है कि 'हिन्दुस्तानी' की लिपि रोमन हो क्योंकि 'इससे अभारतीयों को भारतीय मामले समझने में आसानी होगी', और समिति ने अभी तक इस सुझाव पर अपना निर्णय नहीं दिया है। अनुमान करना कठिन नहीं कि इस सुझाव को पेश करने वाले कौन हैं। उनकी राय में भारतीयों की अपेक्षा अभारतीयों को भारतीय मामले समझाना ज्यादा ज़रूरी है, और चाहे करोड़ों भारतीयों को एक नई विदेशी लिपि सीखना पड़े परन्तु थोड़े से विदेशियों को एक भारतीय

लिपि न सीखना पड़े। और किसी दूसरी बात का कोई महत्व है ही नहीं। जो भी हो, लक्षणों से यही जान पड़ता है कि अपने 'दोनों लिपि'-वाद के कारण समिति को या तो यह सुझाव मान लेना पड़ेगा, या रोमन लिपि को भी 'हिन्दुस्तानी' के लिये स्वीकृत करना पड़ेगा जिसका भी वही परिणाम होगा। यह सब क्यों न हो! जिस दिन इस राष्ट्र का सबसे बड़ा नेता चूका और उसने 'दोनों लिपि' की ज़िद पकड़ी, इस देश की राष्ट्रीयता में घुन तो उसी दिन से लग गया। मौलाना आज़ाद ने अपना वर्त्तमान पद सँभालने के बाद प्रान्तीय सरकारों को आदेश भेजे कि वे 'दोनों लिपियों' का अधिकाधिक प्रचार करें। उन्हें मालूम था कि कौन सी प्रान्तीय सरकारें इन आदेशों का पालन करेंगी और कौन सी नहीं, अतः उर्दू लिपि के प्रचार के लिये इससे बढ़कर दूसरी ओट नहीं मिल सकती थी। परन्तु उन्हें भय है कि देवनागरी अपने गुणों के कारण कहीं फिर भी उर्दू लिपि पर हावी न हो जाय। उन्हें यह भी मालूम है कि पाकिस्तान 'दोनों लिपि' की बीमारी से आक्रान्त नहीं, और वहां रोमन लिपि का कोई सवाल ही नहीं—उर्दू लिपि वहाँ पूर्णतया सुरक्षित है, अतः उधर से निश्चिन्त हो 'हिन्दुस्थान', और 'हिन्दुस्थान' के मुसलमानों को हिन्दुई देवनागरी के प्रकोप से बचाने के लिये और अपने दिल के डर को जड़ से निकाल डालने के लिये उन्होंने रोमन लिपि की शरण गही, और उसे हिन्दुस्थान को गद्दी पर बैठाने के लिये अपने पद और अपनी कांग्रेसी प्रतिष्ठा का उपयोग कर रहे हैं। परन्तु मूर्ख हिन्दू कांग्रेस की 'दोनों लिपि' वाली वाहियातगी और उसकी ओट से मुसलमानों द्वारा खेले जाने वाले शिकार को कब तक 'राष्ट्रीयता' के चश्मे से देखते रहेंगे? जब लेखक यह सोचने लगता है तो उसकी व्यथा का अन्त नहीं रहता।

उत्तर–परिशिष्ट २

'राष्ट्रीय' सरकार की रेडियो की भाषा विषयक नीति

(लेखक—रविशंकर शुक्ल)

१

हिन्दी वालों को टालने के लिये सर अकबर हैदरी ने एक हिन्दी-उर्दू परामर्श समिति बना दी थी जो प्रति दो महीने बाद एक बैठक करके कुछ करने का नाट्य करती थी। इस समिति में एक सम्मेलन का प्रतिनिधि था, एक अंजुमन-तरक्की-उर्दू का और एक हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा का, और अध्यक्ष तथा संयोजक थे श्री बोख़ारी। पहला प्रश्न तो यही उठता है कि हिन्दी और उर्दू का 'हिन्दुस्तानी' से क्या वास्ता था, और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा देश में भाषा और साहित्य के जगत में किसका प्रतिनिधित्व करती थी या करती है? 'हिन्दुस्तानी' में अखबार नहीं निकलते, पुस्तकें नहीं छपतीं, कहीं पढ़ाई नहीं होती, 'हिन्दुस्तानी' के लेखक नहीं, साहित्य नहीं, फिर यह हिन्दुस्तानी प्रचार सभा जिसे स्थापित हुये केवल एक वर्ष हुआ है किसकी ओर से बोलने का दावा कर सकती है? अस्तु, सर अकबर हैदरी का उद्देश्य यह था कि 'हिन्दुस्तानी' का बखेड़ा खड़ा करके मामले को उलझा दिया जाय और 'हिन्दुस्तानी' की आड़ में पूर्ववत् उर्दू का बोलबाला रहे, इसलिये उन्होंने इस बेजड़ और नवीन संस्था हि० प्र० सभा का प्रतिनिधि लेना आवश्यक समझा। हुआ भी वही जिसे सोचकर यह किया गया था, अर्थात् यह समिति मामला न सुलझा सकी और तीनों सदस्यों ने 'हिन्दुस्तानी' के शब्दों की तीन भिन्न सूचियाँ पेश कर दीं। यदि सर अकबर हैदरी की सरकार

होती तो वह उर्दू वाले की सूची पर 'हिन्दुस्तानी' की मोहर लगाकर रेडियो की प्रचलित 'हिन्दुस्तानी' को चालू रखती। पर भाग्य से अथवा दुर्भाग्य से उस सरकार के स्थान में एक 'राष्ट्रीय' सरकार आ चुकी थी जिसमें रेडियो के सदस्य थे सरदार पटेल। सरदार पटेल ठहरे कांग्रेस के एक बड़े नेता, गांधी जी के अनन्य अनुयायी और इसलिये कांग्रेस की 'हिन्दुस्तानी' तथा हिन्दुस्तानी-वाद के एक भक्त। उनकी पीठ पर स्वयं हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सभापति डा० राजेन्द्रप्रसाद थे, अतः उनके लिये 'हिन्दुस्तानी' की हिमायत करना और रेडियो को 'हिन्दुस्तानी'-प्रचार का साधन बना कर गांधीजी का आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक था। उन्होंने हिन्दी-उर्दू परामर्श समिति की सिफारिशों पर वही निर्णय दिये जिनकी उनसे आशा थी। इन निर्णयों की घोषणा फरवरी, १९४७ में हुई और यही घोषणा 'राष्ट्रीय' सरकार की रेडियो की भाषा विषयक नीति का आधार है। संक्षेप में, इस नीति के आरंभ में 'हिन्दुस्तानी' है, मध्य में 'हिन्दुस्तानी' है, और अन्त में 'हिन्दुस्तानी' है। कहा जा सकता है कि बृटिश सरकार और उसके अधीनस्थ हिन्दुस्तानी सरकारों ने हिन्दी का भाग छीन कर उर्दू को दिया था और उसका नाम 'हिन्दुस्तानी' रक्खा था, इस 'राष्ट्रीय' सरकार ने हिन्दी का स्थान अपनी 'हिन्दुस्तानी' को दिया है जो आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में ज़रा छनी हुई उर्दू है। घोषणा की 'हिन्दुस्तानी' विषयक मुख्य बातों पर ध्यान दीजिये : (१) समाचार केवल 'हिन्दुस्तानी' में होंगे, हिन्दी में नहीं (२) स्त्रियों और बच्चों के प्रोग्राम तथा इसी प्रकार के जो अन्य प्रोग्राम हिन्दी में होंगे उनका एक 'बड़ा भाग' 'हिन्दुस्तानी' में होगा, (३) हिन्दी-प्रदेश के सब स्टेशनों से उर्दू के अतिरिक्त एक निश्चित अनुपात में 'हिन्दुस्तानी' के प्रोग्राम होंगे—पेशावर से ५ प्रतिशत, लाहौर से ७½ प्रतिशत, दिल्ली से २० प्रतिशत और लखनऊ से १० प्रतिशत।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर सब भारतीय भाषाओं में से केवल हिन्दी के साथ अन्याय किया जायगा। सब भारतीय भाषाओं में ख़बरें होंगी, यहाँ तक पंजाबी और पश्तो में भी खबरें होंगी, परन्तु हिन्दी में ख़बरें नहीं होंगी। सब प्रान्तीय भाषाओं में स्त्रियों, बालकों, आदि के प्रोग्राम अबाध रूप से होंगे, परन्तु हिन्दी के प्रोग्रामों का 'बड़ा भाग' 'हिन्दुस्तानी' में होगा। इस घोषणा का सबसे भयंकर भाग वह है जिसमें 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में तर्क दिये गये हैं। प्रत्येक हिन्दी प्रेमी दिल पर हाथ रखकर सोचे कि इन तर्कों का क्या मतलब है और ये तर्क हिन्दी के कैसे भविष्य की ओर संकेत करते हैं। मुख्य तर्कों पर ध्यान दीजिये :

(१) 'हिन्दुस्तानी' उत्तरी भारत में आम तौर से बोली जाने वाली और समझी जाने वाली भाषा है जो देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है। (उर्दू लिपि फिर 'उर्दू लिपि' क्यों कहलाई !) अपने दिल के चोर को न छिपा सकने के कारण घोषणा के अन्त में सरकार कहती है, "हिन्दुस्तानी की यह परिभाषा दोनों रेडियो-कमेटियों ने की है।"

(२) सरकार अनुभव करती है कि बहुत से सुनने वाले यह नहीं चाहते कि ऐसी ('यह' नहीं !) भाषा हिन्दीवालों और उर्दूवालों के विवाद में पिस जाय।

(३) अतः सरकार चाहती है कि आम जनता और आम सुनने वालों के लिये, साहित्यिक हिन्दी और साहित्यिक उर्दू के अतिरिक्त और उनसे अलग, 'सरल हिन्दुस्तानी' में प्रोग्राम हों, तथा साहित्यिक रुचि वालों के लिये हिन्दी और उर्दू में प्रोग्राम हों।

(४) सरकार को आशा है कि उसके निर्णय आम जनता को पसंद आवेंगे, यद्यपि संभव है उनसे उन दो दलों को पूर्ण संतोष न हो जिनके बीच में विवाद है।

इन तर्कों का स्पष्ट अर्थ यह है कि सरकार की दृष्टि में हिन्दी उत्तरी

भारत में बोली जाने वाली और समझी जाने वाली भाषा नहीं है, हिन्दी केवल कविता और साहित्य की भाषा है और केवल साहित्यिक रुचि वालों के काम की है। आम जनता और आम सुनने वालों के मतलब की भाषा 'हिन्दुस्तानी' है।

इन पंक्तियों का लेखक नहीं कह सकता कि हिन्दी वालों ने इन सरकारी तर्कों का पूरा अर्थ समझा है या नहीं, क्योंकि इनका खंडन करने वाले लेख उसके देखने में नहीं आये। लेखक इतना अवश्य कह सकता है कि 'राष्ट्रीय' सरकार ने हिन्दी की अर्थी तैयार कर ली है, बस केवल उसे फूँकने की देर है। और हिन्दी के रिक्त सिंहासन पर 'हिन्दुस्तानी' को प्रतिष्ठित करने का पूर्ण आयोजन हो चुका है।

हिन्दी वाले शायद यह सोचते होंगे कि और कुछ न सही, लखनऊ से ७० प्रतिशत प्रोग्राम तो हिन्दी में होंगे। जिन तर्कों के बल पर आज सरकार अलग हिन्दी में समाचार देने को तैयार नहीं, हिन्दी में स्त्रियों, बच्चों, आदि के प्रोग्राम देने को तैयार नहीं और आज लखनऊ से १० प्रतिशत प्रोग्राम 'हिन्दुस्तानी' में दे रही है, उन्हीं तर्कों के बल पर यदि सरकार कल यह कहे कि रेडियो आम जनता के लिये है, मुट्ठी भर 'साहित्यिक रुचि' वालों के लिये नहीं और इसलिये १० प्रतिशत से अधिक प्रोग्राम हिन्दी में नहीं हो सकते, तो उस समय हिन्दी वाले क्या उत्तर देंगे? सब की समझ में आने वाली 'सरल हिन्दुस्तानी' जब है ही, तो कोई भी प्रोग्राम कुछ की समझ में आने वाली हिन्दी में क्यों किया जाय? होगा इसका कोई उत्तर हिन्दी वालों के पास? भाला गड़ने से पहले सदैव भाले की नोक गड़ती है। शत्रु को दुर्बल समझनेवाला सदैव अन्त में मारा गया। जिसने भी झूठी उदारता या प्रमाद में आकर शत्रु को कंधे पर हाथ रखने दिया, उसने धोखा खाया।

२

हिन्दुस्तानीवाले हिन्दी को सामने से न घेर कर 'फ्लैंक मूवमेन्ट' द्वारा

मारना चाहते हैं। उनकी चाल यह है कि हिन्दी को कविता की भाषा घोषित करके एक किनारे कर दिया जाय और सारा काम-काज 'हिन्दुस्तानी' में किया जाय। आगे चल कर हिन्दी अपने आप कविता की भाषा भी नहीं रहेगी। कांग्रेसी सरकारें इसी चाल को चल रही हैं। वे हिन्दी को एक प्रांतीय भाषा के अधिकार से भी वंचित कर रही हैं। आज केन्द्र की 'राष्ट्रीय' सरकार हिन्दी में समाचार, आदि देने को तैयार नहीं। कल कहा जायगा कि युक्त-प्रांत, बिहार, मध्य-प्रांत, आदि में सारा राज-काज, शिक्षा-कार्य, आदि सबकी समझ में आने वाली 'हिन्दुस्तानी' में होगा, साहित्यिकों और कवियों के विलास की भाषा हिन्दी में नहीं। सरदार पटेल की रेडियो की भाषा-विषयक घोषणा हिन्दी के अस्तित्व पर क्रूर कुठाराघात है। हिन्दी पर कांग्रेसी सरकारों और कांग्रेसी नेताओं की ओर से आये हुये और आने वाले इस महान् संकट का मुकाबला करने के लिये हिन्दी वालों को तैयार हो जाना चाहिये। जहाँ तक सरदार पटेल की रेडियो की भाषा-विषयक नीति का संबन्ध है, हमें भी 'हिन्दुस्तानी' का सामने से विरोध करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु हिन्दी की रक्षा के लिये युद्ध ठानना ही पड़ेगा। सरकार को रेडियो में हिन्दी को एक प्रादेशिक भाषा के नाते स्वतंत्र स्थान देना ही पड़ेगा। जिस प्रकार अन्य प्रांतीय साहित्यिक भाषाओं में समाचार, स्त्रियों, बच्चों, आदि के प्रोग्राम होते हैं उसी प्रकार हिन्दी में समाचार, स्त्रियों, बालकों, आदि के अबाध प्रोग्राम होना परम आवश्यक है। रही 'हिन्दुस्तानी' की बात, सो हम किसी ऐसी 'हिन्दुस्तानी' से परिचित नहीं जिससे रेडियो का काम चल सके। मजे की बात यह है कि एक ओर सरकार 'हिन्दुस्तानी' के गुण गाती है, उसे ऐसी और वैसी भाषा बताती है, परन्तु दूसरी ओर उसकी शब्दावली बनाने के लिए कमेटी बैठाती है और उसके शब्द निरन्तर गढ़ने और बनाने के लिए एक स्थायी परामर्श समिति बनाने का इरादा प्रकट करती है। यदि 'हिन्दुस्तानी' कोई प्रचलित

भाषा है, 'सरल और सबकी समझ में आने वाली' भाषा है, तो उसकी शब्दावली निश्चित करने के लिये किसी कमेटी की क्या आवश्यकता है? हिन्दी, उर्दू या किसी अन्य भाषा के लिये तो आज तक सरकार ने ऐसी कोई कमेटी नहीं बनाई। यदि 'बहुत से सुननेवाले' 'हिन्दुस्तानी' चाहते हैं तो उन्होंने उस 'हिन्दुस्तानी' का कोई रूप भी तो बना रक्खा होगा? यदि 'हिन्दुस्तानी' उत्तरी भारत में आम तौर से बोली और समझी जाती है, तो उत्तरी भारत के लोगों ने उसका रूप भी तो रच लिया होगा, उसमें साहित्य का निर्माण भी तो किया होगा, उत्तरी भारत में उसमें अखबार और पुस्तकें भी तो छपती होंगी? क्या खूब कि इस घटघट-वासी 'हिन्दुस्तानी' में तो कुछ नहीं होता, सब कुछ थोड़े से 'साहित्यिक रुचि' वालों की समझ में आने वाली भाषा में होता है! फिर सरकार ने यह शर्त क्यों लगाई है कि रेडियो के जिन कर्मचारियों के ज़िम्मे 'हिन्दु-स्तानी' के प्रोग्राम होंगे, उनके लिये 'हिन्दी और उर्दू दोनों' का जानना आवश्यक होगा? केवल 'हिन्दुस्तानी', वह जो कुछ भी है, का जानना यथेष्ट क्यों नहीं, विशेष रूप से तब जब 'हिन्दुस्तानी' 'सबकी समझ में आने वाली' और 'उत्तरी भारत में आम तौर से बोली और समझी जाने वाली' भाषा है! स्पष्ट है, सरकार अपने दिल का चोर छिपा नहीं सकी है। सरकार के हिन्दुस्तानी-वाद का खोखलापन घोषणा में ही पग-पग पर झलक रहा है। सरकार ने अन्त में 'दोनों रेडियो कमेटियों' का सहारा पकड़ना चाहा है, परन्तु वह भी व्यर्थ है। पहली कमेटी (जिसके एक सदस्य डा० ताराचन्द थे) के सदस्य सर अकबर हैदरी ने अपनी इच्छा से चुने थे, और एक विशेष उद्देश्य से चुने थे। उनमें हमारा कोई प्रतिनिधि नहीं था। वह 'हिन्दुस्तानी' के पिट्ठुओं की कमेटी थी जिनका उद्देश्य 'हिन्दुस्तानी' के नाम से उर्दू का प्रचार करना और जारी रखना था। वह कमेटी 'हिन्दुस्तानी' की हिमायत क्यों न करती? दूसरी कमेटी, जिसमें एक

सम्मेलन का प्रतिनिधि लिया गया था, के सामने 'हिन्दुस्तानी' पर राय देने का सवाल ही नहीं था। उसे तो केवल 'हिन्दुस्तानी' की शब्दावली गढ़ने का आदेश दिया गया था, और वह यह कार्य न कर सकी। उसमें अंजुमन तरक्की उर्दू के प्रतिनिधि ने स्पष्ट कहा कि 'हिन्दुस्तानी' का किस्सा खत्म किया जाय और हिन्दी और उर्दू में अलग अलग समाचार हों, तथा सम्मेलन के प्रतिनिधि ने इसका अनुमोदन किया। सरकार ने इस बात को क्यों छिपा लिया? दो सदस्यों की एक राय होते हुये अकेले सदस्य अर्थात् हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के प्रतिनिधि की बात सरकार ने क्यों मानी? ऊपर से तुर्रा यह है कि सरकार ने हिन्दी और उर्दू के समर्थकों को विवादी दल ठहराया है और आप निष्पक्ष मध्यस्थ बनने का दावा किया है। झगड़ा केवल दो दलों—हिन्दी वालों और उर्दू वालों—के बीच में नहीं है। झगड़े में हिन्दुस्तानी वालों की पार्टी भी उतनी ही शामिल है। परन्तु सरकार ने इस तीसरे झगड़ालू दल का नाम नहीं लिया। उल्टे वह इसके साथ एकाकार हो गई है। वह निष्पक्ष जज नहीं रही वरन् इस तीसरी पार्टी का वकील बन गई है। सरकार के 'हिन्दुस्तानी' के साथ घोर पक्षपात का एक और सबूत है। सरकार घोषणा में स्वयं कहती है कि पत्र-पत्रिकाओं के सर्कुलेशन के आधार पर प्रत्येक स्टेशन में हिन्दी और उर्दू प्रोग्रामों का अनुपात निर्धारित किया गया है। हम जानना चाहते हैं कि वे 'हिन्दुस्तानी' की पत्र-पत्रिकायें कौन सी हैं जिनके सर्कुलेशन के आधार पर सरकार ने सब स्टेशनों में 'हिन्दुस्तानी' को पृथक प्रतिनिधित्व दिया है, यहां तक कि दिल्ली में २० प्रतिशत दिया है? हम तो 'हिन्दुस्तानी' की एक भी पत्रिका का नाम नहीं जानते*। फिर, दूसरी रेडियो कमेटी ने यह कहीं नहीं कहा

* केवल नाम रखने से भाषा 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो जाती। गांधी जी के 'हरिजनसेवक' या पं० सुन्दरलाल की 'विश्ववाणी' या डा० ताराचन्द के 'नया हिन्द' की भाषा हिन्दुस्तानी की किसी भी परिभाषा पर खरी नहीं उतरती। वह है ख़राब उर्दू, रेडियो की 'हिंदुस्तानी' से भी बदतर।

है कि हिन्दुस्तानी नाम की ऐसी कोई भाषा है जिसमें समाचार हो सकते हैं, रेडियो का काम चल सकता है या कोई अन्य गम्भीर कार्य हो सकता है। इस कमेटी ने केवल इतना ही कहा है कि हिन्दुस्तानी एक बोली है जो उत्तरी भारत में बोली और समझी जाती है। इसका दूसरा नाम 'खड़ी बोली' है। इसी बोली के आधार पर हिन्दी और उर्दू खड़ी हैं और यह दोनों में निहित है। इस बोली से रेडियो का काम नहीं चल सकता। रेडियो का काम हिन्दी और उर्दू से चल सकता है। हिन्दी और उर्दू में ही उत्तरी भारत में सब काम होता है, पत्र, आदि निकलते हैं, और 'कामन मैन' इन्हें ही पढ़ता है और ये ही पढ़ाई जाती हैं। सरकार यह आदेश अवश्य दे सकती है कि रेडियो में सरल से सरल हिन्दी और सरल से सरल उर्दू का प्रयोग हो, **परन्तु सरल से सरल हिन्दी और सरल से सरल उर्दू एक ही चीज** नहीं। सरकारी घोषणा पर रोष प्रकट करने के लिये जब केन्द्रीय असेम्बली में नबाब सिद्दीकअली खाँ ने कटौती का प्रस्ताव रक्खा तब बहस का जवाब देते हुये सरदार पटेल ने बड़े तपाक से कहा कि अच्छा हो यदि साहित्यिक हिन्दी और उर्दू के हिमायती जनता के लाभार्थ निर्मित रेडियो को अपने विवाद में न घसीटें, और "मुझे 'literary flourishes of Urdu or of Sanskrit' से कोई वास्ता नहीं," और इस पर कांग्रेसी सदस्यों ने बड़े ज़ोर से तालियाँ भी पीट दीं मानो जनता की बड़ी भारी विजय हो गई हो और आल इन्डिया रेडियो, जो वर्षों से 'जनता की भाषा' की विजय को प्रत्यक्ष कर ही रहा था, सदा के लिये भारत की राजधानी में इस विजय का साक्षात प्रतीक बन कर गड़ गया हो। परन्तु सच यह है कि बड़ा अच्छा हो यदि राजनीतिक नेता अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने के लिये भाषा और साहित्य के मामले में दख़ल न दें, और भाषा के साथ मनमानी न करें। यह 'literary flourishes of Urdu or of Sanskrit' का नहीं, भाव और अर्थ को प्रकट करने के लिये आवश्यक कम से कम शब्दों

ब्राडकास्ट न हों, परन्तु एक नई 'हिन्दुस्तानी' में हों जिसमें कोई अख़बार नहीं निकलता और जो केवल सरकार के दिमाग़ में है। सरकार अपनी 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में बहुत से 'कामन मैनों' और 'कामन लिसनरों' की दुहाई देती है, परन्तु उन लिसनरों, आदि को क्यों भूल जाती है जो वर्षों से हिन्दी में पृथक समाचारों की माँग कर रहे हैं? उन पर सरदार पटेल, जो 'कांग्रेस किसी को मजबूर नहीं कर सकती' इस सिद्धान्त को मानकर देश के विभाजन के लिये भी तैयार हैं, अपनी 'हिन्दुस्तानी' क्यों लादना चाहते हैं? जब सरकार हिन्दी के पृथक अस्तित्व और व्यापकता से इन्कार नहीं करती—सबूत यह है कि उसने स्वयं हिन्दी को सब स्टेशनों में पृथक प्रतिनिधित्व दिया है, और लखनऊ में ७० प्रतिशत तक दिया है—तो वह उन्हीं कारणों से और उन्हीं के लिये जिनके लिये विभिन्न स्टेशनों से ये सब हिन्दी के प्रोग्राम होंगे, हिन्दी में पृथक समाचार क्यों नहीं देगी? जिन हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के सर्कुलेशन के आधार पर सरकार ने प्रत्येक स्टेशन में हिन्दी का अनुपात निर्धारित किया है, उन्हीं के आधार पर हिन्दी में पृथक समाचार भी होने चाहिये। एक मामूली रेडियो रखनेवाला एक मामूली अख़बार पढ़नेवाले से कम अपढ़ नहीं होता, और न हिन्दी के अख़बारों में केवल साहित्यिक चर्चा होती है और न उन्हें केवल 'साहित्यिक रुचि' वाले पढ़ते हैं। हिन्दी केवल साहित्य और साहित्यिक रुचि वालों के काम नहीं आ रही है। हिन्दी में सब काम हो रहा है और सरकार की दिमाग़ी 'हिन्दुस्तानी' के मुकाबले कहीं अधिक काम हो रहा है। हिन्दी का हिन्दी प्रदेश में बोली जानेवाली साधारण बोली या हिन्दुस्तानी से वही संबंध है जो साहित्यिक बँगला का बंगाल में बोली जानेवाली साधारण बोली से, या साहित्यिक गुजराती का गुजरात में बोली जानेवाली गुजराती से, आदि, आदि। केवल हिन्दी के पीछे 'साहित्यिक' विशेषण लगाकर सरकार उसे क्यों बदनाम करना चाहती है? आज सरकार कहती है कि 'कामन मैन'

हिन्दी नहीं चाहता, हिन्दी नहीं समझता, 'हिन्दुस्तानी' चाहता और समझता है, कल सरकार कहेगी कि हिन्दी प्रदेश का 'कामन मैन' तुलसी और सूर को नहीं समझता, रामचरित-मानस पढ़ना नहीं चाहता वरन् उसका 'हिन्दुस्तानी' में सरकारी अनुवाद पढ़ना चाहता है ! जिस प्रकार सरकार ने हिन्दी के प्रोग्रामों को 'साहित्यिक रुचि' वालों के निमित्त बताकर हिन्दी को एक किनारे कर दिया है उसका तो यही अर्थ निकलता है कि सरकार की राय में जो भी व्यक्ति हिन्दी पढ़ता है वह 'साहित्यिक रुचि' वाला है और सिवा 'साहित्यिक रुचिवालों' के कोई और हिन्दी नहीं समझता ! जो भी हो, जब सरकार ने स्वयं हिन्दी, उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' का पृथक पृथक अस्तित्व स्वीकार किया है और तीनों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया है, तो सरकार तीनों में पृथक समाचार भी क्यों नहीं देगी ? जब सरकार बँगला जाननेवालों के लिये (साहित्यिक) बँगला में, गुजराती जाननेवालों के लिये (साहित्यिक) गुजराती में यहाँ तक कि अँगरेजी जाननेवालों के लिये (साहित्यिक) अँगरेजी में ख़बरें देगी और दे रही है, तो हिन्दी जाननेवालों के लिये हिन्दी में ख़बरें क्यों नहीं देगी ? हिन्दी के साथ ही विशेष व्यवहार क्यों ? क्या हिन्दी समझनेवालों की संख्या अँगरेज़ी समझनेवालों की संख्या से भी कम है ? क्या 'कामन मैन' और 'कामन लिसनर' उस अँगरेज़ी को समझता है जिसमें ख़बरें होती हैं, परन्तु हिन्दी नहीं समझता ? यदि सरदार पटेल को 'कामन मैन' की इतनी चिन्ता है तो वे अँगरेज़ी की ख़बरें और अँगरेज़ी के प्रोग्राम क्यों नहीं बन्द करते ? लखनऊ से, उदाहरण के लिये, अँगरेज़ी में भी ख़बरें होती हैं। क्या सरकार कोई कारण बता सकती है कि इन अँगरेज़ी की ख़बरों के स्थान में हिन्दी की ख़बरें ब्राडकास्ट करने से 'कामन मैन' का अधिक लाभ क्यों न होगा ? स्पष्ट है, सरकार हिन्दी के साथ भारत की अन्य भाषाओं के साथ किये गये व्यवहार से भिन्न व्यवहार नहीं कर सकती। जिस प्रकार सरकार बंगालियों, गुजरातियों, आदि

से यह नहीं कह सकती कि तुम्हें अपनी चिर-परिचित बँगला और गुजराती के स्थान में किसी सरकारी और नई बँगला और गुजराती में ख़बरें सुननी पड़ेंगी और तुम्हारी स्त्रियों, बालकों, आदि के प्रोग्रामों का 'बड़ा भाग' किसी सरकारी और नई बँगला और गुजराती में होगा, उसी प्रकार सरकार हिन्दियों से यह नहीं कह सकती कि तुम्हें अपनी चिर-परिचित हिन्दी के स्थान में सरकारी 'हिन्दुस्तानी' में ख़बरें सुननी पड़ेंगी और तुम्हारी स्त्रियों, बालकों, आदि के प्रोग्रामों का 'बड़ा भाग' सरकारी 'हिन्दुस्तानी' में होगा। यदि सरकार हिन्दुस्तानी गढ़ना ही चाहती है तो भारत के सभी प्रमुख विद्वानों की समिति बना कर उससे गढ़वाये और जब वह गढ़ जाय और उसे सब स्वीकार कर लें तब—उससे पहले नहीं—उसे भारत भर के स्टेशनों में समान स्थान दे और अँगरेज़ी के स्थान में उसका प्रयोग करे। हिन्दी में पृथक समाचारों की और स्त्रियों, बालकों, आदि के अबाध प्रोग्रामों की तुरन्त व्यवस्था होनी चाहिये। हम यहाँ यह भी बताना आवश्यक समझते हैं कि अँगरेज़ी के समान समृद्ध तो 'हिन्दुस्तानी' की कौन कहे, आज तक की साहित्यिक हिन्दी भी नहीं है। आजकल हमें पूरा अर्थ और ध्वनि जानने के लिए अँगरेज़ी की ख़बरों को सुनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यदि केन्द्रीय सरकार के कांग्रेसी सदस्य दिखाने के लिये पहले सड़ी सी 'हिन्दुस्तानी' में भाषण देकर फिर असली भाषण अँगरेज़ी में देकर संतुष्ट हैं, तो उनको 'हिन्दुस्तानी' उन्हें मुबारक हो। हमें अँगरेज़ी की ख़बरें सुनने के लिये विवश न किया जाय। हम पूरा अर्थ, ठीक ठीक भाव और ध्वनि जानने के लिये भी अपनी हिन्दी में ख़बरें चाहते हैं। जो 'हिन्दुस्तानी' में ख़बरें सुनना चाहते हैं या 'हिन्दुस्तानी' की ख़बरें सुनकर संतुष्ट हैं, वे शौक से 'हिंदुस्तानी' में सुनें। सरकार हिन्दी का गला काट कर रेडियो को एक राजनीतिक दल की भाषा के प्रचार का साधन नहीं बना सकती। देश में हिन्दी भी है और उसे भी रेडियो में अपना उचित स्थान और रेडियो द्वारा प्रोत्साहन पाने का पूरा अधिकार है।

हिन्दी-प्रेमियों को इन्हीं तर्कों और युक्तियों को अपनी ढाल और तलवार बनाकर आगे बढ़ना चाहिये।

३

सरकार की घोषणा की कुछ अन्य बातों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। सरकार ने बम्बई, पेशावर, लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता और ढाका में हिन्दी, उर्दू और 'हिन्दुस्तानी' के प्रोग्रामों का सापेक्षिक अनुपात निर्धारित कर दिया है—पेशावर में पश्तो को ५० प्रतिशत, उर्दू को ४५, हिन्दुस्तानी को ५ प्रतिशत, हिन्दी को शून्य; लाहौर में पंजाबी को २५ प्रतिशत, उर्दू को ५६३/४, हिन्दी को १११/४, हिन्दुस्तानी को ७१/२ प्रतिशत; दिल्ली में हिन्दी को ४०, उर्दू को ४०, हिन्दुस्तानी को २० प्रतिशत; लखनऊ में हिन्दी को ७०, उर्दू को २०, हिन्दुस्तानी को १० प्रतिशत; और बम्बई, कलकत्ता और ढाका में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी को बराबर बराबर। अर्थात् सब जगह हिन्दी को अपने प्राप्य से बहुत कम और उर्दू को अपने प्राप्य से बहुत अधिक दिया गया है, और हिन्दुस्तानी प्रिया को सब जगह बिना किसी तर्क या सिद्धान्त के यों ही घुसा दिया गया है—कालान्तर में हिन्दी और उर्दू को बिलकुल चट कर जाने के लिये। क्या सरकार इस बात से इन्कार कर सकती है कि सीमा-प्रांत की 'आम तौर से बोली और समझी जाने वाली' भाषा पश्तो, पंजाब की पँजाबी, बंगाल की बँगला, और बम्बई की मराठी हैं? फिर पेशावर, लाहौर, कलकत्ता, ढाका और बम्बई में इन भाषाओं के बजाय 'हिन्दुस्तानी' में कोई भी प्रोग्राम क्यों किया जाय? क्या इन प्रान्तों का 'कामन मैन' या 'कामन लिसनर' इन भाषाओं की अपेक्षा 'हिन्दुस्तानी' को ज्यादा अच्छी तरह समझता है? इन प्रान्तों में तो केवल हिन्दी और उर्दू को पठित साहित्यक भाषाओं के नाते स्थान मिल सकता था। फिर इन प्रान्तों में जो भी हिन्दुस्तानी बोली या समझी जाती है उसका स्वरूप सब प्रान्तों में एक सा नहीं। उदा-

हरण के लिये, बंगाल और बम्बई में 'आम तौर से बोली और समझी जाने वाली' हिन्दुस्तानी, जिसे वहाँ का 'कामन मैन' समझ सकता है, हिन्दी से भिन्न नहीं, फिर कलकत्ता, ढाका और बम्बई में 'हिन्दुस्तानी' को हिन्दी से पृथक प्रतिनिधित्व क्यों दिया गया और हिन्दी को उर्दू के समकक्ष क्यों रख दिया गया ? क्या हम कम से कम यह आशा रक्खें कि न्याय के नाते इन स्टेशनों में 'हिन्दुस्तानी' की चीजें उन्हीं को दी जायँगी जो प्रान्त के स्थायी निवासी हैं और जिनकी मातृभाषा प्रान्तीय भाषा है ? यदि इन सब स्टेशनों में 'हिन्दुस्तानी' को 'राष्ट्र-भाषा' के नाते स्थान दिया गया है तो मद्रास और ट्रिंची में भी स्थान क्यों नहीं दिया गया, और क्या 'हिन्दुस्तानी' की शब्दावली के विषय में परामर्श देने वाली स्थायी समिति में सब प्रान्तीय भाषाओं के विद्वान् लिये जायँगे और क्या प्रान्तीय स्टेशनों में 'हिन्दुस्तानी' की सब चीज़ें प्रान्त के स्थायी निवासियों को, जिनकी मातृ-भाषा प्रान्तीय भाषा हो, दी जायँगी ? क्या 'राष्ट्र-भाषा' का यही अर्थ और न्याय का यही तक़ाज़ा नहीं है ?

अब हिन्दी और उर्दू को लीजिये। नबाब सिद्दीकअलीख़ाँ के कटौती के प्रस्ताव पर बोलते हुये सरदार पटेल ने असेम्बली में स्वयं स्वीकार किया कि उर्दू को 'वेटेज' दिया गया है। हमारी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों किया गया। क्या अब तक रेडियो में उर्दू की जो तूती बोल रही थी उसका यही तक़ाज़ा था ? फिर, यदि सरकार ने उर्दू को वेटेज दिया ही, शायद इसलिये कि उर्दू अल्पमत में है, तो सरकार ने हिन्दी को वहाँ वेटेज क्यों नहीं दिया जहाँ हिन्दी अल्पमत में है अर्थात् लाहौर और पेशावर में, और यह कहाँ का न्याय है कि अल्पमत को इतना वेटेज दिया जाय कि वह बहुमत के बराबर हो जाय जैसा कि दिल्ली में किया गया है ? दिल्ली पूरे भारत का स्टेशन है, दिल्ली भारत भर में सुना जाता है और इस समय बिहार, मध्य-प्रान्त, पूर्वी युक्तप्रान्त और राजस्थान जैसे हिन्दी-प्रधान क्षेत्रों में दिल्ली के

अलावा कोई दूसरा स्टेशन नहीं पहुँचता। और देश में अथवा इन हिन्दी-प्रधान क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार उर्दू के प्रचार से कई गुना है। ऐसी स्थिति में दिल्ली में हिन्दी और उर्दू को बराबर प्रतिनिधित्व क्यों दिया गया ? लाहौर और पेशावर मे हिन्दी को वेटेज देना तो दूर रहा, सरकार ने हिन्दी को उसके प्राप्य से भी कम दिया है। पंजाब में सब हिन्दू बालिकायें और स्त्रियाँ हिन्दी पढ़ती और जानती हैं। लाहौर में हिन्दी को १५ प्रतिशत तो केवल इसी आधार पर मिलना चाहिये, परन्तु सच यह है कि बालकों के मामले में भी पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी की परीक्षाओं में बैठने वालों की संख्या उर्दू की परीक्षाओं में बैठने वालों से अधिक है। ऐसी स्थिति में लाहौर में हिन्दी को क्या उर्दू के मुकाबिले ½ मिलना चाहिये था ? और पेशावर में हिन्दी बिलकुल नदारद है, यद्यपि सीमा-प्रान्त में अनेक हिन्दी स्कूल हैं और वहाँ की सब हिन्दू बालिकायें और स्त्रियाँ हिन्दी ही पढ़ती और जानती हैं और बहुत से हिन्दू बालक भी हिन्दी पढ़ते और जानते हैं। लखनऊ में भी हिन्दी को उसके प्राप्य से कम दिया गया है, और 'हिन्दुस्तानी' का पूरा भाग हिन्दी के हिस्से में से छीना गया है। यह है सरदार पटेल का 'राष्ट्रीय न्याय'! एक हिन्दू के लिए हिन्दी का गला काट कर उर्दू का घर भरना और हिन्दी के भाग को कम करके उर्दू के साथ उदारता दिखाना उससे भी निकृष्ट साम्प्रदायिकता है जितनी हिन्दी को उसके प्राप्य से अधिक देना होती।

घोषणा की कुछ अन्य उल्लेखनीय बातें ये हैं (१) घोषणा में कहा गया है कि 'हिन्दुस्तानी' के प्रोग्रामों की व्यवस्था हेडक्वार्टर का स्टाफ करेगा, परन्तु यह नहीं बताया गया कि किस प्रकार करेगा। 'हिन्दुस्तानी' का कोई निश्चित स्वरूप नहीं, 'हिन्दुस्तानी' के लेखक नहीं, फिर लेखकों को 'हिन्दुस्तानी' की चीज़ें सरकारी हिन्दुस्तानी में लिखने के लिये कैसे विवश किया जायगा ? यदि इस दिशा में कुछ न किया गया और लेखकों को अपनी

मनमानी हिन्दुस्तानी में लिखने दिया गया तो इसकी क्या गारंटी है कि उनकी भाषा हिन्दी या उर्दू न हो जायगी और वही झगड़ा फिर न खड़ा हो जायगा जिसके कारण आज हिन्दी और उर्दू प्रोग्रामों का अनुपात निर्धारित किया गया है। विशेपरूप से रेडियो के वर्तमान उर्दू-पक्षपाती और हिन्दी-द्रोही स्टाफ पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? अथवा क्या हम सरकार के कथन का यह अर्थ समझें कि 'हिन्दुस्तानी' की सब चीज़ें रेडियो का वेतन भोगी स्टाफ लिखेगा? * (२) सरकार ने यह नहीं बतलाया कि 'हिन्दुस्तानी' की चीज़ें, ख़बरें, आदि किस लिपि में लिखी जायँगी। यदि उर्दू लिपि में भी लिखने की छूट होगी तो उसमें हिन्दी के अधिकांश शब्द और हिन्दुओं के नाम किस प्रकार लिखे जायँगे, शुद्ध उच्चारण का क्या प्रबन्ध किया जायगा और वर्तमान घोर अशुद्ध उच्चारण का किस प्रकार सुधार किया जायगा? चूँकि रेडियो के दफ्तर में 'हिन्दुस्तानी' की चीज़ें किस लिपि में लिखी जाती हैं, इससे जनता और सुननेवालों को कोई मतलब नहीं, और चूँकि सरकार स्वयं कहती है कि 'हिन्दुस्तानी' वाले स्टाफ के लिये हिन्दी और उर्दू दोनों का जानना आवश्यक होगा, हम यह जानना चाहते हैं कि शुद्ध उच्चारण की दृष्टि से सरकार यह आज्ञा क्यों नहीं दे सकती कि 'हिन्दुस्तानी' की ख़बरें, घोषणायें,

---

* इस समय अवस्था यह है कि 'हिन्दुस्तानी' की चीज़ें वही पुराने लेखक लिख कर दे रहे हैं और उनकी भाषा या हिन्दी है (कुछ की), या उर्दू—रेडियो के पत्रों में जिन चीज़ों के आगे स्पष्टत: 'हिन्दी में' और 'उर्दू में' लिखा जा रहा है उनकी भाषा से बिलकुल भिन्न नहीं। केवल सरकार की ज़िद पूरी करने के लिये प्रोग्राम वाले 'हिन्दुस्तानी' के लिये निश्चित अनुपात में कुछ हिन्दी की और शेष उर्दू की मनमानी चीज़ें छाँटकर उनके ऊपर 'हिन्दुस्तानी में' की मुहर लगा देते हैं। अर्थात् वही पुराना झगड़े का मूल बना हुआ है जिसके कारण सरकार को हिन्दी और उर्दू का अनुपात निश्चित करने के लिये विवश होना पड़ा।

सूचनायें और अन्य चीजें सदैव देवनागरी में लिखी और पढ़ी जायँ ? (३) घोषणा में कहा गया है कि रेडियो के वर्तमान स्थायी स्टाफ को हिन्दी और उर्दू दोनों जानने के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता। क्यों ? यदि यह किसी कारण संभव नहीं, तो कम से कम हिन्दी न जानने वाले अस्थायी स्टाफ को अलग करना और अस्थायी रूप से उच्च पदों पर आसीन हिन्दी न जाननेवाले व्यक्तियों को अपने स्थायी पदों पर वापस भेजना तो संभव है। हिन्दी जानने वाले व्यक्तियों की कमी को इस प्रकार पूरा क्यों नहीं किया जाता ? श्री बोख़ारी ने तो कितने ही कर्मचारियों को इस 'कसूर' पर निकाल दिया कि उनका उर्दू का ज्ञान विस्तृत नहीं था, क्या राष्ट्रीय सरकार हिन्दी के लिये इतना भी नहीं कर सकती ? फिर, हिन्दी और उर्दू दोनों के ज्ञान की जाँच क्या और किस प्रकार होगी ? क्या देवनागरी में चार पंक्तियाँ लिख और पढ़ सकना हिन्दी की योग्यता का प्रमाण मान लिया जायगा ? 'हिन्दुस्तानी' वाले स्टाफ़ की हिन्दी और उर्दू की योग्यता की जाँच करने के लिये सरकार एक निष्पक्ष और बाहरी परीक्षा-बोर्ड द्वारा समान स्टैंडर्ड की हिन्दी और उर्दू की विभागीय परीक्षाओं की व्यवस्था क्यों नहीं कर सकती ? (४) सरकार ने इस बात को मान लिया है कि हिन्दी के प्रोग्रामों की व्यवस्था करने के लिये स्टाफ़ में हिन्दी की यथेष्ट योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की संख्या काफ़ी हो, परन्तु सरकार ने इस बात को अमली रूप देने का कोई प्रबंध नहीं किया है। कम से कम सरकार यह आदेश दे सकती थी कि भविष्य में स्टाफ़ में केवल हिन्दी जाननेवालों की भरती हो जब तक उनकी संख्या यथेष्ट न हो जाय। (५) यद्यपि सरकार ने यह स्वीकार किया है कि उर्दू ग़ज़लों के मुकाबले हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की कवितायें गाई जायँ, परन्तु किस अनुपात में गाई जायँ, यह रेडियो के वर्तमान उर्दू-पोषक स्टाफ पर छोड़ दिया गया है। (६) रेडियो-कमेटी की इस सिफारिश पर कि 'आदाबअर्ज़, 'खुदा हाफ़िज़ है', आदि अभिवादनों का प्रयोग बिलकुल

बन्द कर दिया जाय, सरकार ने निर्णय दिया है कि जनता में आमतौर से प्रचलित ('popularly used') अभिवादन का प्रयोग किया जाय, परन्तु यह नहीं बतलाया कि किस स्टेशन में किस अभिवादन का प्रयोग किया जाय। यह रेडियो के बोख़ारी-परस्त अफ़सरों पर छोड़ दिया गया है।

४

यह लेख इसका आभास दिये बिना पूर्ण न होगा कि घोषणा होने के तीन महीने बाद भी आज उसका पालन किस प्रकार हो रहा है। इससे घोषणा की कितनी ही अस्पष्ट बातों का उत्तर भी मिल जायगा। ख़बरों की भाषा में कोई उल्लेखनीय या निश्चित परिवर्तन नहीं हुआ है। वही लिखने वाले हैं, वही पढ़ने वाले। स्टाफ में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है और पुराने स्टाफ से किसी सुधार की आशा करना दुराशा मात्र है। यहाँ तक कि कोई घोषक (announcer) भी, जो स्थायी छोड़ अस्थायी नौकर भी नहीं हैं वरन् कलाकारों की भाँति नियुक्त किये जाते हैं, नहीं बदला गया है। 'हिन्दुस्तानी' की सब लिखाई पूर्ववत् उर्दू लिपि में हो रही है और उच्चारण का भी वही हाल है। रेडियो के किसी घोषक के मुँह से 'रामायण' या 'नारायण' तो स्वप्न में भी नहीं निकल सकता। 'हिन्दी और उर्दू दोनों का जानना आवश्यक होगा', यह केवल फाइलों में धरा हुआ है। स्वयं सरकार ने अभी तक 'हिन्दुस्तानी' की परामर्श-समिति का निर्माण नहीं किया है। कब कमेटी बनेगी, कब वह बैठेगी और कब वह 'हिन्दुस्तानी' का निर्माण करेगी! एक ओर राष्ट्रीय सरकार हिन्दी में ख़बरें देने को तैयार नहीं, दूसरी ओर रेडियो की वर्तमान 'हिन्दुस्तानी' बदलने के लिये क्रियाशील नहीं। निचोड़ यह है कि हम 'राष्ट्रीय सरकार' के व्यर्थ, अनुचित और निराधार हिन्दुस्तानीवाद के कारण इसी वर्तमान 'हिन्दुस्तानी' नामधारी उर्दू को सुनने के लिये विवश हैं। 'हिन्दुस्तानी' की सूचनाओं, घोषणाओं, आदि की भाषा में तो कोई अन्तर हुआ ही नहीं है। केवल लखनऊ से

(दिल्ली से वह भी नहीं) 'मजलिस' शब्द निकाल दिया गया है, परन्तु चूँकि हिन्दुस्तानी 'सभा' नहीं समझ सकते, उसके स्थान में 'सुभू का प्रोग्राम', 'दोपहर का प्रोग्राम' और 'शाम का प्रोग्राम' धर दिया गया है। 'हिन्दुस्तानी' की चीज़ें पूर्ववत् उर्दू वालों और मुसलमानों को दी जा रही हैं और उनकी भाषा पूर्ववत शुद्ध उर्दू है जिसका अर्थ यह है कि उर्दू पेशावर, लाहौर, दिल्ली, और लखनऊ में ४५, ५६३, ४० और २० प्रतिशत नहीं, ५०, ६३३, ६० और ३० प्रतिशत है, और बम्बई, कलकत्ता और ढाका में हिन्दी के बराबर नहीं, दूनी है, और स्त्रियों, बालकों, आदि के तथाकथित हिन्दी प्रोग्रामों का दो-तिहाई भाग उर्दू में होता है। पेशावर और बम्बई में स्त्रियों, बालकों, आदि के प्रोग्रामों को हिन्दी में अलग किया ही नहीं गया है, अर्थात् वहाँ वे पूर्ववत् केवल 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् उर्दू में हो रहे हैं। इसी प्रकार सैनिकों के प्रोग्राम, प्रवासी भारतीयों के प्रोग्राम, आदि भी हिन्दी में अलग नहीं किये गये हैं और पूर्ववत् केवल 'हिन्दुस्तानी' अर्थात उर्दू में हो रहे हैं। हिन्दी वालों को उनके पत्रों के उत्तर भी 'पयामी', 'जवाबी' गण पूर्ववत् अपनी 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् उर्दू में सुना रहे हैं। रेडियो की किसी पत्रिका से यह भी पता नहीं चल सकता कि कौन सा स्त्रियों या बालकों का प्रोग्राम हिन्दी का है, और कौन सा उर्दू का। रेडियो वालों की राय में दोनों प्रोग्राम सब स्त्रियों या बच्चों के लिये एक समान उपयुक्त हैं और सरकार ने महज मज़ाक के लिये इन प्रोग्रामों को अलग-अलग हिन्दी और उर्दू में करने के लिये कहा है, और इसीलिये सप्ताह के दोनों स्त्रियों (या बालकों) के प्रोग्रामों में कोई अन्तर नहीं—दोनों के संचालक वही पुराने उर्दूदाँ लोग ('आपा', 'बाजी', आदि) हैं जो हिन्दी के पत्रों के उत्तर भी पहले दफ्तर से उनकी उर्दू में नकल करा कर देते हैं, दोनों में वही 'आदाबअर्ज़' चलता है और दोनों में हिन्दी और उर्दू की चीज़ें मिली-जुली होती हैं, अर्थात् केवल एक बार के बजाय दो बार प्रोग्राम होता है, और कुछ नहीं। प्रत्येक

प्रोग्राम का समय भी पहले का आधा है। 'आदाबअर्ज़' और 'खुदा हाफ़िज़ है' का सब स्टेशनों में पूर्ववत् प्रयोग हो रहा है। रेडियो वालों की राय में पेशावर से पटना तक और दिल्ली से जबलपुर तक की जनता में यही अभिवादन 'आम तौर से प्रचलित' है, और 'नमस्कार', 'नमस्ते', 'प्रणाम', या 'राम राम' केवल दो चार तिलकधारी पंडित करते हैं। संगीत का भी वही हाल है। पन्द्रह दिन का संगीत का प्रोग्राम देख डालिये, उर्दू का ऐसा कोई कवि नहीं मिलेगा जिसका 'कलाम' दो-चार दफे न गाया गया हो, परन्तु हिन्दी के प्राचीन कवियों में केवल तुलसी, सूर और मीरा के और आधुनिक कवियों में केवल बच्चन, कोकिल और एक-दो और के नाम मिलेंगे और वे भी कहीं कहीं और कभी कभी। शायद रेडियो वाले हिन्दी के किसी और कवि का नाम जानते ही नहीं। पूर्ववत् अब्दुलमाजिद भट्टी, सलाम मछलीशहरी, हैफ़ीज़ जलन्धरी, तनवीर, अख्तर शीरानी, अल्ताफ़, कैफ़, गुलशन, आदि उर्दू कवियों के सड़े हुये, अर्थहीन, बिना सिर-पैर के थोड़े से हिन्दी गीत भी गाये जा रहे हैं। इन कवियों ने आशा, जीवन और आकाश जैसे दो-तीन दर्जन हिन्दी शब्द याद कर लिये हैं और उनकी कला की पराकाष्ठा है इन शब्दों को घुमा फिरा कर किसी प्रकार तुकबन्दी में पिरो देना। हिन्दी कवियों ने न कभी गीत लिखे न लिखना जानते हैं, इसलिये हिन्दी गीतों के लिये मिला हुआ रुपया भी उर्दू कवियों की जेब में पहुँचना आवश्यक है! वे ही तो हिन्दी के 'स्टैंडर्ड' कवि हैं!

यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अमल में सरकारी घोषणा से रेडियो की दुनिया में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।

५

अन्त में 'राष्ट्रीय' सरकार, सरदार पटेल और उनके सहयोगियों से एक बात पूछे बिना नहीं रहा जाता। कांग्रेस के गर्जन-तर्जन, वर्षों तक हिन्दुओं की गर्दन रेतने और मुसलमानों की खुशामद तथा जिन्ना साहब के तलवे सह-

लाने के बावजूद पाकिस्तान तो बन कर रहा, और उन्हें ही जिन्होंने जन्म भर अपने आप को हिन्दू नहीं वरन् 'हिन्दुस्तानी' नाम की किसी चिड़िया, और हिन्दुओं के नहीं वरन् 'हिन्दुस्तानी' नामक किसी जाति का प्रतिनिधि सिद्ध करने में एड़ी-चोटी का जोर लगाया है, हम अभागे और मूर्ख हिन्दुओं की ओर से पाकिस्तान के पट्टे पर सही करनी पड़ी। अस्तु, पाकिस्तान का रेडियो तो डंके की चोट शुद्ध उर्दू में बोलेगा। क्या अब भी अभागे हिन्दुओं के इस अभागे 'हिन्दुस्थान' के रेडियो में कांग्रेसी नेताओं के परम 'राष्ट्रीय' अधिनायकत्व में इस कमबख्त 'हिन्दुस्तानी' का रगड़ा रहेगा और बेचारी हिन्दी को कहीं ठौर न होगी? और इसी प्रकार दिल्ली में 'हिन्दी उर्दू पेरिटी' रहेगी? और 'हिन्दुस्तान' की राष्ट्र भाषा यही कांग्रेस-पूजित ५० प्रतिशत हिन्दी ५० प्रतिशत उर्दू वाली 'हिन्दुस्तानी' तथा राष्ट्रलिपि 'देवनागरी और फारसी (!) लिपि दोनों' रहेंगी? नेता दिल पर हाथ रखकर उत्तर दें।

१६-६-४७

उत्तर-परिशिष्ट ३

'हिन्दुस्तानी' का रहस्य

—एक हिन्दी के मुख से—

१

अहिन्दी प्रान्त और 'हिन्दुस्तानी'

अभी हाल में (अक्टूबर, १९४६) पत्रों में यह समाचार पढ़ने को मिला कि आन्ध्र के 'नेशनलिस्ट' मुसलमानों का एक शिष्ट-मंडल मौलाना आजाद से मिला और यह इच्छा प्रकट की कि आन्ध्र के मुसलमानों की शिक्षा का माध्यम तेलगू के बजाय उर्दू कर दिया जाय, और मौलाना आज़ाद ने उसके दृष्टिकोण का आदर किया और मद्रास के प्रधानमंत्री से उसकी माँग मान लेने की सिफारिश की है। इस समाचार से शायद बहुतों को आश्चर्य हुआ होगा, परन्तु भारतीय मुसलमानों की तो यही मनोवृत्ति है। विचित्र बात यह नहीं है कि मुसलमानों ने—'राष्ट्रीय' अथवा लीगी, क्योंकि उर्दू के मामले में दोनों में कोई अंतर नहीं—ऐसी माँग पेश की है; विचित्र बात यह है कि मौलाना आज़ाद ने इस माँग का समर्थन किया है। अस्तु, आशा है अब हिन्दुस्तानीवालों को इसका विश्वास हो जायगा कि कांग्रेसी मुसलमान भी (जो दाल में नमक के बराबर वैसे ही हैं) भाषा के मामले में अन्य मुसलमानों के साथ हैं। यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि ऐसी माँगें सभी अहिन्दी प्रान्तों—तामिल नाद, महाराष्ट्र, गुजरात,

उड़ीसा, बंगाल, आसाम, आदि—के मुसलमानों द्वारा पेश की जायँगी। इन माँगों का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। आन्ध्र को ही लीजिये। आन्ध्र के मुसलमानों की माँग का सीधा-सादा अर्थ यह है कि आन्ध्र के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन को बीच से दो-टूक कर दिया जाय, साम्प्रदायिक अलगाव और कटुता के बीज बोये जायँ, करदाताओं का रुपया (जो हिन्दुओं की जेब से ही आवेगा) अलग उर्दू स्कूल और कालेज खोलने में फूँका जाय, शिक्षा के व्यय को व्यर्थ दूना किया जाय और शासन की कठिनाइयाँ सहस्र गुना बढ़ाई जायँ, क्योंकि यह निश्चित है कि इस माँग के बाद यह माँग पेश की जायगी कि राजकार्य में उर्दू को तेलगू के समकक्ष स्थान दिया जाय। एक ओर तो भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्निर्माण की चर्चा ज़ोरों से चल रही है, दूसरी ओर गांधीजी हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' करने और उर्दू लिपि के प्रचार में इस उद्देश्य से जुटे हुये हैं कि मुसलमान खुश हो जायँ और भाषा की 'एकता' स्थापित हो जाय, और इधर मुसलमान एक ऐसे प्रान्त में ही भाषा का पाकिस्तान बनाने की माँग कर रहे हैं जो अब तक भाषा और संस्कृति की दृष्टि से एक रहा है! पता नहीं, डा० पट्टाभि सीतारमैय्या को, जो तेलगू भाषी आन्ध्र को भाषा के आधार पर एक पृथक प्रान्त बनाने के लिये यत्नशील हैं, आन्ध्र के भीतर ही एक अलग उर्दुस्तान बनाने की माँग कहाँ तक रुचेगी, और गांधीजी, जो प्रान्तीय प्रकरणों में प्रान्तीय भाषा के प्रयोग पर और राष्ट्रीय प्रकरणों में राष्ट्र-भाषा (अर्थात् अपनी 'हिन्दुस्तानी') के प्रयोग पर ज़ोर देते हैं, अहिन्दी प्रान्तों के मुसलमानों की इस प्रकार की माँगों का कहाँ तक समर्थन करेंगे।

कहना कठिन है कि विभिन्न अहिन्दी प्रांतों (बंगाल को छोड़कर, जहाँ की लीगी सरकार 'हिन्दुई भाषा' बँगला को निकाल कर उर्दू की प्रतिष्ठा करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खेगी) की कांग्रेसी सरकारें इस

प्रकार की प्रतिक्रियावादी मांगों का क्या उत्तर देंगी। ज़रा देर के लिये मान लीजिये कि वे मौलाना आज़ाद की सिफ़ारिश की भी पर्वाह न कर कम से कम इस मामले में अपनी 'अपीज़मेंट पालिसी' का परित्याग कर इन माँगों को ठुकरा देंगी। **परन्तु असली प्रश्न यह है कि यदि कांग्रेसी सरकारें राष्ट्र-भाषा की गांधीजी की दी हुई नई परिभाषा मान कर उनकी 'हिन्दुस्तानी' ($=\frac{\text{हिन्दी}+\text{उर्दू}}{२}$) और देवनागरी के साथ उर्दू लिपि को स्कूलों में अनिवार्य (या वैकल्पिक ही, क्योंकि मुसलमान अवसर चूकने वाले नहीं) विषय के रूप में धर देते हैं, तो क्या उस प्रकार से ही अहिन्दी मुसलमानों का वह उद्देश्य पूर्ण न हो जायगा जो इन माँगों में निहित है ?** जब अहिन्दी प्रान्तों के मुसलमान इस प्रकार सरकारी ख़र्चे से ही उर्दू लिपि सीख लेंगे तो उन्हें शुद्ध उर्दू सीखने से, प्रान्तीय भाषा के साहित्य को छोड़कर उर्दू साहित्य अपनाने से, अपना सारा काम काज प्रान्तीय भाषा के बजाय उर्दू में करने से, अर्थात् प्रान्तीय भाषा त्याग कर उर्दू अपनाने से कौन रोक सकेगा ? सरकारी ख़र्चे से ही 'हिन्दुस्तानी' की शिक्षा के द्वारा उन्हें उर्दू शब्दों, उर्दू के ढाँचे, व्याकरण, आदि का जो ज्ञान होगा उसके कारण उनके लिये अपना लक्ष्य प्राप्त करना बहुत आसान हो जायगा, और चूँकि हिन्दू भी उर्दू लिपि और ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' जानते होंगे, उनके मार्ग की एक बाधा और दूर हो जायगी। इसके अतिरिक्त अहिन्दी हिन्दू भी अन्ततः गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' को, जिसे वे केवल स्कूलों में पढ़ेंगे, नहीं वरन् उस 'हिन्दुस्तानी' को (अर्थात् उर्दू) अपनायेंगे जिसे वे नित्य अपने पड़ोसी मुसलमानों के मुख से सुनेंगे। उपदेश से उदाहरण में अधिक बल होता है। एक नई भाषा पढ़ने की अपेक्षा सुनने से ज्यादा जल्दी आती है। चूँकि मुसलमान प्रान्तीय भाषा का बहिष्कार कर उर्दू पर ज़ोर देंगे और चूँकि हिन्दुओं को 'हिन्दुस्तानी' के ज्ञान के

कारण उर्दू समझने में कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ेगी, उर्दू अपने आप प्रान्त की कामन भाषा हो जायगी, और फलस्वरूप सारे देश की वास्तविक राष्ट्र-भाषा भी हो जायगी। लिपि के मामले में भी वही होगा। अपने दस करोड़ अखंड अनुयायियों के बल पर उर्दू भारत को सब से अधिक शक्तिशाली भाषा और उसका साहित्य सबसे अधिक समृद्ध हो जायगा, और उसके सामने सभी प्रान्तीय भाषायें और उनके साहित्य फीके पड़ जायँगे। दूसरे शब्दों में, उर्दू सब प्रान्तीय भाषाओं पर अमरबेलि की तरह छा जायगी। उर्दू की विदेशी संस्कृति, विदेशी प्रवृत्ति, वातावरण, शब्दावली और साज-सज्जा का प्रान्तीय भाषाओं और उनके द्वारा प्रतिध्वनित होने वाली स्वदेशी संस्कृति पर अत्यन्त विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा—उसी प्रकार जिस प्रकार आज अँगरेज़ी का पड़ रहा है, केवल उर्दू का प्रभाव इससे भी अधिक पड़ेगा।

यह भी निश्चित है कि कुछ समय बाद मुसलमान प्रान्तीय भाषा में अनावश्यक उर्दू शब्द घुसेड़ना आरम्भ करेंगे, और इस प्रकार प्रान्तीय भाषा की एक अलग शैली की ही सृष्टि कर डालेंगे, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू बँगला—मुस्लिम बँगला, हिन्दू तेलगू—मुस्लिम तेलगू जैसी समस्यायें प्रकट हो जायँगी। उत्तर में मुसलमानों ने ऐसा ही किया। उन्होंने हिन्दी में से हिन्दी शब्द निकाल निकाल कर अरबी और फारसी के शब्द ठूँसे, और इस प्रकार उर्दू की सृष्टि कर डाली, और इस का परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा, राजकार्य आदि, आदि के क्षेत्रों में हिन्दी—उर्दू समस्या भीषण रूप धारण कर रही है। प्रान्तीय भाषा की मुस्लिम शैली का निर्माण इस कारण और भी सरल होगा कि हिन्दू भी 'हिन्दुस्तानी' द्वारा उर्दू शब्दों से परिचित होंगे। यदि प्रान्तीय भाषा को विकृत करने का जानबूझ कर प्रयत्न न भी किया गया, तो भी ऐसा ही होगा क्योंकि प्रांत की व्यापक भाषा, राष्ट्र की कामन भाषा और मुसलमान पड़ोसियों की भाषा के नाते

उर्दू का प्रान्तीय भाषा पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ेगा। ऐसा सदैव हुआ है। भूतकाल में राज-भाषा फारसी का प्रान्तीय भाषाओं पर प्रभाव पड़ा और वर्त्तमान काल में तो अँगरेज़ी का ऐसा प्रभाव पड़ा है कि प्रान्तीय भाषाओं की आधी देशी और आधी अँगरेज़ी बाबू शैलियाँ ही बन गई हैं। यदि 'हिन्दुस्तानी' उर्दू में परिणित न भी हुई, तो 'हिन्दुस्तानी' की अर्ध अरबी-फ़ारसी शब्दावली प्रान्तीय भाषा को विकृत करने और उसके साहित्य को आने वाली पीढ़ियों के लिये मृत-साहित्य बनाने के लिये पर्याप्त होगी। यह भी निश्चित है कि उर्दू लिपि सीख जाने के बाद मुसलमान प्रान्तीय भाषा को उर्दू लिपि में लिखेंगे। बहुत संभव है कि प्रान्तीय भाषा की लिपि के विभाजन से ही उसकी शैली के विभाजन का श्रीगणेश हो *। चूँकि हिन्दू भी 'हिन्दुस्तानी' की एक लिपि के नाते उर्दू लिपि जानते होंगे, उन्हें भी उर्दू लिपि में लिखित प्रान्तीय भाषा को स्वीकार करने में या कम से कम उसे सहन करने में कठिनता महसूस न होगी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह कोरी कपोल-कल्पना नहीं है। भारतीय

---

* लिपि का भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उर्दू के पृथक विकास का एक कारण यह था कि मुसलमानों ने हिन्दी फारसी लिपि में लिखी। पारसियों की गुजराती रोमन लिपि में लिखी जाने के कारण ही हिन्दुओं की गुजराती से सर्वथा भिन्न है और गोआ के ईसाइयों की कोंकणी रोमन लिपि में लिखी जाने के कारण ही हिन्दुओं की कोंकणी (देवनागरी में लिखित) से सर्वथा भिन्न है। लिपि और भाषा का अटूट संबंध होता है। जिस प्रकार रोमन लिपि के प्रभाव से अँगरेज़ी शब्द पारसी-गुजराती और ईसाई-कोंकणी में अनायास घर करते जाते हैं और फारसी लिपि के प्रभाव से फारसी शब्द सिन्धी और उर्दू में, और उर्दू शब्द मुस्लिम (!) पंजाबी में घर करते जाते हैं, उसी प्रकार फारसी लिपि के प्रभाव से उर्दू शब्द प्रान्तीय भाषाओं की मुस्लिम शैली में (फारसी लिपि में लिखित) अनायास घर करते जायँगे। प्रान्तीय भाषा के बहुत से शब्दों का उर्दू लिपि में न लिखे जा सकने के कारण बहिष्कार होगा। शेष शब्दों का उच्चारण भ्रष्ट होगा, सो अलग।

मुसलमानों की मनोवृत्ति और उर्दू के प्रति उनके अनुचित आकर्षण के इतने सबूत मिल चुके हैं कि इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं कि विभिन्न अहिन्दी प्रान्तों के मुसलमान प्रान्तीय भाषायें त्याग कर उर्दू अपनायगे, और इसके वही परिणाम होंगे जो ऊपर बतलाये गये हैं। उर्दू और उर्दू लिपि के स्टीमरोलर के नीचे काश्मीर, पंजाब और हैदराबाद की देशी भाषायें और लिपियाँ पिस चुकी हैं। पंजाबी पर उर्दू का इतना ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है कि उसका मूल संस्कृत-बहुल रूप बिलकुल बदल गया है। पंजाबी मुसलमान जब पंजाबी लिखते ही हैं तो उसे उसकी स्वाभाविक लिपि गुरुमुखी के बजाय उर्दू लिपि में लिखते हैं, और पंजाब विश्व-विद्यालय को पंजाबी के लिये गुरुमुखी और उर्दू लिपि दोनों को स्वीकार करना पड़ा है। सीमा-प्रांत में पश्तो पर उर्दू छाती जा रही है। सिन्ध में मुसलमानों को सिन्धी तभी सह्य हुई जब उन्होंने उसमें जी भर कर अरबी और फ़ारसी ठूँस ली और उसकी मूल लिपि देवनागरी हटा कर फ़ारसी लिपि धर ली। सिन्धी का अरबीकरण अब भी जारी है, और चूँकि सिन्ध में मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है, उन्होंने सिन्धी हिन्दुओं को भी अपनी अरबी-फ़ारसी-मयी सिन्धी और फारसी लिपि स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया है। तिस पर भी सिन्ध में उर्दू को ख़ूब प्रोत्साहन दिया जा रहा है।* यह कहना बिलकुल यथार्थ होगा कि गांधीजी की 'हिन्दुंस्तानी' नहीं 'वरन् उर्दू', और 'दोनों लिपि' नहीं, वरन् केवल उर्दू लिपि इस समय भी पूरे पश्चिमी पाकिस्तान की और उसके अलग अलग भागों—पंजाब, काश्मीर, सीमा-प्रान्त, बलूचिस्तान—की भी, कामन भाषा और लिपि बन चुकी हैं। उर्दू पूरे हैदराबाद की भी डीफैक्टो कामन भाषा और साहित्यिक भाषा है। उर्दू के प्रभाव के कारण हैदराबाद की देशी भाषाओं मराठी और तेलगू का

* अब तो सिन्धी का बिलकुल बहिष्कार किया जा रहा है और उसके स्थान में उर्दू की प्रतिष्ठा की जा रही है। आगे 'पुनर्लेख' देखिये।

स्वरूप अत्यन्त विकृत और कलुषित होता जा रहा है।........ बंगाल में 'हिन्दू बँगला' और 'मुस्लिम बँगला' के नाम अभी से सुनाई पड़ने लगे हैं*,

---

* फरवरी, १९४७ के 'माडर्न रिव्यू' में प्रोफेसर हेमन्तकुमार सरकार लिखते हैं :

"The writing of primary text-books has been taken up by the League Government. A new type of language advocated by newspapers lake the *azad* with Arabic and Persian words preponderating is coming to vogue. The peculiar phonetics and Islamic idioms are absolutely foreign to Bengalis. Primary schools are now called ***Muktabs***; it is likely that the secondary schools, mostly built up by the money and energy of the Hindus, will be called ***Madrussas*** ......The Hindus will soon have to read accounts of 'Janab' Ramchandra and his 'Begum' Sita" अर्थात्

"(बंगाल में) लीगी सरकार ने प्राथमिक पाठ्य-पुस्तकों का लेखन-कार्य अपने कब्ज़े में कर लिया है। भाषा का एक नया रूप जिसकी वकालत 'आज़ाद' जैसे अख़बार करते हैं और जिसमें अरबी और फारसी शब्द भरे हुये हैं, सामने आरहा है। इसकी विचित्र ध्वनि-प्रणाली और मुसलमानी मुहावरे तथा शब्द-विन्यास बंगालियों के लिये बिलकुल विदेशी और अपरिचित हैं। प्राइमरी स्कूलों को अब 'मकतब' कहा जाता हैं और संभावना है कि सेकन्डरी स्कूलों का, जो अधिकतर हिन्दुओं के रुपये और श्रम से स्थापित हुये हैं, नामकरण 'मदरसा' होगा। हिन्दुओं को अब शीघ्र ही 'जनाब' रामचन्द्र और उनकी बेगम सीता की कहानियाँ पढ़नी पड़ेंगी।"

जहाँ-जहाँ मुसलमानों के हाथ में शक्ति है वहाँ-वहाँ उन्होंने भारतीय भाषाओं का अरबी और फ़ारसी-करण या तो कर लिया है या अब कर रहे हैं, और फारसी लिपि को भी या तो घुसेड़ लिया है या अब घुसेड़ रहे हैं। जहाँ जहाँ हिन्दुओं का बहुमत है वहाँ-वहाँ यही काम अपनी 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' द्वारा करने का ज़िम्मा कांग्रेस ने ले लिया है !

जो हिन्दुस्तानी वाले इस भ्रम में हैं कि हिन्दुस्तानी-वाद के पीछे सबसे

और चूँकि उर्दू को ज़ोर शोर से सरकारी प्रोत्साहन मिल रहा है, धीरे धीरे एक उर्दू—बँगला समस्या आकार धारण करती जा रही है। बंगाल की लीगी सरकार के 'सेकंडरी एजूकेशन बिल' का एक गुप्त उद्देश्य उर्दू का प्रचार और प्रसार है। बम्बई प्रान्त में मुसलमानों ने अभी से अपनी मातृ-भाषायें मराठी और गुजराती त्याग कर उर्दू को अपना लिया है, और उदारहृदया बम्बई सरकार ने उनके लिये पृथक उर्दू स्कूलों का प्रबन्ध कर दिया है। अभी हाल में जब बम्बई में एक मराठी विश्वविद्यालय खोलने की चर्चा चल रही थी, बम्बई में एक उर्दू कान्फ्रेन्स (जिसको गांधीजी ने भी आशीर्वाद दिया) बुलाई गई और उसमें यह माँग पेश की गई कि बम्बई-प्रान्त के मुसलमानों के लिये एक अलग उर्दू विश्वविद्यालय खोला जाय, क्योंकि 'मराठी के कारण मुसलमानों की संस्कृति खतरे में पड़ जायगी।' जब राष्ट्रवादी अँगरेज़ी का पूर्ण बहिष्कार कर देंगे तब देखेंगे बम्बई की असेम्बली कैसे अर्थात् किस भाषा में अपना काम करती है जिसमें वह सब सदस्यों की समझ में आजाय, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि वहाँ यही स्थिति रही, और यदि श्रीयुत खेर ने जो प्रधान-मंत्री और शिक्षा मंत्री होने के साथ साथ गांधी जी की हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के एक प्रमुख सदस्य हैं, बम्बई में गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' का प्रचार किया, तो उर्दू बम्बई-प्रान्त की डीफैक्टो शासन भाषा हो जायगी, और उसके नीचे मराठी और गुजराती की दुर्दशा होती चली जायगी। यह सर्व-विदित है कि मुसलमान वक्ता शुद्ध उर्दू के लिए अधिक बोधगम्यता का सिद्धान्त है, वे भी आँख खोलकर देख लें कि यह बोधगम्यता का नहीं, संस्कृति का सवाल है, नहीं तो बंगाली मुसलमान आज बँगला के अपने चिरपरिचित संस्कृतज शब्दों को निकाल कर उनके स्थान में अपरिचित विदेशी शब्द न भरता। 'हिन्दुस्तानी' को मुसलमानों से मंज़ूर कराने के लिये उसे अरबी और फारसी मथ कर बनाना पड़ेगा।

किसी दूसरी हिन्दुस्तानी में नहीं बोलते, और उत्तर में ही नहीं, प्रयत्न करके बंगाल और मद्रास में भी उर्दू में (गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी' या कांग्रेस के हिन्दू नेताओं की ५०-५० प्रतिशत वाली हिन्दुस्तानी में नहीं) भाषण करते हैं, चाहे वे प्रादेशिक भाषा क्यों न जानते हों। इससे मुसलमानों की मनोवृत्ति पर भरपूर प्रकाश पड़ता है। रहा सहा सन्देह आन्ध्र के मुसलमानों की इस माँग से दूर हो जाता है कि उनकी शिक्षा का माध्यम तेलगू के बजाय उर्दू कर दिया जाय।

क्या हम अहिन्दी प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारों से और गांधीजी के हिन्दुस्तानी-प्रचार के पीछे मतवालों से पूछ सकते हैं, कि यदि अहिन्दी प्रान्तों के मुसलमानों को राष्ट्र-भाषा के रूप में 'हिन्दुस्तानी' के बजाय हिन्दी, और राष्ट्र-लिपि के रूप में 'दोनों लिपि' के बजाय केवल देवनागरी सिखाई जाय, तो भी क्या उन्हें अपनी मातृ-भाषा और प्रान्त-भाषा को निरादृत करने, त्यागने या विकृत करने की अथवा उसे उसकी स्वाभाविक लिपि के बजाय किसी दूसरी लिपि में लिखने की कोई प्रेरणा होगी अथवा साधन ही लभ्य होंगे? उस हालत में भी क्या उन्हें सार्वदेशिक प्रकरण के सिवा दूसरे प्रकरण में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रयोग करने की इच्छा होगी? रही अहिन्दी हिन्दुओं की बात, सो वे तो अपनी मातृ-भाषाओं और लिपियों से प्रेम करते हैं। उनके द्वारा तो प्रान्तीय भाषाओं की हानि कभी हो ही नहीं सकती। इसके अतिरिक्त हिन्दी, और बंगला, आसामी, उड़िया, तेलगू, तामिल मराठी, गुजराती, आदि प्रान्तीय भाषाओं की संस्कृति, प्रवृत्ति और शब्दावली में इतना साम्य है कि उनका एक दूसरे पर प्रभाव एक दूसरे के लिये लाभदायक ही सिद्ध हो सकता है।

समस्या को भली भाँति समझ लेना चाहिये। हिन्दी और उर्दू एक भाषा की केवल दो शैलियाँ हों अथवा न हों, वे भाषा की दो सर्वथा भिन्न दिशायें अवश्य हैं। एक की दिशा भारत की ओर जाती है और दूसरी की

फारस और अरब की ओर, केवल शब्दों में ही नहीं बल्कि प्रत्येक महत्व-पूर्ण बात में—शब्दों के रूपों में, अलंकारों में, उपमाओं में, छन्दों में, व्याक-रण में, संस्कृति में और लिपि में। जब तक दोनों की दिशा एक न हो, तब तक उनका एक होना और गांधीजी की सरस्वती का प्रकट होना असंभव है। और बात यह है कि हिन्दी की दिशा या प्रवृत्ति वही है जो अन्य प्रान्तीय भाषाओं की। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा और उर्दू में संघर्ष का यही मूल कारण है। 'यह हिन्दी—उर्दू की समस्या' नहीं, भाषा के क्षेत्र में हमारी वही चिर-परिचित हिन्दू—मुसलिम समस्या है। अभी यह हिन्दी—उर्दू के संघर्ष के रूप में दिखाई देती है, शीघ्र ही वह उर्दू—बँगला संघर्ष, उर्दू—तेलगू संघर्ष, उर्दू—तामिल संघर्ष, उर्दू—मराठी संघर्ष, उर्दू—गुजराती संघर्ष, आदि के रूप में दिखाई पड़ने लगेगी। बम्बई में उर्दू—मराठी और उर्दू—गुजराती युद्ध अपनी मध्यम अवस्था में पहुँच चुका है, बँगाल में उर्दू और बँगला का युद्ध आरम्भ हो गया है और मद्रास में उर्दू—तेलगू और उर्दू—तामिल युद्ध आरंभ होने जा रहा है। गांधी जी ने बीमारी की जड़ तक न पहुँच कर बीमारी के एक चिन्हमात्र की चिकि-त्सा करनी चाही है, और उनका इलाज—५०-५० प्रतिशतवाली 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि'—बीमारी से भी अधिक भयंकर है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, उससे बीमारी और बढ़ेगी। गांधी जी का हिन्दुस्तानी-वाद उर्दू और विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के युद्ध में सभी प्रान्तीय भाषाओं के पतन और पददलित होने का कारण बनेगा। वह केवल हिन्दी की अखंडता, शुद्धता और अस्तित्व पर ही नहीं, वरन् सभी प्रान्तीय भाषाओं की अखंडता, शुद्धता और अस्तित्व पर कुठाराघात है। हिन्दुओं की शक्ति विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के बीच में, उनके पृथक पृथक विकास और साहित्य की अभि-वृद्धि करने में वैसे ही बँटी हुई थी, आज गांधी जी ने हिन्दी के क्षेत्र में जो फूट डाली है और जिस वाद को 'राष्ट्रीयता' का जामा पहनाया है, उसका

परिणाम यही होगा कि उर्दू इस वाद को अपनी ढाल और तलवार दोनों बनाकर पहले हिन्दी को और फिर एक एक करके प्रान्तीय भाषाओं को चौपट कर देगी। दूसरे शब्दों में, गांधी जी, कांग्रेस और अन्य हिन्दुस्तानी वालों ने अपने हिन्दुस्तानी-आन्दोलन द्वारा हिन्दी को जो क्षति पहुँचाई है और पहुँचा रहे हैं, वह केवल हिन्दी की नहीं, सब प्रान्तीय भाषाओं की क्षति है। आज सब भारतीय भाषाओं में से केवल हिन्दी वह भाषा है ही जो संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त करके संस्कृत की भाँति विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं को एक बंधन में बाँधने का एतिहासिक कर्त्तव्य पूरा करने में समर्थ है, वह उर्दू के प्रहारों से प्रान्तीय भाषाओं की रक्षा के लिये उनका बाहरी दुर्ग भी है। अहिन्दी जन इस दुर्ग को नष्ट करके स्वयं अपनी भाषाओं के विनाश का मार्ग खोलेंगे। अभी हाल की (अक्टूबर, १६४६) की ख़बर है कि मद्रास की कांग्रेसी सरकार ने मद्रास-प्रान्त के सब स्कूलों के लिये राष्ट्र-भाषा के रूप में 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' की शिक्षा का प्रबन्ध करना अनिवार्य करार दे दिया। कहना कठिन है यह 'हिन्दुस्तानी' कौनसी हिन्दुस्तानी है। यदि यह उत्तरी-भारत की बोलचाल की हिन्दुस्तानी, जिसे बोलचाल की हिन्दी कहना अधिक उचित होगा, है और मद्रास सरकार यह समझती है कि उससे राष्ट्र का काम चल सकता है और वह सार्वदेशिक भाषा के रूप में अँगरेज़ी को निकालने में समर्थ है तो वह भ्रम में है। अगर यह कोई साहित्यिक हिन्दुस्तानी है जिससे बच्चों को कहानियों के अतिरिक्त कोई और काम भी निकल सकता है, तो कहना कठिन है वह क्या है, क्योंकि यहाँ उत्तर में तो हमें हिन्दी और उर्दू के अतिरिक्त किसी साहित्यिक हिन्दुस्तानी का अथवा हिन्दी साहित्य या उर्दू साहित्य के अतिरिक्त किसी 'हिन्दुस्तानी' साहित्य का पता नहीं। उत्तर के स्कूलों में तो कोई 'हिन्दुस्तानी' नहीं, बरन् 'हिन्दी' और 'उर्दू' पढ़ाई जाती हैं। हमें किसी ऐसी साहित्यिक 'हिन्दुस्तानी' का (या उसके सिद्धान्तों का) भी पता नहीं जिसे पूरे देश ने

राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत कर लिया हो। यदि मद्रास-सरकार यह समझती है कि उत्तर की पर्वाह न करके वह अपनी अलग साहित्यिक हिन्दुस्तानी का और उसके साहित्य का निर्माण कर सकती है और उसे जीवित भी रख सकती है, तो फिर उसे घोर भ्रम हुआ है (कम से कम फिर उसे वह 'राष्ट्र-भाषा' कहकर तो न पुकारे)। जो कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि वह 'हिन्दी' नहीं है। शायद वह हिन्दी और उर्दू का एक वैसा ही मनमाना घोल है जैसा गांधीजी के पत्र 'हरिजन-सेवक' में काम में लाया जाता है, जिसके कोई सिद्धांत नहीं, कोई आदर्श नहीं और जो कुछ व्यक्तियों की ज़िद रखने के लिये तैयार किया गया है (इस घोल के विशेषज्ञ सब जगह, या सीखे सिखाये नहीं मिलते—ख़ास तौर से तैयार किये जाते हैं*)। और उर्दू लिपि तो साफ़ साफ़ रक्खी ही गई है। अतः यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि मद्रास की कांग्रेसी सरकार ने एक ऐसा कदम उठाया है जो तामिल और तेलगू का सत्यानाश करके रहेगा। ऊपर से तुर्रा यह है कि फिर भी इससे कोई समस्या हल नहीं होगी, क्योंकि स्थिति यह है कि मुसलमान प्रान्त फिर भी शुद्ध उर्दू के सिवा किसी भी दूसरी हिन्दुस्तानी को और उर्दू लिपि के सिवा किसी दूसरी लिपि को आश्रय देने को तैयार नहीं (सिन्ध का उदाहरण सामने है जहाँ लीगी सरकार ने अभी हाल में 'हिन्दुस्तानी' नाम धरकर उर्दू को शिक्षा का अनिवार्य विषय घोषित कर दिया, और चूँकि लिपि के मामले में धोखा देना संभव न था, इसलिये उस 'हिन्दुस्तानी' के लिये लिपि डंके की चोट

* दक्षिण भारत हिन्दी (?) प्रचार सभा की 'हिन्दुस्तानी' पुस्तकों की 'हिन्दुस्तानी का पता तो निश्चित रूप से लग गया है। उसके विधाता सभा के प्रधान-मंत्री श्री सत्यनारायण तथा कुछ अन्य दक्षिण-स्थित व्यक्ति हैं, और वह है उर्दू लिपि में शुद्ध उर्दू और देवनागरी में उर्दू जिसमें कहीं कहीं अकेले या कोष्ठकों में उर्दू पर्यायों के साथ हिन्दी के सरल शब्द धर दिये गये हों।

केवल उर्दू लिपि स्वीकृत की; गांधीजी, कांग्रेस और आचार्य कृपलानी चुप हैं)। बम्बई और अन्य अहिन्दी प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारें वही करेंगी जो मद्रास-सरकार ने किया है। ऐसी स्थिति में एक हिन्दी-प्रेमी और विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के प्रेमी का अहिन्दी भाषी जनता और जन-नायकों से यही निवेदन है, तनिक ठहरो और विचार करो; प्रचलित नारों और कुछ व्यक्तियों में, वे चाहे कितने ही महान क्यों न हों, अन्ध-विश्वास मत करो और अपने ही हाथों अपने रुपये और साधनों से वह न करो जो तुम्हारे मूल पर ही कुठाराघात करेगा, इस प्राचीन देश की हज़ारों वर्ष पुरानी संस्कृति पर भयंकर आघात करेगा और जिससे उस उद्देश्य का सफल होना तो दूर रहा जिसे लेकर तुम यह करना चाहते हो, उल्टे प्रतिक्रियावादियों और राष्ट्र-द्रोहियों की प्रतिगामी माँगों की पूर्ति हो जायगी। हम उत्तरवासी तो किसी प्रकार अपना काम चला लेते हैं क्योंकि हिन्दी और उर्दू फिर एक ही बोली के आधार पर खड़ी हैं, परन्तु उर्दू—बँगला, उर्दू—तेलगू, उर्दू—तामिल, उर्दू—मराठी जैसी समस्यायें तुम्हारी प्रगति के मार्ग में ऐसी रुकावटें बनकर खड़ी हो जायँगी जिनका कोई इलाज न होगा।

२

कांग्रेस और 'हिन्दुस्तानी'

यह स्पष्ट है कि विभिन्न प्रान्तीय कांग्रेसी सरकारें कांग्रेस के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव के कारण ही गांधीजी के हिन्दुस्तानी-कार्यक्रम को अपना रही हैं, अतः कांग्रेस की, हिन्दुस्तानी विषयक नीति के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक हो जाता है। कहना न होगा, राजनीति के क्षेत्र में कांग्रेस की अपीज़मेंट पालिसी पूर्णतः असफल रही है। उससे केवल साम्प्रदायिकता को और शह मिली है। और कितनी ही नई समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में अपीज़मेन्ट पालिसी—'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि'-वाद अपीज़मेन्ट के सिवा और कुछ नहीं—की भी वही गति होगी। उससे केवल समस्या और दुरूह होगी (पहले बतलाया जा चुका है) और देश की वास्तविक राष्ट्र-भाषा हिन्दी का घोर अहित होगा। मुसलमान, जिनके लिये ही यह सब बखेड़ा खड़ा किया जा रहा है, हिन्दुस्तानी-वाद से रत्ती भर प्रभावित नहीं। उनकी मातृ-भाषा चाहे हिन्दी हो, चाहे बँगला, तेलगू, तामिल, मराठी या गुजराती, उन्हें उर्दू छोड़कर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी से और उर्दू लिपि छोड़कर किसी दूसरी लिपि से कोई मतलब नहीं। वे 'दोनों लिपि' और गांधीजी के 'हरिजनसेवक' की हिन्दुस्तानी भी कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। 'हिन्दुस्तानी' का रहस्य उसी दिन खुल गया जिस दिन रेडियो हिन्दी-उर्दू सलाहकार कमेटी में अंजुमन-तरक्की-उर्दू के प्रतिनिधि ने घोषित किया कि उसकी और अंजुमन की राय है कि 'हिन्दुस्तानी' के प्रयोग में समय नष्ट न किया जाय। इस मामले में कांग्रेसी मुसलमान और 'नेशनलिस्ट' मुसलमान लीगी मुसलमानों के साथ हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि मौलाना आज़ाद ने आन्ध्र के मुसलमानों की प्रतिक्रियावादी माँग का समर्थन किया। जब सब से बड़े कांग्रेसी मुसलमान का यह हाल है तो दूसरे मुसलमानों का क्या कहना। एक दूसरा सबूत यह है कि यद्यपि हिन्दू कांग्रेसी नेता अपने भाषणों में निश्पक्षता, उदारहृदयता, 'एकता'-प्रियता और न जाने क्या क्या दिखाने को उर्दू शब्द जानबूझ कर भरते हैं, कांग्रेस के मुसलमान नेता सदैव शुद्ध उर्दू में बोलते हैं (लीगी मुसलमानों के मुकाबले में कांग्रेसी मुसलमानों का कोई विशेष महत्व नहीं, यह बात अलग है।) फलतः राष्ट्रीय प्रकरणों में या वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' चलती है या उर्दू। हिन्दी कहीं दिखाई नहीं देती। आज की अन्तर्कालीन सरकार को ही देख लीजिये। उसमें या उर्दू पर जान देनेवाले हैं या 'हिन्दुस्तानी' पर मरने वाले अर्थात् आधे उर्दू शब्द और देवनागरी के साथ साथ उर्दू लिपि का प्रचार करने वाले और चाहने

वाले। बेचारी हिन्दी को पूछनेवाला कोई नहीं है। इन सब बातों का परिणाम यह हो रहा है कि उर्दू, उर्दू शब्दों और उर्दू लिपि का प्रचार हो रहा है, हिन्दी कमज़ोर पड़ रही है और कमबख्त 'हिन्दुस्तानी' फिर भी राष्ट्र-भाषा नहीं होती। 'हिन्दुस्तानी' तो कुछ हुई नहीं, बस केवल हिन्दी का बहिष्कार हो गया। गांधी-वादी और कांग्रेस-वादी हिन्दू शायद पूछेंगे, यदि मुसलमान 'हिन्दुस्तानी' स्वीकार नहीं करते तो हम कैसे राष्ट्रीयता से च्युत हो जायँ? प्रथम तो यह समझ में नहीं आता कि 'हिन्दुस्तानी' 'राष्ट्रीय' किस प्रकार है? अपनी लिपि और शब्दों के द्वैतवाद (प्रत्यक्ष है) के कारण 'हिन्दुस्तानी' तो भाषा का साक्षात पाकिस्तान है जिसमें दो लिपियाँ इस कारण रक्खी जाती हैं कि एक हिन्दुओं की लिपि है और एक मुसलमानों की, और शब्दों के जोड़े इस कारण रक्खे जाते हैं कि संस्कृत हिन्दुओं की पवित्र भाषा है और अरबी मुसलमानों की (और फारसी?)। भला कहीं इस द्वैतवाद से 'एक राष्ट्र' की राष्ट्रीयता सध सकती है? द्वितीय, कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के पाकिस्तानी नारे के विरुद्ध लड़कर मुस्लिम लीग को अपनी 'अखंड हिन्दुस्तान' की राष्ट्रीयता स्वीकार करने पर तो मजबूर कर लिया (या ऐसा करने का दावा करती है) *परन्तु वह मुसलमानों को 'हिन्दुस्तानी' में बोलने और लिखने के लिये कैसे विवश करेगी, और मुस्लिम प्रान्तों के मुसलमानों को 'हिन्दुस्तानी' और देवनागरी कैसे सिखायगी? क्या कांग्रेस आज भी यह आशा करती है कि यदि कांग्रेसी हिन्दू इसी प्रकार 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर हिन्दी की हत्या करते रहेंगे, तो भविष्य में मुसलमान भी दिल पिघलाव-योग के वशीभूत होकर 'हिन्दुस्तानी' में बोलने लगेंगे?

जैसा पहले कहा जा चुका है, उर्दू की दिशा या प्रवृत्ति हिन्दी और अन्य सभी भारतीय भाषाओं की दिशा या प्रवृत्ति से मूलतः भिन्न है। ज़रूरत

*अब वह बात भी नहीं रही। आगे 'पुनश्च' देखिये।

उर्दू की दिशा बदलने की है, हिन्दी की दिशा बदलने की नहीं। अगर उर्दू अपनी दिशा बदलने को तैयार नहीं, तो उसका दंड हमें न दिया जाय— हमें अपनी दिशा में चलने दिया जाय। उर्दू वालों को उर्दू छोड़कर हिन्दी ग्रहण करने पर तैयार करना है, हमें हिन्दी छोड़कर आधी उर्दू, आधी विदेशी 'हिन्दुस्तानी' ग्रहण करने पर नहीं। हम पर 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' न लादी जायँ। हमारा कांग्रेस से करबद्ध निवेदन है कि वह शुद्ध साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीयता समझने की भूल न करे और अस्थायी लाभ, जो भी संदिग्ध है, की ख़ातिर राष्ट्रीयता को सदैव के लिये पंगु न करे। यदि मुसलमान अपनी पर-देश-भक्ति (extra-territorialism) नहीं छोड़ सकते, तो क्या कांग्रेस 'एकता' के नारे लगाकर हमें भी भारत और भारतीयता से कम प्रेम करना सिखायगी ? यदि अन्य देशों के अपने सहधर्मियों की भाँति (उदाहरणार्थ फारसी मुसलमान, जो फारसी में से अनावश्यक अरबी शब्द चुन चुन कर निकाल रहे हैं—यहाँ तक कि यदि कोई फारसी मुसलमान भूल से अपनी अर्जी में किसी बहिष्कृत अरबी शब्द का प्रयोग कर देता है तो सरकार उसकी अर्ज़ी अस्वीकृत कर देती है) भारतीय मुसलमान राष्ट्रीय दृष्टि-कोण नहीं अपना सकते, तो क्या कांग्रेस 'एकता' के नाम पर हमें भी अराष्ट्रीय दृष्टि-कोण अपनाने पर विवश करेगी ?

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कहती है और ठीक कहती है, स्वतन्त्रता और राजनीतिक एकता मुस्लिम लीग को और कंसेशन देने से नहीं हो सकती। हम कहते हैं, भाषा की एकता भी उर्दू वालों को और कंसेशन देने से नहीं हो सकती। यह यथेष्ट कंसेशन है कि उर्दूवालों को उर्दू और उर्दू लिपि सीखने पढ़ने दिया जाय, परन्तु राष्ट्र-भाषा हो 'हिन्दुस्तानी' एक 'और कंसेशन' है। यह यथेष्ट कंसेशन है कि उर्दू को हिन्दी न बनाया जाय, परन्तु "हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' बनाया जाय" एक 'और कंसेशन' है जो राजनीतिक 'और कंसेशनों' की भाँति निष्फल तो होगा ही, हिन्दी और हिन्द की असीम

हानि करेगा और 'एकता' फिर भी उतनी ही दूर रहेगी जितनी पहले थी।

साम्प्रदायिक समस्या पर दृष्टिपात करते हुए आचार्य कृपलानी ने मेरठ में अपने राष्ट्रपति के पद से दिये गये भाषण में कहा, "—हम जो कुछ भी करें उसमें हमें राष्ट्रीयता और जनतंत्र पर साम्प्रदायिक और जनतंत्र-विरोधी सिद्धान्तों को विजय नहीं पाने देना चाहिए।.........मेरा विश्वास है कि यदि हमने पृथक-निर्वाचन के अराष्ट्रीय और अजनतंत्रात्मक सिद्धान्त को मानने से साफ़ साफ़ इनकार कर दिया होता, तो हम अपनी वर्तमान मुसीबत से बहुत कुछ बच गये होते।..................." भविष्य के लिये चेतावनी देते हुए उन्होंने फिर कहा, "..................संभव है, तात्कालिक कठिनाई से बचने के लिए हम फिर ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार कर लें जो राष्ट्रीयता और जनतंत्र के मूल पर कुठाराघात करने वाले हों। ....मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में हमारे वयोवृद्ध नेता स्वयं सावधान रहेंगे और देश को भी सावधान रक्खेंगे कि कहीं वे दबाव या कहने-सुनने में आकर राष्ट्र-घाती, अ-जनतंत्रात्मक समझौते न कर बैठें।............" हम कांग्रेस के वयोवृद्ध नेताओं और सबसे वयोवृद्ध नेता महात्मा गांधी से प्रार्थना करते हैं कि वे हिन्दी-उर्दू समस्या को, जिसे सब एक साम्प्रदायिक समस्या मानने को तैयार होंगे, और अपने हिन्दुस्तानी वाद को राष्ट्रपति की इन उक्तियों की रोशनी में देखें। राष्ट्र-भाषा में एक स्वदेशी शब्द, जिसे ८० व्यक्ति समझते हों, के बजाय एक विदेशी शब्द, जिसे केवल २० व्यक्ति समझते हों, रखना कहाँ तक राष्ट्रीय है और कहाँ तक जनतंत्रात्मक है? और राष्ट्र-भाषा के निमित्त एक विदेशी, अवैज्ञानिक, अनुपयुक्त और अपूर्ण लिपि को जिसे अधिक से अधिक ३ करोड़ व्यक्ति जानते या मानते हों और जिसे त्यागना फ़ारस और तुर्की जैसे मुसलमान देशों ने ही अपनी उन्नति के लिए आवश्यक समझा हो, एक स्वदेशी, वैज्ञानिक, उपयुक्त और पूर्ण लिपि, जिसे कम से कम १४ करोड़ व्यक्ति मूल रूप में और लगभग १० करोड़ व्यक्ति और

कुछ परिवर्तित रूपों में जानते या मानते हों, के समान स्थान देना कहाँ तक राष्ट्रीय, जनतंत्रात्मक या विज्ञान-सम्मत ही है ? क्या राष्ट्र-भाषा के निमित्त दो लिपि के सिद्धान्त को मान कर केवल तात्कालिक कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से एक राष्ट्र घाती, अ-जनतंत्रात्मक समझौता नहीं किया जा रहा है, और क्या यह अव्यावहारिक होने के अतिरिक्त राष्ट्रीयता, जनतंत्र और एकता के मूल पर कुठाराघात नहीं करता और क्या इसे मानने से, यदि देश को ऐसी मुसीबतों से बचाना है जिनका अंत कभी न होगा, हमें साफ इन्कार न कर देना चाहिये ?

३

'हिन्दुस्तानी' का रहस्य

—भाषा-वेत्ताओं के मुख से—

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान श्रीचन्द्रबली पांडे अपने 'True Genesis of Hindusthani' शीर्षक लेख में लिखते हैं :—

"It is generally alleged that the question of high Hindi first sprang up from the establishment of Fort William College (1800) under the patronage of Dr. Gilchrist. But the policy as regards Hindi, Urdu and Hindustani followed by the Fort William College, as it has been explained by Gilchrist himself was that— "In the Hindustani, as in other tongues, we might enumerate a great diversity of styles, but for brevity's sake, I shall only notice three here, leaving their sub-divisions to be discussed along, with the history of the language which has been reserved for the second volume First, the High Court or Persani

style. Second, the middle or genuine Hindustani style; third, the vulgar or Hinduwee.

"In the more elevated poems of Sauda, Wulee and others and in the affected, pompous, pedantic language or literature and politics, the first is predominant and leans to Arabic and Persian agreeably to circumstances.

"The elegy of Miskeen, the satires of Sauda, Hindustani Tales and Articles of War in the Oriental Linguist, the speech of wellbred Hindustani Munshees and servants are the best specimens I can recollect of the middle style, while the third or Hinduwee is evident in Mr. Fostor's unaffected translations of the Regulations of Government, in all or greatest part of Hindustani Compositions written in the Nagri character, in the dialect of the lower order of servants and Hindus, as well as among the peasantry of Hindustan. The preference which I give to the middle style over the others, must appear in every page of my works, as it is in truth central regulator or tongue by which we perceive the ascending and descending scales on either side." (From Appendix to Gilchrist's Dictionary).

It must be noted here that the regulations of the Government of Fort William were translated into the genuine Hindi language and Nagari character commonly spoken and used by the Indian masses.

But the authorities of the Fort William College gave preference to the Munshee's Hindustani about which Sir C. E. Trevelyan (afterwards the Governor of the Madras Presidency) in 1834 remarks that:—

"The Arabian Hindustani, which has grown up at *Calcutta under the fostering patronage of Government*, and is spoken by the Munshees of the College of Fort William, and the Maulvees and students of the Mohamedan College, is quite a different language from that which prevails in any other part of India." (From the History of the Application of the Roman Alphabet, by M. Williams, Published by Longmans, London, 1859, page 29.)

And it is no wonder that in the middle of the 19th century Hindoostani becomes the synonym for Urdu. Sir Richard Temple (the Governor of Bombay, 1877-1880) observes that—

"The tongue of Moslems in India was most largely to be Persian, but since the middle of the century it has become Hindustani, formerly called Urdu, which is still the official language of the Courts in the districts round Lahore, Delhi, Agra, Lucknow. Elsewhere the official language of the Courts is the language of the region, that is to say, Bengali for Bengal, Oriya for Orissa, Hindi for Bihar and Benares, Maharatti for Nagpore and the Central Deccan to

Bombay, Gujrati for the Western Coast, Telegu for the Southern Deccan and the Eastern Coast, Kanarees for the South Western Coast and Tamil for the Southern Peninsula. Of these main languages, all save Hindustani and the Tamil are derived from Sanskrit." (From Progress of India, Japan and China in the Century, W. and R. Chambers, Ltd., London, 1902, p. 181).

And that is why the Concise Oxford Dictionary maintains: "Hindustani—Language of Mohammedan conquerors of Hindustan, Urdu."

प्रसिद्ध भाषा-वेत्ता डा० सुनीतिकुमार चटर्जी अपनी पुस्तक 'इन्डोएरियन ऐंड हिन्दी' (Indo-Aryan and Hindi) में लिखते हैं—

"बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों की तुर्क-विजयों के पश्चात् उत्तरी भारत (पूर्वी पंजाब से लेकर बंगाल तक) की प्रचलित भाषा के नामों में से हिन्दी सबसे प्राचीन और सरल नाम है, और मैं इसका प्रयोग इसी पुराने अर्थ और ध्वनि में करता हूँ और जनता में भी अभी तक इस नाम से यही भाव ग्रहण किया जाता है। 'हिन्दुस्तानी' बहुत बाद की और अधिक बोझीली उपज है—शुद्ध फ़ारसी शब्द के नाते अब यह शब्द मुसलमानी हिन्दी अर्थात् उर्दू, जिसमें फ़ारसी और अरबी शब्दों की भरमार रहती है और देशज हिन्दी तथा संस्कृत शब्द यथाशक्ति न्यून और बहिष्कृत रहते हैं, का पर्याय हो गया है। भारतीय भाषाओं के कुछ विद्यार्थियों और कांग्रेस तथा अन्य संस्थाओं के राजनीतिक तथा सामाजिक कार्य-कर्ताओं की ओर से इस फ़ारसी शब्द 'हिन्दुस्तानी' को अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करने का और उसे साहित्यिक हिन्दी (नागरी हिन्दी) और उर्दू दोनों की आधार-

भूत बोली के अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन कोशिशों के बावजूद लगभग सब अँगरेज़ और अन्य विदेशी लोग* अब भी 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' दोनों शब्दों को हिन्दी भाषा की एक ही शैली अर्थात् उस शैली का बोधक समझते हैं जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाय और जिसमें अरबी फारसी शब्दावली प्रयुक्त की जाय।"

कांग्रेस की हिन्दुस्तानी के विषय में, डा० चटर्जी उसी पुस्तक में आगे फिर लिखते हैं—

"अब कांग्रस हिन्दुस्तानी के ठेठ आधार अर्थात् खड़ी बोली, जिस पर साहित्यिक हिन्दी और उर्दू दोनों की नींव रक्खी हुई है, के आधार पर एक नई भाषा या साहित्यिक शैली गढ़ने का विचार इस कथित इरादे के साथ कर रही है कि विदेशी अरबी-फ़ारसी शब्दों, जिन पर मुसलमान नेता ज़ोर देते हैं, और देशज हिन्दी और संस्कृत शब्दों, जिन पर हिन्दुस्थानी-भाषी क्षेत्र के तथा शेष भारत के हिन्दू ज़ोर देते हैं, के बीच में एक उचित और न्याय्य सन्तुलन रक्खा जाय। परन्तु व्यवहार में यह फ़ारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी बन रही है जिसे गुजराती, बंगाली, महाराष्ट्री, उड़िया और दक्षिण के लोग नहीं समझ पाते (परन्तु फिर भी उनसे हिन्दुस्थानी के इस रूप को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने के लिये कहा जाता है)+ और जिसमें बिहार और

---

* उदाहरण के लिये बी० बी० सी०, मास्को रेडियो, अंकारा रेडियो और अन्य विदेशी रेडियो स्टेशनों की 'हिन्दुस्तानी' सुन लीजिये, जो शुद्ध उर्दू है—आल इंडिया रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' नामधारी अपेक्षाकृत पतली चाशनी वाली उर्दू भी नहीं।

+अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के गुजराती, महाराष्ट्री, बंगाली, आसामी, उड़िया और दक्षिण भारतीय सदस्य प्रायः यह शिकायत करते सुने जाते हैं कि हम पं० बालकृष्ण शर्मा और श्री टण्डनजी के हिन्दी भाषण तो काफी अच्छी तरह समझ लेते हैं परन्तु पं० नेहरू, मौलाना आज़ाद और आचार्य कृपलानी की 'हिन्दुस्तानी' ठीक ठीक हमारी समझ में नहीं आती।

संयुक्त-प्रान्त, राजपूताना, मध्य-भारत और मध्य-प्रान्त की जनता जो संस्कृतज शब्दावली की अभ्यस्त है, आराम और सुविधा का अनुभव नहीं करती। यह भाषा शायद संयुक्त-प्रान्त, बिहार, हिन्दी-भाषी मध्य-प्रान्त तथा पंजाब के पढ़े लिखे सिक्खों और हिन्दुओं की एक विशिष्ट संख्या को सुविधा-जनक जान पड़े।

"यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि पूर्वी संयुक्त-प्रान्त, बिहार, नैपाल, बंगाल, आसाम, उड़ीशा, आन्ध्र, तामिल नाद, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के लोग हिन्दी-हिन्दुस्थानी के प्रति जो आकर्षण अनुभव करते हैं वह मूलतः दो बातों पर निर्भर है—उसकी देवनागरी लिपि और उसकी संस्कृत-निष्ठ शब्दावली। हमें इस बड़ी सच्चाई को कभी नहीं भूलना चाहिये और न यह कभी भुलाई जा सकती है।"*

४

कैबीनेट मिशन की विधान-योजना और 'हिन्दुस्तानी'

यह भली भाँति स्पष्ट हो चुका है कि मुसलमान गांधी जी द्वारा प्रस्तावित 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' मानने को भी तैयार नहीं। पंजाब, सीमा-प्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान, इन मुस्लिम प्रान्तों के प्रकरण में इस बात

---

*कम-से-कम 'हिन्दुस्तानी' की रट अब क्यों जब भारत के वही भाग कांग्रेस की मुट्ठी में से निकल गये जिनसे अपनी 'राष्ट्र-भाषा' मनवाने के लिये घूस देने के विचार से कांग्रेस, विशेष रूप से कांग्रेस के हिन्दू नेता इतने वर्षों से वास्तविक राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सुन्नत करके 'हिन्दुस्तानी' बनाने में लगे हुये थे ?

अब तक कहा जाता था कि देश में उर्दू-भाषी प्रदेश भी हैं, राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' ऐसी हो जिसे फ्रांटियर के लोग भी समझ सकें; अब शायद यह कहा जाय कि स्वयं की अपेक्षा एक पड़ोसी राष्ट्र को अपनी राष्ट्र-भाषा समझाना ज़्यादा ज़रूरी है !

का दो-टूक महत्व है। इन प्रान्तों में ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' और देवनागरी का न कोई स्थान है और न कभी होगा। उर्दू, शुद्ध उर्दू, और उर्दू लिपि इस समय भी उनकी डी फैक्टो कामन भाषा और कामन लिपि हैं। कैबीनेट मिशन ने जो विधान-योजना प्रस्तुत की है, उसके अनुसार इन प्रान्तों पर सदैव मुस्लिम बहुमत वाली सरकारों का जो शायद लीगी ही होंगी, राज्य होगा। केन्द्रीय सरकार के पास इन प्रान्तों की सरकारों को अपने अपने प्रान्त के स्कूलों में वर्धा को 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' की शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिये या अपनी दोनों लिपियों सहित वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' को शिक्षा का एक अनिवार्य विषय करार देने के लिये मजबूर करने का कोई वैधानिक साधन न होगा। फिर ये प्रान्त एक ग्रूप (ग्रूप 'बी') बनायँगे, और यह निश्चित है कि उर्दू और उर्दू लिपि ग्रूप की कामन या राष्ट्र-भाषा और लिपि घोषित की जायँगी और उनका पढ़ना और सीखना ग्रूप के प्रत्येक निवासी के लिये अनिवार्य करार दिया जायगा। ऐसी परिस्थिति में सारे राष्ट्र को एक कामन राष्ट्र-भाषा के बन्धन में बाँधने का इसके सिवा कोई दूसरा उपाय न होगा कि ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' नहीं वरन् शुद्ध उर्दू, और उर्दू लिपि कांग्रेस प्रान्तों अर्थात् हिन्दुस्तान ग्रूप (ग्रूप 'ए') की भी कामन भाषा या राष्ट्र-भाषा और लिपि घोषित कर दी जायँ, और उनका पढ़ना और सीखना ग्रूप के प्रत्येक निवासी के लिये अनिवार्य करार दिया जाय। यदि आरंभ में कांग्रेस ने किसी उर्दू से कम फारसीमयी 'हिन्दुस्तानी' को ही ग्रूप 'ए' की कामन भाषा करार दिया, तो भी परिस्थितियाँ और आवश्यकतायें उसे शीघ्र ही उर्दू से अभिन्न बना देंगी, क्योंकि एक ओर तो 'हिन्दुस्तानी' के स्वरूप को निर्धारित करने वाले कोई नियम या सिद्धान्त नहीं हैं और प्रत्येक उर्दू शब्द उसमें लिया जा सकता है, और दूसरी ओर ग्रूप 'बी' की सरकार या सरकारें उर्दू के स्वरूप में कोई परिवर्तन न होने देंगी और उसमें कोई हिन्दी संस्कृत

शब्द न घुसने देंगी। और यदि आरंभ में कांग्रेस ने दोनो लिपियों को ही ग्रूप 'ए' की कामन और राष्ट्र-लिपि करार दिया, तो उर्दू लिपि अपने आप वास्तविक राष्ट्र-लिपि अर्थात् सारे राष्ट्र की लिपि तो हो ही गई, देवनागरी को थोड़े दिनों बाद बेकार बताकर छोड़ भी दिया जायगा। यदि उसे न भी छोड़ा गया (जिसकी कोई संभावना नहीं, क्योंकि बेकार और अनावश्यक चीज़ें कभी अधिक समय तक नहीं टिकतीं) तो हिन्दू यह सोच-सोच कर पुल-कायमान तो न होंगे कि ग्रूप 'बी' के हिन्दू-मुसलमानों को देवनागरी नहीं सीखनी पड़ती तो न सही, ग्रूप 'ए' के मुट्ठी भर मुसलमानों को तो उर्दू लिपि के साथ साथ देवनागरी सीखनी पड़ती है। फिर यदि ग्रूप 'ए' के निवासियों को यह विकल्प ही दिया गया कि जो चाहे वह उर्दू लिपि और जो चाहे वह देवनागरी सीखे, तो इससे या तो "एक कामन राष्ट्र-भाषा जो सब भारतीयों द्वारा सीखी हुई दो लिपियों में से किसी में लिखी जाय" का लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जायगा या ग्रूप 'ए' के हिन्दू अमल में उर्दू लिपि चुनने पर बाध्य होंगे या किये जायँगे और वही सारे राष्ट्र की डी फैक्टो कामन लिपि या राष्ट्र-लिपि होगी। यह भी स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में हिन्दी और उर्दू दोनों को ग्रूप 'ए' को राष्ट्र-भाषा घोषित करने से भी समस्या हल नहीं होगी, क्योंकि इसका अर्थ होगा उर्दू को ही वास्तविक राष्ट्र भाषा अर्थात् सारे राष्ट्र की भाषा बनाना, और चूँकि हिन्दी की कोई आवश्यकता न होगी, उसे शीघ्र ही एक बेकार का बोझ समझ कर हटा भी दिया जायगा। यदि उसे न भी हटाया गया, तो हिन्दू यह सोच-सोच कर आत्म-संतोष में विभोर तो न होंगे कि ग्रूप 'बी' के हिन्दू-मुसलमानों को हिन्दी नहीं सीखनी पड़ती तो न सही, ग्रूप 'ए' के मुट्ठी भर मुसलमानों को तो उर्दू के साथ साथ हिन्दी भी सीखनी पड़ती है। और यदि ग्रूप 'ए' के निवासियों को यह विकल्प ही दिया गया कि जो चाहे वह उर्दू सीखे और जो चाहे वह हिन्दी सीखे तो इससे या तो "सम्पूर्ण राष्ट्र की एक कामन राष्ट्र-भाषा

लिपि' (अथवा हिन्दी उर्दू दोनों) की बात बिलकुल नहीं पूछेंगे (और न उन्होंने पूछी), युक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त ऐसे हिन्दी-भाषी प्रान्तों में, जहाँ मुट्ठी भर, और वे भी हिन्दी भाषी, मुसलमान रहते हैं, हिन्दी को निकाल कर 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' (अथवा हिन्दी उर्दू दोनों) को सबके सिर पर लादने, और राज-भाषा, शिक्षा के माध्यम, आदि के पद पर प्रतिष्ठित करने से, और बम्बई ऐसे संस्कृत-निष्ठ भाषायें बोलने वाले प्रान्त में राष्ट्र-भाषा के रूप में ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' और उर्दू लिपि की अनिवार्य शिक्षा जारी करने से बाज़ न आई, वह ग्रुप 'बी' के (अर्थात् उन्हीं मुस्लिम प्रान्तों के) उर्दू को अपनी भाषा बनाने पर भी केवल १० प्रतिशत (१८७ में २०) मुसलमानों के कारण (जिनमें से अधिकांश हिन्दी और अन्य संस्कृत-निष्ठ भाषायें बोलते और समझते हैं और देवनागरी या उसके किसी रूप में लिखते हैं) ग्रुप 'ए' की (अर्थात् अपने अधीनस्थ हिन्दू प्रान्तों की) कामन भाषा हिन्दी के बजाय 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' (अथवा हिन्दी उर्दू दोनों) फिर घोषित कर सकती है—बस, केवल 'महात्मा' की उपाधि धारण करने वाले गांधी जी, 'तंग-ख़यालों' से दूर रहने वाले और अन्तरराष्ट्रीयता में विचरने वाले पं० नेहरू, सदा एकरस रहने वाले डा० राजेन्द्रप्रसाद, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, श्री आसफ़अली, डा० सैयदमहमूद और श्री रफीअहमद किदवई सरीखे कांग्रेसी और मौलाना मदनी जैसे 'नेशनलिस्ट' मुसलमान सलामत रहें। राज्य की बागडोर फिर सँभालने के ६ महीने के अन्दर अन्दर ही संयुक्त-प्रान्त की कांग्रेसी सरकार का 'हिन्दुस्तानी' को संयुक्त प्रान्त की देशज भाषा ('वर्नाक्युलर') घोषित करना, संयुक्त-प्रान्त और बिहार की कांग्रेसी सरकारों का 'हिन्दुस्तानी' को कालेजों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये क़दम उठाना और संयुक्त-प्रान्त की सरकार का 'हिन्दुस्तानी' के साहित्य की अभिवृद्धि के लिये ५० हज़ार रुपया स्वीकृत करना, आदि और मद्रास की कांग्रेसी

सरकार का अपने प्रान्त के सब स्कूलों में 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' की शिक्षा का प्रबन्ध अनिवार्य क़रार देना हवा का रुख़ बताने के लिये काफी हैं।

इतिहास साक्षी है कि एक बनावटी समझौते पर आधारित या आश्रित एकता कभी स्थायी नहीं होती। परन्तु "हिन्दुस्तानी और दोनों लिपि" तो एक ऐसा समझौता भी नहीं है जिसे दोनों विरोधी दलों ने मान लिया हो। यह तो एक दल का दूसरे के सामने आत्म-समर्पण है। मद्रास, बम्बई, आदि अहिन्दी प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारों द्वारा अपने अधीनस्थ स्कूलों में 'हिन्दु-स्तानी' और 'दोनों लिपि' की शिक्षा के प्रचलित किये जाने का परिणाम यही होना है कि उर्दू और उर्दू लिपि भारत की एकमात्र डी फैक्टो राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हो जायँगी। इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं। भाषा की समस्या को कैबीनेट मिशन की विधान-योजना की रोशनी में देखते हुये क्या कांग्रेस के लिये यह उचित नहीं है कि इसके पूर्व कि वह हिन्दू प्रान्तों पर, जो उसकी मुट्ठी में हैं, अपनी 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' (या हिन्दी उर्दू दोनों) लादे और इस प्रकार उनका समय, शक्ति और पैसा बरबाद करे, उनकी भाषा-समस्या को और जटिल बनाये और हिन्दुओं में फूट डाले और संघर्ष उत्पन्न करे—और यह सब उनमें रहनेवाले मुट्ठी भर (१८७ में २०) मुसलमानों (जिनमें से अधिकाश हिन्दी या अन्य संस्कृत-निष्ठ भाषायें बोलते और समझते हैं) के कारण, कम से कम वह अपनी 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' को राष्ट्र-भाषा के रूप में मुसलमान प्रान्तों से भी, कहने के लिये भी और अमल में भी, मनवा ले ? अगर वह ऐसा नहीं कर सकती या करने में असमर्थ है, तो न्याय और तर्क का तक़ाज़ा यह है कि ग्रूप 'ए' की कामन भाषा और लिपि हिन्दी और केवल देवनागरी हों और ग्रूप के प्रत्येक निवासी के लिये हिन्दी और देवनागरी का सीखना अनिवार्य हो। केन्द्रीय सरकार हिन्दी और उर्दू दोनों को राष्ट्र-भाषा स्वीकृत करे और दोनों को

समान पद दे। यह कोई नई बात न होगी। कैनाडा में पूर्वी कैनाडा, जहाँ फ्रेंच भाषी जनता का बहुमत है, की राष्ट्र-भाषा फ्रेंच है, और फ्रेंच-ज़ोन की धारा-सभा और सरकार की सारी कार्रवाई फ्रेंच में होती है, और पश्चिमी कैनाडा, जहाँ अँगरेज़ी भाषी जनता का बहुमत है, की राष्ट्र-भाषा अँगरेजी है और अँगरेज़ी-ज़ोन की धारा-सभा और सरकार की सारी कार्रवाई अँगरेज़ी में होती है। कैनाडा की केन्द्रीय सरकार अँगरेज़ी और फ्रेंच दोनों को राष्ट्र-भाषा मानती है और दोनों को समान पद देती है। इसी प्रकार स्वीटज़रलैंड में तीन राष्ट्र-भाषाएँ हैं और तीनों के अलग अलग ज़ोन हैं। भारत में ग्रूप 'ए' की कामन भाषा या राष्ट्र-भाषा हिन्दी होगी, ग्रूप 'बी' को उर्दू, और केन्द्र दोनों को राष्ट्र-भाषा मानेगा। यह भारत को राष्ट्र-भाषा समस्या का आदर्श नहीं, तो यथेष्ठ संतोषजनक और व्यावहारिक हल होगा। हिन्दी और उर्दू तो अँगरेज़ी और फ्रेंच (या जर्मन) की अपेक्षा फिर एक दूसरे के अधिक निकट हैं। ग्रूप 'सी' के बंगाल-प्रान्त की प्रान्त भाषा होगी बँगला और आसाम की असमी। यह ग्रूप बँगला को अपनी कामन भाषा या राष्ट्र-भाषा बना सकता है (और उस अवस्था में केन्द्र के लिये बँगला को भी राष्ट्र-भाषा स्वीकृत करना आवश्यक होगा), यद्यपि ज़्यादा अच्छा यह होगा कि ये प्रान्त हिन्दी और उर्दू को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर लें या हिन्दी या उर्दू बतौर राष्ट्र-भाषा के सीखना प्रत्येक की इच्छा पर छोड़ दें।

५

कांग्रेस से एक अपील

अन्त में हम कांग्रेस से अपील करते हैं कि उसके 'हिन्दुस्तानी' के विषय में चाहे जो विचार हों पर हमारी हिन्दी को बख्श दे। वह 'हिन्दुस्तानी' के जोश में आकर हिन्दी का अस्तित्व मिटाने की चेष्टा न करे। कांग्रेस ने बार बार यह घोषणा की है कि वह जनता के प्रत्येक भाग की भाषा और संस्कृति

की रक्षा और आदर करेगी। कांग्रेस अपनी इस घोषणा का पालन करे। कम से कम हिन्दी के अपने निजी प्रदेश में अर्थात् संयुक्त-प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त, इन हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी का अखण्ड राज्य रहना चाहिये और इनमें सारा काम-काज जैसे राज्य-व्यवहार, शिक्षा का काम और सार्वजनिक व्यवहार परंपरागत शुद्ध हिन्दी में होना चाहिये। कांग्रेस इन हिन्दी प्रान्तों पर अपनी 'हिन्दुस्तानी'—उसकी अन्तिम रूप-रेखा कांग्रेस चाहे जो भी निश्चित करे—प्रान्तीय भाषा के तौर पर न लादे। इन प्रान्तों की जनता ने विगत शताब्दियों में हिन्दी को रूप दिया है और उसकी वाणी हिन्दी साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुई है, इसलिये इन प्रान्तों में हिन्दी को छोड़कर प्रादेशिक भाषा के बतौर किसी दूसरी हिन्दुस्तानी का कोई अधिकार नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य प्रान्तों में परंपरागत प्रान्तीय भाषा को छोड़कर किसी दूसरी भाषा का प्रान्तीय प्रकरण में कोई स्थान नहीं। कांग्रेस की घोषणा का यही अर्थ निकलता है और इसी प्रकार हिन्दी, परंपरागत हिन्दी, के हितों की रक्षा हो सकती है। राष्ट्र को, यदि वह ऐसा करना ही चाहे तो, राष्ट्र-भाषा निर्माण करने का अधिकार हो सकता है परंतु उसे राष्ट्र के किसी भाग या राष्ट्र की जनता के किसी भाग पर उसकी निजी परंपरागत भाषा हटा कर उसके स्थान में राष्ट्र-भाषा लादने का कोई अधिकार नहीं। यदि राष्ट्र-भाषा को ऐसा और वैसा होना चाहिये, ऐसी और वैसी संस्कृति का प्रतीक होना चाहिये, तो खुशी से राष्ट्र उसे इच्छानुसार गढ़े, परन्तु, हमारी निजी भाषा हिन्दी और हमारी निजी संस्कृति के प्रतीक हिन्दी का भी तो अपने प्रदेश में पूर्ण अधिकार रहना चाहिये। हम कांग्रेस से अपील करते हैं कि वह हिन्दी को अपने घरमें से निकाल कर 'हिन्दुस्तानी' को बसाने का प्रयत्न करना छोड़ दे।

केन्द्र में भी (जैसे आल इन्डिया रेडियो, सरकारी फिल्म, केन्द्रीय सूचना विभाग, आदि) हिन्दी, परम्परागत शुद्ध हिन्दी, को कम से कम वह स्थान दिया जाय जो अन्य प्रान्तीय भाषाओं को दिया जाय। हम कांग्रेस से, जिसके

हाथ में आज केन्द्रीय सरकार की भी बागडोर है, अपील करते हैं कि वह हिन्दी के साथ कम से कम इतना न्याय करे। यदि उसे हिन्दुस्तानी-वाद में वास्तव में विश्वास है तो इसके पूर्व कि वह ऐसे प्रकरणों में हिन्दी के स्थान में 'हिन्दुस्तानी' धरे जहाँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है, जैसे आल इंडिया रेडियो में, और इसलिये जहाँ हिन्दी का भी एक प्रान्तीय भाषा के नाते ही स्वतन्त्र स्थान होना चाहिये, वह पहले अपनी 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' को वहाँ प्रतिष्ठित करे जहाँ केवल एक भाषा है और इसलिये जहाँ केवल राष्ट्र-भाषा को ही होना चाहिये, अर्थात् वह पहले, उदाहरण के लिये, सेना और रक्षा-विभाग की रोमन उर्दू और होम-विभाग तथा अन्य विभागों की राजभाषा उर्दू के स्थान में अपनी 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' को प्रतिष्ठित करे (यदि सेना में 'दोनों लिपि' की गुंजाइश नहीं, तो विदेशी रोमन लिपि के स्थान में दो 'राष्ट्र-लिपियों' में से अधिक प्रचलित लिपि अर्थात् देवनागरी प्रतिष्ठित करे)। जहाँ जहाँ अब तक हिन्दी थी वहाँ वहाँ हिन्दी को निकालकर अपनी 'हिन्दुस्तानी' धरने में कांग्रेस ने देर नहीं की; हमें यह भी तो मालूम हो कि जहाँ जहाँ अब तक उर्दू का अखण्ड राज्य रहा है और है वहाँ वहाँ उर्दू को निकालकर अपनी 'हिन्दुस्तानी' प्रतिष्ठित करने के लिये कांग्रेस कहाँ तक तैयार है, कहाँ तक समर्थ है और उसमें ऐसा करने का कहाँ तक साहस है। यह तो विचित्र प्रकार का न्याय होगा कि केन्द्र में प्रान्तीय भाषाओं का स्थान हो और 'हिन्दुस्तानी' का भी स्थान हो जैसे आल इन्डिया रेडियो में, और उर्दू का स्थान भी अक्षुण्ण रहे जैसे सेना और रक्षा-विभाग में (और संयुक्त प्रान्त, बिहार और मध्य-प्रान्त की अदालतों, पुलिस, दफ्तरों, आदि में भी), परन्तु हिन्दी कहीं दिखाई न दे।

पुनश्च

जिस बात का डर था, अन्त में वह होकर रही। पाकिस्तान बन गया।

जिस कमज़ोर और सीमित केन्द्र की कैबीनेट मिशन ने व्यवस्था की थी, अब वह भी नहीं रहा। कांग्रेस ने शेर की खाल उतार फेंकी और जनता से किये गये अपने वादों को भूल कर, बिना चीं-चपड़ किये, बिना हाथ-पैर मारे चुपचाप पाकिस्तान स्वीकार कर लिया। हमारा प्रिय आर्यावर्त्त जिसकी एकता का उच्च घोष वेदों ने किया था और जिसने अपनी सांस्कृतिक एकता को अब तक अखंड बनाये रक्खा था, आज टूक-टूक हो गया। हिन्दुओं के साथ, जिन्होंने भारत-माता की बेड़ियों को काटने के लिये और उसके शरीर को अक्षत रखने के लिये अपना ख़ून और पसीना बहाया था, कांग्रेस ने घोर विश्वासघात किया है। हिन्दुओं की वर्त्तमान दयनीय स्थिति का सबसे करुण पहलू यह है कि हिन्दुओं का ऐसा कोई नेता नहीं है जो मि० जिन्ना से टक्कर ले सके और हिन्दुओं की ऐसी कोई संस्था नहीं जो हिन्दुओं की की ओर से बोल और कर सके। पाकिस्तान मुसलमानों का हो गया, परन्तु हिन्दुस्तान अब भी हिन्दुओं का नहीं है। कांग्रेस नेताओं ने जिन्हें पग-पग पर हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करने, उनकी ओर से बोलने और सही करने के लिये बुलाया जा रहा है, जन्म भर मनसा, वाचा और कर्मणा यह सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है, और अब भी कर रहे हैं, कि वे हिन्दू नहीं हैं। गांधीजी जिन्होंने हिन्दुओं को मनचाहा नाच नचाया है और जो हिन्दुओं को वर्तमान दशा पर पहुँचाने के लिये सबसे अधिक ज़िम्मेदार हैं, हार गये हैं परन्तु अपनी हार मानने को तैयार नहीं। वे चाहते हैं कि उनके आत्मिक लाभ के लिये अब हिन्दुस्तान के हिन्दू जिन्ना साहब के दो राष्ट्र-वाद (टू नेशन थ्योरी) को अपने कर्मों से ग़लत सिद्ध करें, जिसका अर्थ केवल यह है कि यदि हिन्दुस्तान के मुसलमान हिन्दुस्तान में एक जगह (जो सम्भवतः पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल ही होगी) काफी संख्या में जाकर बस जायँ तो वे फिर उसे अपना घर बताकर हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान की सम्पत्ति और साधनों के दुबारा बँटवारे की माँग कर सकें। और कांग्रेसी

नेता जो शुद्ध अहिंसात्मक उपायों से ब्रटिश सत्ता को भारत छोड़ने पर मजबूर कर सकते हैं परन्तु उन्हीं उपायों से मुसलमानों को भारत में रहने पर मजबूर करने में 'हिंसा' समझते हैं, दो-चार आँसू ढरकाकर उस माँग को मान लें! (हिटलरशाही में दक्ष पाकिस्तानी सरकार भी तो उस माँग के पीछे होगी, और फिर 'आत्म-निर्णय' के कांग्रेसी सिद्धान्त को कैसे भुलाया जा सकेगा!) दूसरे शब्दों में, गांधी जी चाहते हैं कि हिन्दू अब भी आस्तीन के साँप को दूध पिलाते रहें और हिन्दुस्तान को उनके आध्यात्मिक प्रयोगों के लिये बलिदान का बकरा बने रहने दें। दूसरी ओर पं० नेहरू हैं, जिन्हें अपने नाम के पहले 'पंडित' (जिसका अर्थ है 'विद्वान्') लगने से इसलिये चिढ़ थी और है कि उस शब्द का संबन्ध हिन्दुओं से है, और जो अब चाहते हैं कि भारत का जो भाग हिन्दुओं के हिस्से पड़ा है, उसका भी नाम 'हिन्दुस्तान' (जो अभी कल तक सम्पूर्ण भारत के लिये आता रहा है) न रहे क्योंकि उसमें 'हिन्दू' शब्द वर्तमान है, और उसका नाम 'इन्डिया' रक्खा जाय। और गांधी जी उनकी पीठ थपथपा रहे हैं। कांग्रेस नेताओं का शब्द-जाल द्वारा अपनी हार, शर्म और झेंप को छिपाने का प्रयत्न करना और पुनर्मिलन आदि का सब्ज़ बाग़ देखना और दिखाना वास्तव में एक अनोखा दृश्य उपस्थित कर रहा है।

जो होना था सो हो गया। अब भविष्य का क्या हो? स्पष्ट है, हिन्दुस्तान एक हिन्दू राष्ट्र हो जिसका राज-धर्म हिन्दू-धर्म हो और जिसमें सब प्रमुख पदों पर हिन्दुओं और अमुस्लिमों की नियुक्ति हो। ऐसा कोई व्यक्ति जो स्पष्ट रूप से हिन्दू-धर्म न मानता हो और जो हिन्दू-संस्कृति में डूबा हुआ न हो, हिन्दुस्तान-सरकार का प्रधान नहीं हो सकता। सारा संसार नेहरू-सरकार को हिन्दू-सरकार बताता और समझता है, जब कि वास्तव में अर्थात् अमल में वह हिन्दू-सरकार नहीं है। ऐसी भ्रांति का कारण नहीं रहने या भविष्य में उत्पन्न होने दिया जा सकता। और मुसलमानों को,

जैसा कि मध्य-प्रांत के प्रधान-मंत्री ने कहा है, हिन्दुस्तान राष्ट्र की नागरिकता के अधिकार न दिये जायँ। पूरे भारत के मुसलमानों ने अपने आप को एक पृथक राष्ट्र बताते हुये एक पृथक वास-भूमि की माँग की है, और उन्हें अब यह मिल चुकी है और स्पष्टतः भारत का बँटवारा धर्म के आधार पर हुआ है, अतः इस्लाम धर्म के किसी अनुयायी को हिन्दुस्तान में नागरिकता के अधिकार नहीं मिल सकते। चित और पट दोनों मुसलमानों की नहीं हो सकतीं। गांधी जी के कहने पर पाकिस्तान जैसे स्थूल सत्य को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। 'अल्पसंख्यक' के किसी झूठे नाम पर पाकिस्तान के फिफ्थ कालम को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता। जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है, 'इन्डिया' पं० नेहरू की, जो मौलाना आज़ाद की साद्यानुसार स्वप्न भी अँगरेज़ी में देखते हैं, स्व-भाषा का शब्द होगा, परन्तु ९९·९ प्रतिशत भारतीयों की मातृ-भाषा का शब्द नहीं है। पं० नेहरू की सनक पूरी करने के लिये इतिहास नहीं बदला जा सकता। नाम में केवल एक परिवर्तन हो सकता है और अवश्य होना चाहिये। वह यह कि फारसी 'स्तान' बदल कर 'स्थान' अर्थात् 'हिन्दुस्तान' अब 'हिन्दुस्थान' कर दिया जाय।

'हिन्दुस्तानी' की टाँय-टाँय फिस

इन बातों को छोड़कर अब मूल विषय पर आइये। हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा क्या हो? स्पष्ट है, हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा हिन्दी हो। 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' के मुक़ाबले में हिन्दी और देवनागरी का पक्ष शाश्वत तर्कों और सिद्धान्तों पर आधारित है और उसका राजनीतिक लौट-पौट से कोई लगाव नहीं रहा है, परन्तु अब तो हिन्दुस्तानी-वाद की कोई जड़ ही नहीं रह गई। जिन प्रदेशों और जिन लोगों को फाँसने के लिये कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी-वाद अपनाया था अब वे ही अलग हो गये। कांग्रेस ने ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' का बखेड़ा मुसलमानों को राष्ट्र-

भाषा के मामले पर राज़ी करने के लिये खड़ा किया था। अब केवल हिन्दू भारत का सवाल है जो सदा से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और देवनागरी को राष्ट्र लिपि मानता आ रहा है क्योंकि उसके लिये यही भाषा और लिपि सबसे अधिक सुलभ, सरल और उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त, यह निश्चित है कि पाकिस्तान उर्दू को अपनी राष्ट्र-भाषा बनायगा। इतना ही नहीं, पाकिस्तान से हिन्दी और देवनागरी का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जायगा। इन दोनों बातों का सिन्ध में श्रीगणेश हो चुका है। सिन्ध की अपनी अलग भाषा है, परन्तु सिन्ध की पाकिस्तानी सरकार ने उर्दू को सिन्ध की राज-भाषा और कचहरियों को भाषा घोषित कर दिया है, और सिन्ध के शिक्षा-मंत्री पीर इलाही बख्श ने बताया है कि कराची विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम उर्दू होगी, और उर्दू भाषा का विषय सब के लिए प्राइमरी स्टेज से ही अनिवार्य होगा। सिन्ध-सरकार ने हिन्दी और देवनागरी पर भी खुल्लम-खुल्ला प्रहार करना आरंभ कर दिया है, और हिन्दुओं की सब शिक्षा संस्थाओं की स्वतंन्त्रता अपहरण करने या उन्हें बिलकुल मिटा डालने का आयोजन किया है। जो भी शिक्षा-संस्था, चाहे वह हिन्दुओं की निजी संस्था ही क्यों न हो, कराची विश्व-विद्यालय की अधीनता स्वीकार नहीं करेगी, उसे नहीं रहने दिया जायगा। प्रश्न उठता है कि क्या कांग्रेस अब भी इस कमबख्त 'हिन्दुस्तानी' और 'दोनों लिपि' का रगड़ा हिन्दुस्थान पर लादेगी? ताली दोनों हाथों से बजती है। क्या यह बात क्षण भर के लिये भी सहन की जा सकती है कि उर्दू तो पाकिस्तान में राष्ट्र-भाषा, राज-भाषा, शिक्षा का माध्यम, रेडियो का भाषा, आदि के बतौर अखंड राज्य करे परन्तु हिन्दुस्थान में हिन्दी की सुन्नत करके 'हिन्दुस्तानी' को प्रकट किया जाय, और हिन्दी कहीं की न रहे? जब उर्दू ऐसी ही रही, तो हिन्दी को मिटाने से क्या होगा? जब 'उर्दू' नाम वर्तमान रहा, तो 'हिन्दी' नाम मिटाने से क्या होगा?" ऊपर कैबीनेट-मिशन की विधान-

योजना की रोशनी में जो कुछ कहा जा चुका है, उसके बाद इसके सिवा कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं कि चूँकि अब हिन्दुस्थान और पाकिस्तान का कामन केन्द्र भी नहीं रहा, अब हिन्दी और उर्दू दोनों को केन्द्र की भाषा स्वीकृत करने का भी प्रश्न नहीं रहा। अब हिन्दी, और केवल हिन्दी, को हिन्दुस्थान की केन्द्रीय भाषा, राष्ट्र-भाषा, शिक्षा का प्रमुख माध्यम और रेडियो की प्रमुख भाषा, आदि होना चाहिये, और हिन्दी भाषा का विषय हिन्दुस्थान भर के शिक्षाक्रम में सबके लिये उसी प्रकार अनिवार्य होना चाहिये जिस प्रकार आज अँगरेज़ी का है। हिन्दी प्रान्तों में भी अब हिन्दी और केवल और अकेली हिन्दी राज-भाषा, कचहरियों की भाषा और शिक्षा का माध्यम हो सकती है, और हिन्दी भाषा का विषय प्राइमरी स्टेज से सबके लिये अनिवार्य होना चाहिये। इसी प्रकार हिन्दी अपने अपने प्रान्तों में अखंड राज्य करने वाली प्रान्तीय भाषाओं की भाँति फल-फूल और अबाध रूप से उन्नति कर सकती है और इसी प्रकार हिन्दी प्रान्तों में भाषा के आधार पर निर्मित अन्य प्रान्तों की भाँति भाषा की एकता स्थापित की जा सकती है। उर्दू वैकल्पिक विषय रह सकती है और वह भी तभी जब पाकिस्तान में हिन्दी को यही स्थान दिया जाय। हिन्दुस्थान में उर्दू को उससे ऊँचा पद नहीं दिया जा सकता जो पाकिस्तान में हिन्दी को दिया गया है या भविष्य में दिया जाय। गांधी जी के उदारता-वाद के लिये जो हिन्दुओं और हिन्दी को इस गिरी हुई दशा पर पहुँचाने के लिये ज़िम्मेदार है, अब बिलकुल गुंजाइश नहीं। मुसलमानों की हम बहुत खुशामद-चिरौरी कर चुके। हिन्दुस्थान या हिन्दी प्रान्तों पर दो-दो राज-भाषाओं और राज-लिपियों का फिजूल ख़र्च और झमेला नहीं लादा जा सकता। हिन्दू बालकों पर एक विदेशियत में रँगी हुई भाषा और एक व्यर्थ लिपि का बोझ नहीं डाला जा सकता। हिन्दुस्थान की विधान-परिषद का कर्त्तव्य है कि वह विधान में हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के पद

पर विधिवत् प्रतिष्ठित करे। संभव है, गांधोजी का संकेत पाकर या अपनी ज़िद रखने के लिये अथवा आत्म-सम्मान की झूठी भावना से प्रेरित होकर कुछ कांग्रेसी नेता अब भी अपनी ५०-५० प्रतिशत वाली 'हिन्दुस्तानी' (पं० नेहरू के सत्तोपार्थ सब हिन्दूपना निकाल डालने के लिये इसका नाम 'इंडिश' रख कर ?) और 'दोनों लिपि' हिन्दुस्थान के गले मढ़ने का प्रयत्न करें, और 'पुनर्मिलन की संभावना' (यदि सत्य हो भी जाय तो उसका भाषा की समस्या पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?), 'अल्पसंख्यकों के साथ न्याय' (वे 'अल्पसंख्यक' कौन हैं ?), 'जनता की भाषा' (वह क्या है ?), आदि, आदि जैसे सारहीन और खोखले तर्कों को उपस्थित करें, परंतु विधान-परिषद के हिन्दू सदस्यों को जो वहाँ हिन्दुओं की वोटों से पहुँचे हैं और जिन्होंने अपने आपको हिन्दू समझना नहीं छोड़ दिया है, और अधिक मूर्ख बनने से साफ इन्कार कर देना चाहिये। हिन्दुस्थान की विधान-परिषद संसार को दिखा दे कि भरतवंशी अब भी अपनी जन्म-भूमि और पुण्य भूमि में बसते हैं और अपनी पुरानी, प्रिय भारती को भूले नहीं हैं।

१६ जून, १९४७ रविशंकर शुक्ल